शान्तिनिकेतन

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

शान्तिनिकेतन

अनुवादक
डॉ० जगदीश प्रसाद शर्म्मा

भारती एसोसिएशन पब्लिकेशन्स
गाज़ियाबाद—उत्तर प्रदेश

भारती एसोसिएशन पब्लिकेशन्स, गाज़ियाबाद, के लिए
श्रीमती रीता चौधरी द्वारा प्रकाशित तथा
श्री गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस,
दिल्ली में मुद्रित।

प्रथम संस्करण : फरवरी, १९५८
मूल्य : छः रुपये

आवरण : सालवी आर्ट सर्विस
जिल्द : श्री अमीर खाँ

प्राक्कथन

विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर का परिचय कराना सूर्य को दीपक दिखाना-मात्र है। फिर भी जिनके सूर्य, तारा आदि हैं, उनके सामने दीपक लेकर जाते हैं और वह भी मुस्कराकर उसे स्वीकार करते हैं, क्योंकि उसमें श्रद्धा की भावना है—उसी को लेकर मैं यह लिख रहा हूँ।

हिन्दी-भाषा में उनके अनेक ग्रन्थ अनूदित हुए, किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ का अभी तक उल्था नहीं हुआ था। यद्यपि मेरी यह अनधिकार-चेष्टा है, फिर भी स्वान्तःसुखाय इस प्रयास में संलग्न हुआ।

कवि सच्चे मानी में कवि थे। वे पारदर्शी थे, ऋषि थे, क्रान्तदर्शी थे। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। जब कवि को उत्तीर्थ विश्वविद्यालय (Oxford University) ने डी० लिट्० की उपाधि से विभूषित किया तो मान-पत्र में इस प्रकार लिखा है—

"You see in him a great scholar, a great artist, both in verse and prose; one who has written poetry, romance, satire, history; who has left scarcely any field of Literature untouched and has touched nothing that he has not adorned. How rarely has richness of imagination been combined with such elegance of style. How astonishing is the range of his versatile genius, wisdom and laughter, terror and delight, the power of stirring our deepest emotions. And yet we are conscious of his essential humanity, of a man who thinks nothing beneath his notice, if only it is concerned with mankind. You see in him a musician

who seems to obey no rules and yet has invented a thousand new melodies, a distinguished philosopher deeply versed in natural philosophy, in ethics and in theology and who has at last achieved that complete serenity of mind sought by how many and won by how few......a philosopher proved both in work and deed."

"यह एक उच्च कोटि के विद्वान् हैं। गद्य तथा पद्य दोनों के महान् कलाकार हैं। इन्होंने कविता, वीर-गाथा, व्यंग, इतिहास, सभी विषयों पर लिखा। कदाचित् ही साहित्य का कोई अंग इनकी लेखनी से अछूता रहा हो और जहाँ उसका प्रवाह चला वह अंग विभूषित हुए बिना नहीं रहा। कितनी दुर्लभ है इतनी कल्पना की विपुलता के साथ शैली की रोचकता! कितनी आश्चर्यमयी है उनकी बहुमुखी प्रतिभा की पहुँच, ज्ञान-गरिमा, हास्य-रस, भयानक तथा सुखद हमारी गम्भीरतम भावनाओं को जागृत करने की शक्ति! यदि मानव-जाति का उद्धार होता हो तो जिसे कोई कर्म हेय नहीं लगता, ऐसा उनका मानवी प्रेम हमारे मानस-पटल पर सदा सम्मुख रहता है। यह एक गायक हैं जो किसी नियम के बन्धन से परे प्रतीत होते हैं और फिर भी जिन्होंने सहस्रों रागिनियों का आविष्कार किया। यह एक प्रमुख दार्शनिक हैं जिन्होंने तत्त्वों का, नीति का तथा ईश्वरवाद का गहन अध्ययन किया और शेष में मन की उस गम्भीरता के तल को प्राप्त किया, जिसके लिए कितने तो प्रयास करते हैं और कितने थोड़े प्राप्त करने में सफल होते हैं। यह एक तत्त्व-ज्ञानी हैं जिन्होंने वाचा, कर्मणा सिद्धि-लाभ किया है।"

श्री सी० वी० रमन ने कहा है, "यदि साहित्य-विषयक नोबल पुरस्कार प्रत्येक बीस वर्ष में एक बार दिया जाता, या प्रत्येक शताब्दी में भी एक बार, तो भी निश्चय ही रवीन्द्रनाथ को वह अवश्य मिलता।"

उनकी जीवन की धुन थी कि "मानव-मात्र से प्रेम करके अपने को उसमें मिला दो।" अन्तर्दृष्टि और कल्पना की शक्ति से वह जहाँ

चाहते हैं विचरण करते हैं और अपने पाठकों को भी वहीं पहुँचा देते हैं।

इनके दार्शनिक तथा तत्त्वज्ञानी होने की छाप उनकी लगभग सभी कृतियों में मिलेगी—'साधना' और 'गीतांजलि' में विशेष रूप में। इन्हीं दो कृतियों से हिन्दी-भाषी अधिक परिचित हैं।

मानवत्व को देवत्व का रूप देने की कितनी उनकी आकांक्षा थी, वह उनके इसी ऊपर दिये हुए मान-पत्र के उत्तर में झलक रही है। मान-पत्र लातिन (Latin) में था तथा उत्तर संस्कृत में। उन्होंने मानवता के उद्धार के विषय में इस प्रकार कहा—

"अस्मिन् हि व्यतिकरे कस्यापि भुवन व्यापिनः सम्बन्धस्य बीज समुद्गमोक्तिर्नाम कदाचित् कविजनोचितेव प्रतीयेत। तथापि तु संयम्यते कालस्तज्जयन्नपि निरन्तरम्। किंच ये नाम वयमतीत्याप्येनं जीवामः प्रतीमश्च यदार्य धर्मश्चरमार्थ सम्पत्तये वर्धेतैव नित्यमिति तैरस्माभिः सेयं प्रतीतिरवश्यं प्रत्यग्रीकरणीया।"

"दुःख की प्रबलता तथा नीति के ह्रास के समय जब देशदेशान्तर-व्यापी विनाश का प्रवाह पाशविक भावनाओं को लेकर भूत-विद्या से प्रभावित होकर चल पड़ा हो, तो भुवनव्यापी मानवोन्नति का सम्वाद देना केवल एक काव्योक्ति है। किन्तु काल-प्रवाह कितना भी उद्यत-विनाश हो, क्षणिक ही है, और हमें—जो उससे अतीत भी जीवित रहते हैं और महाकाल के सत्य में वास करते हैं—अपने को धर्म की चरम अर्थ सम्पत्ति की ओर सभ्यता को ले जाना ही होगा," मानवोन्नति को चरम लक्ष्य मानकर ही वह उपनिषदों के प्रमुख वाक्यों की आलोचना किया करते थे। अनेकता में ऐक्य, साम्य और सामंजस्य की भावना उनमें गहरी पैठ चुकी थी। 'Creative Unity' के Introduction के अन्त में उन्होंने अपना भाव स्पष्टतया व्यक्त किया है—

"To give perfect expression to the one, the infinite through the harmony of the many, to the one, the love

through the sacrifice of the self, is the object alike of one individual life and our society."

'अद्वैत को, अनन्त को बहु के—अनेक के सामञ्जस्य द्वारा, आत्म-त्याग द्वारा अद्वैत को, आनन्द को, प्रेम को व्यक्त करना व्यक्तिगत जीवन तथा सामूहिक या सामाजिक जीवन का ध्येय है।'

दर्शन में उनका कोई नया मत नहीं था। हमारे प्राचीन धार्मिक और दार्शनिक शिक्षकों के ही वह अनुयायी थे। वह एक सच्चे साधक थे, किन्तु वैराग्य-साधन द्वारा ही हमारी मुक्ति होगी यह उनकी धारणा नहीं थी। "वैराग्य साधने मुक्ति से आभार नय।" जो लोग संसार में रहते हुए साधन के कठिन, किन्तु अधिक परिपूर्ण मार्ग द्वारा इस लक्ष्य की प्राप्ति में निरत हैं, वे भी हमारे सम्मान के उतने ही अधिकारी हैं।

वह कहते थे, "हमें ऐसा आधार ढूँढना है जो विश्व-व्यापी और सनातन हो। उन वस्तुओं की खोज करनी है जिनके गुण अक्षय और अनन्त हों। हम नूतन आधार का निर्माण नहीं कर सकते किन्तु पुरानी नींव पर नवीन प्रासाद अवश्य बना सकते हैं।" अपने धार्मिक विचारों के विषय में चीन में एक व्याख्यान देते हुए उन्होंने कहा है, "मेरे धर्म का निर्णय किसी विशेष मत की मूक स्वीकृति द्वारा अथवा जन्म परिस्थिति के कारण नहीं हुआ। स्वाधीनता के वायुमण्डल में मेरी बुद्धि का विकास हुआ।" फिर उन्होंने कहा, "आध्यात्मिक विश्वास की सत्यता का आधार अन्तर्दृष्टि है, तर्क नहीं। मेरा धर्म कवि का धर्म है। जिस पथ से मुझे संगीत की प्रेरणा मिलती है, उस अदृष्ट और अनजान पथ से मेरे धर्म का उद्बोधन भी मेरे पास पहुँचता है। मैंने काव्य-प्रतिभा को हृदय-देश के गम्भीर भावों को प्रकट करने का साधन बना लिया है। वह वस्तु, जो केवल जानकारी देती है, नाम द्वारा बताई जा सकती है; किन्तु जो वस्तु हमें आनन्द देती है, वह परमाणु या कण के संग्रह की किसी घटना-मात्र द्वारा नहीं समझाई जा सकती। भारत का वैष्णव धर्म केवल प्रतीकात्मक है। उसमें परमात्मा को परम प्रेमी माना है।

भगवान् मुरलीधर हैं, उनकी मुरली की प्रत्येक लय से सौन्दर्य की विविध तानें उठती हैं, जिससे मनुष्य और प्रकृति परिपूर्ण है। वह संगीत हमें निमन्त्रण का संवाद सुनाता है, वह हमें सदैव इस बात के लिए उत्साहित करता है कि हम स्वार्थपरता की संकीर्णता अथवा विजनता से निकलकर प्रेम और सत्य के विस्तृत राज्य में विचरें। आनन्द ही सत्य को जाँचने की एकमात्र कसौटी है। उसके संगीत की ध्वनि से हम सत्य का अनुभव करते हैं। हमारी आत्मा में जो तथ्य विराजमान है, उसके अभिनन्दन का जो आवाहन करता है उसके द्वारा हम सत्य का अनुभव करते हैं। यही सत्य सब धर्मों का सच्चा आधार है, न कि कोई निर्दिष्ट मत-मतान्तर।"

ईथर के तरंगित होने से प्रकाश नहीं मिलता, हमारे पास पहुँचाने के लिए प्रभात किसी वैज्ञानिक परिचय की बाट नहीं जोहता। इसी प्रकार प्रेम अथवा साधुता की पवित्र सत्यता के स्पर्श से ही हम आप-ही-आप अन्तःकरण में अनन्त तत्त्व का अनुभव करने लग जाते हैं। किसी धर्म-पंडित की उपेक्षा नहीं रह जाती। ऐसी स्वतन्त्र विचारधारा थी उनकी धर्म के विषय में।

वह कहते हैं, 'प्रेम में ही चरम आनन्द की प्राप्ति है, क्योंकि वही चरम सत्य है।'

उन्होंने 'साधना' नामक पुस्तक के Preface में लिखा है कि वह एक ऐसे परिवार में पले हैं जहाँ उपनिषदों का पाठ नित्य उपासना का विषय रहा है और उनके सामने उनके पूज्य पिता की मिसाल ईश्वर-चिन्तन-मग्न-रूप में सदा सामने रही है। उनका मत था कि उपनिषदों की शिक्षा चिर-नवीन रही है और परम्परागत महापुरुषों की जीवनी मेंउसकी अनन्त व्याख्या नवीन रूप लेकर होती रहेगी। वह समझते थे, उनकी शिक्षा में असीम प्रसार-शक्ति है और इसीलिए उन्होंने कहा है कि उन्होंने इसका अपने जीवन में तथा अपने उपदेशों में प्रयोग किया है।

प्रस्तुत पुस्तक की ओर उन्होंने संकेत किया है कि साधना की

विचारधारा उनके बंगला प्रवचनों से, जो वह शान्ति निकेतन में अपने शिक्षार्थी-समूह के सामने दिया करते थे, उद्धृत है।

मैंने ऐसी सारगर्भित पुस्तक का अनुवाद करने का दुस्साहस जो किया है वह केवल हिन्दी-भाषियों को उनके दार्शनिक विचारों से परिचित कराने के लिए। मैं सोचता हूँ कि आज हम सब ऐसे युग में जीवन व्यतीत कर रहे हैं जिसमें उपनिषदों की 'एकमेवाद्वितीयम्' वाणी भूमण्डल में गूँज उठने की आवश्यकता है। संसार के सभी महापुरुष, चाहे वे राजनीतिक क्षेत्र में काम करते हों या सामाजिक क्षेत्र में, चाहे भौतिक विद्या-विशारद हों, चाहे दार्शनिक, विविधता में सामञ्जस्य आने की ओर आवाज़ उठा रहे हैं।

अनुवाद का कार्य एक अति कठिन कार्य है—और वह भी जब प्रवचन या भाषण हों। भाव की रक्षा प्रमुख है, फिर प्रवचन की ताल न टूटे और अन्त में शब्दों का जोर भी बना रहे। भाग्यवश बंगला और हिन्दी में साम्य अधिक है और प्रायः उन सज्जनों के लिए, जिनको संस्कृत का भी ज्ञान है, बंगला समझने में सुविधा है।

कवि के भाषा पर अधिकार के विषय में मुझे कुछ कहना नहीं है। केवल एक बात जो मुझे भाती है वह यह है कि जो अरबी या फारसी के शब्द बंगला में प्रचलित हैं, उन्हें कठिन संस्कृत के धाराप्रवाह के बीच भी वह प्रयोग किये बिना नहीं रहे। प्रवचन की धारा नहीं टूटने दी। यह अधिकार की महानता है। मैं अपने हिन्दी के साहित्यकारों का ध्यान इस ओर आकर्षित करना चाहता हूँ कि भाषा की अभिवृद्धि और उत्कर्ष के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि संकीर्णता छोड़कर जो शब्द भी जनता ने अपना लिये हैं उनका निधड़क प्रयोग किया जाय। वे भाषा के भूषण बन जायँगे, जैसे कि कवि की भाषा में तफ़ात, ताक़ीद, तहबील, राजी-खुशी, मुश्किल अपनी-अपनी जगह शोभा दे रहे हैं।

मैंने इसी प्रकार का प्रयास किया है, किन्तु मुझे अपनी लेखनी,

भाषा और बुद्धि की परिमितता का बोध है और मैं कवि के शब्द-लालित्य, कौशल और सुरम्यता को सामने लाकर रखने में असमर्थ ही रहा। फिर भी टूटी-फूटी भाषा की प्रार्थना भगवान् को तो स्वीकृत होती है, इसी कल्पना से प्रोत्साहित होकर जनता-जनार्दन के सम्मुख इसे अर्पण कर रहा हूँ।

दो शब्द उन सज्जनों के अनुग्रह की स्वीकृति के बिना कहे नहीं रह सकता, जिनका प्रोत्साहन और सहयोग इस कार्य के करने में मुझे अबाधित रूप से मिला। सर्वप्रथम मैं श्री रथीन्द्रनाथ ठाकुर का, जो विश्व-कवि के सुपुत्र हैं, पूर्णरूपेण आभारी हूँ, जिनके परामर्श और प्रोत्साहन से मैंने इस पुस्तक के उल्था करने का साहस किया। उन्होंने अस्वस्थ होते हुए भी सहर्ष अपना बहुमूल्य समय देकर मुझे जगह-जगह अपने पूज्य पिता के निगूढ़ रहस्यमय शब्दों को समझाकर जनता की सेवा की।

फिर मैं आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी का भी आभारी हूँ, जो बँगला तथा हिन्दी के मान्य विद्वान् हैं और जिन्होंने अत्यन्त व्यस्त होते हुए भी प्रस्तुत पुस्तक के लिए मुझे प्रोत्साहन दिया।

५, नेमी रोड,
देहरादून

—जगदीशप्रसाद शर्म्मा

सूची

एक....

उत्तिष्ठत जाग्रत

उत्तिष्ठत ! जाग्रत ! प्रातःकाल तो भगवान् मरीचिमाली स्वयं ही आकर हमारी निद्रा पर आघात करते हैं। समस्त रात्रि की गम्भीर निद्रा एक मुहूर्त में भंग हो जाती है। किन्तु संध्या के मोहान्धकार को कौन दूर करेगा ! समस्त दीर्घ दिन की चिन्ता तथा कर्म से उत्क्षिप्त एक कूहक का आवेष्ठन, उसमें से चित्त को बाहर निकालकर, निर्मल उदार शान्ति के क्षेत्र में किस प्रकार पहुँचाया जाय ? समस्त दिन एक मकड़ी की भाँति जाले पर जाला बुनकर हमें नाना दिशाओं से जकड़े हुए है, चिरन्तन को, भूमा को, एकदम ओट में रखे हैं, इस समस्त जाल को काटकर चेतना को अनन्त में जाग्रत करके किस प्रकार रखें। इसलिए ओ भागवान्, उठ ! जाग !

जब दिन नाना कर्म, नाना चिन्ता, नाना प्रवृत्ति के भीतर एक-एक लपेट द्वारा हमें चारों ओर से जकड़ता रहता है और विश्व तथा हमारी आत्मा के बीच एक आवरण खड़ा करता रहता है, ऐसे समय यदि हम बीच-बीच में अपनी चेतना को सतर्क न करते रहें—उत्तिष्ठत ! जागृत ! यह जागरण-मन्त्र यदि क्षण-क्षण हमारे विचित्र दैनिक व्यापार में, हमारी अन्तरात्मा से ध्वनित न होता रहे तो उलझन-पर-उलझन बढ़कर और गाँठ-पर-गाँठ पड़कर शेष काल में मानो हमें लुन्ज कर डालता है। तब उस आबल्य (असहाय अवस्था) में से अपने को खींचकर बाहर निकालने की इच्छा भी नहीं रह जाती, अपने चारों ओर के वेष्ठन को सत्य समझ बैठते हैं; उससे अतीत, जो उन्मुक्त विशुद्ध शाश्वत सत्य है, उसके प्रति हमारा विश्वास भी उठ जाता है; और तो क्या, उसके प्रति

संशय अनुभव करने की सचेष्टता भी नहीं रह जाती। इसीलिए समस्त नाना व्यापार की कल-ध्वनि के मध्य भी मन की गम्भीरता में इकतारे पर यह धुन उठती रहे ! उत्तिष्ठत ! जाग्रत !

संशय

संशय-जात वेदना भी भली। किन्तु जो प्रकाण्ड जड़ता की कुण्डली के घेरे में संशय को भी आवृत्त किये बैठा है, उसके हाथ से किसी प्रकार मुक्ति पानी है। अपनी ही अज्ञता के सम्बन्ध में अज्ञान होने के समान तो और कोई अज्ञान नहीं है। ईश्वर को नहीं जाना, उनका संस्पर्श भी नहीं पाया, इसका यदि अनुभव-मात्र भी जब न हो तो ऐसी आत्म-विस्मृत निश्चिन्तता से "उत्तिष्ठत ! जाग्रत ! सावधान रहो !" भगवान् ! हमें ऐसी निष्क्रियता से विचलित करके तो गम्भीरतर वेदना जाग्रत कर दो। मैं समझता नहीं हूँ, मैं पाता नहीं हूँ—कहकर मेरी अन्तरतम भावना चीत्कार कर उठे। मन के समस्त तारों पर यह गान बज उठे—"संशय तिमिर मध्य गति नहिं सुझात।" हम लोग सोचते हैं कि जो व्यक्ति नास्तिक है वही संशयी है, किन्तु हम केवल इसलिए कि ईश्वर को स्वीकार करते हैं, संशयी नहीं हैं। बस यही सोचकर हम निश्चिन्त बैठे हैं और ईश्वर सम्बन्धी हमारा जिनसे मतभेद है, उन्हें हम पाखण्डी, नास्तिक और संशयात्मा कहते हैं। इसी को लेकर संसार में कितना संघर्ष, कितना विवाद-विरोध, कितना शासन-पीड़न जिसका अन्त नहीं। यह हमारे दल का और वह हमारे दल के बाहर का, इसी प्रकार के दो भागों में मनुष्य जाति को विभक्त करके हम ईश्वर के अधिकार को अपने दल की विशेष सम्पत्ति में गणना करके आराम से बैठे हैं। फिर इस सम्बन्ध में न कोई चिन्ता, न कोई सन्देह।

ऐसा विचार रखते हुए हमने केवल बातों में ही ईश्वर को स्वीकार करके उन्हें संसार से निर्वासित करके रखा है। हम ऐसा भाव लेकर ग्रह और समाज में निवास करते हैं—ईश्वर, जैसे उस घर और

समाज में है ही नहीं। हम जन्म से मृत्यु-पर्यन्त इस जगत में ऐसे भाव से चलते रहते हैं, जैसे इस जगत् में उस विश्व-भुवनेश्वर के लिए कोई स्थान ही नहीं है। हम प्रातःकालीन आश्चर्यलोक के अभ्युदय में जाग्रत होकर उस अद्भुत आविर्भाव में भी उनके दर्शन नहीं कर पाते और रात्रि में भी अनिमेष जाग्रत, निःशब्दज्योतिष्क लोक के बीच, निद्रा की गम्भीरता में जब प्रवेश करते हैं, उस समय इस आश्चर्य-मय शयनागार की विपुल महिमान्वित अन्धकार-शैया के नीचे किसी एक प्रान्त में भी उस विश्व-जननी की निस्तब्ध, गम्भीर, स्निग्ध मूर्ति को अनुभव नहीं करते। इस अनिर्वचनीय अद्भुत जगत् को हम केवल अपनी जमीन-जायदाद, जमा-पूँजी में संकीर्ण करके देखने में लेश-मात्र संकोच अनुभव कहीं करते। जैसे हम तो ईश्वर के जगत् में पैदा ही नहीं हुए, अपने घर में ही जन्मे हैं और यहाँ बस 'मैं, मैं और मैं' को छोड़कर कोई और बात ही नहीं, तो भी हम कहते हैं हम ईश्वर को मानते हैं, उसके सम्बन्ध में हमें कोई संशय नहीं।

घर में या संसार में हम किसी दिन ऐसे आचरण नहीं करते जिससे यह प्रतीत हो कि इस घर के देवता और मालिक हैं वे और इस संसार के रथ को चलारहे हैं वे महासारथि। मैं ही घर का कर्ता हूँ और मैं ही संसार का संसारी। प्रातःकाल में आँख खुलते ही यह चिन्ता शुरू होती है और रात्रि को कुछ काल के लिए नींद आकर उसे आवृत्त करती है। 'मैं' से ही संसार ठसा है, कितनी दलील, कितने दस्तावेज, कितनी व्यवस्था, कितना विवाद-संवाद। किन्तु ईश्वर कहीं है, केवल बातों में ही, और कहीं भी उनकी खातिर तिल रखने-भर का स्थान नहीं।

केवल बातों में ईश्वर को स्वीकार करने के समान भी अपने को धोखा देने की वस्तु कोई और है। मैं इस सम्प्रदाय का भोगी हूँ, मेरा यह मत है, मैं यह कहता हूँ, ईश्वर के लिए थोड़ी-सी धोखा देने-भर की जगह छोड़ बाकी समस्त स्थान पर असंकोच ही अधिकार जमाकर बैठने की जो स्पर्धा है, वह स्पर्धा अपने-आपको भी नहीं पहचानती

इसीलिए इतनी भयानक है। यही स्पर्धा संशय की समस्त वेदना को व्यर्थ कर देती है कि हम जानते नहीं, यह भी नहीं जानने देती।

संशय की वेदना तभी जाग्रत हो उठती है जब ईश्वर हमारे चैतन्य को अनजाने चुपके से किसी एक दिशा में स्पर्श कर देते हैं, और संसार के बीच रहते हुए भी तब संसार हमारा क्रन्दन रोक नहीं सकता। और उनकी ओर दोनों बाहु प्रसारित करके भी अन्धकार में जब उनका ठिया नहीं मिलता, तब यह ज्ञान आरम्भ होता है कि जो कुछ प्राप्त है उससे किसी प्रकार भी काम नहीं बनेगा और जिसके बिना मेरी प्रगति असम्भव है मैं अभी उसे किसी प्रकार भी नहीं पा रहा हूँ। उससे और अधिक असह्य कष्ट की अवस्था कुछ नहीं है।

जब प्रसव का समय आसन्न होता है तो गर्भ के शिशु को, एक ओर तो नाड़ी सम्पूर्णतया नहीं छोड़ती, और दूसरी ओर भूमिष्ठ होने का वेग उसे आकर्षित करता है। मुक्ति के साथ बन्धन की खींचातानी की अभी तक कोई मीमांसा नहीं हुई। इसी समय की वेदना जन्मदान की पूर्व सूचना है, इस वेदना के अभाव को चिकित्सक भयावह स्थिति मानते हैं। इसी प्रकार यथार्थ संशय की वेदना भी आत्मा के लिए सत्य में मुक्तिदान करने की वेदना है। संसार उसे एक ओर से अपने भीतर आवृत्त और आच्छन्न किये हुए हैं और दूसरी ओर विमुक्त सत्य अनजाने उसका आह्वान कर रहा है, वह अन्धकार में भी है और आलोक को नहीं जानते हुए भी आलोक का अनुभव करता है। कदाचित् उसके मन में विचार उठता है कि इस व्याकुलता का कोई परिणाम नहीं, क्योंकि परिणाम तो उसके सम्मुख दिखाई ही नहीं पड़ता। वह तो गर्भस्थ शिशु की तरह अपने ही आवरण को चारों ओर से अनुभव करता है। आया करे वह असह्य वेदना और रोती रहे सारी प्रकृति, इस क्रन्दन का भी अवसान होगा। किन्तु जो क्रन्दन वेदना में जाग्रत नहीं हो पाता, परिणत नहीं हो पाता, जड़ता के शतवेष्ठन में ही प्रच्छन्न है, उसका तो कोई भी परिणाम नहीं; क्योंकि वह तो रक्त में, मांस में,

अस्थि-मज्जा में लिपटकर रह गया है और केवल उसका भार ही, चौबीसों घण्टे, नाड़ी-नाड़ी में वहन करते हुए रहना पड़ेगा।

जिस दिन संशय का क्रन्दन हममें सत्य हो उठेगा उस दिन हम सम्प्रदाय का मत, दर्शन का तर्क और शास्त्र का वाक्य लेकर आराम से नहीं बैठेंगे। उस दिन एक मुहूर्त में ही समझ जायेंगे कि प्रेम को छोड़कर हमारे लिए कोई दूसरा उपाय नहीं। उस दिन हमारी प्रार्थना यह होगी कि "प्रेम आलोके प्रकाशो जगतपति हे"—प्रेम के आलोक में दे, ओ प्रभु दर्शन ! ज्ञान के प्रकाश में भी हमारे संशय का समस्त अन्धकार क्यों दूर नहीं होता ? हम जानते हुए भी कब नहीं जानते ? जब हममें प्रेम का प्रकाश नहीं होता। एक बार विचार करके देखो न, इस पृथ्वी पर कितने शतसहस्र लोगों से हम वेष्ठित हैं। हमारा उनसे परिचय नहीं है ऐसी बात नहीं, किन्तु हमारे लिए उनका कुछ महत्त्व ही नहीं। संसार में हम इस भाव से आचरण करते हैं जैसे इन अनगिनत लोगों को कोई सुख-दुःख है ही नहीं। तो कौन है दुःखी ? जो हमारे स्वजन हैं, हमारे प्रिय व्यक्ति हैं आत्मीय हैं, यही उन अगण्य जीवों को भुलाये हुए हैं। यह थोड़े-से लोग ही हमारा संसार बने हुए हैं, क्योंकि इन्हीं को तो हम कमोवेश परिमाण में अपनी आत्मा के समान ही मानकर देखते हैं क्योंकि हमारा आत्मा सत्य-स्वरूप है। इसीलिए आत्म-प्रेम द्वारा वह हमें एकान्त में स्पष्ट हो उठता है। यह प्रेम जिनमें प्रसारित हो पाता है उन्हीं को हम आत्मीय समझते हैं, इसलिए उनके विषय में हमारा कोई संशय नहीं। वे लोग हमारे लिए बहुत-कुछ अपने ही समान सत्य हैं।

ईश्वर है और सर्वत्र है, इस तथ्य का हमारे ज्ञान में अभाव नहीं है, किन्तु हम अपने दैनिक जीवन में इस प्रकार आचरण करते हैं कि वह कहीं है ही नहीं। इसका कारण क्या है ? उनके प्रति अभी हममें प्रेम जन्मा नहीं, इसलिए उनके होने से क्या और नहीं होने से क्या ? उनसे तो अपने घर की अति तुच्छ वस्तु भी हम अधिक करके मानते हैं। प्रेम न होने से हमारी आँख पूर्णतया देखती नहीं, कान पूर्णतया सुनते नहीं,

और मन पूर्णतया लगता नहीं। इसलिए जो सबसे अधिक अपेक्षित है वही सबसे अधिक अलभ्य है, इसीलिए तो जीवन में एक ऐसा अभाव उपस्थित हो जाता है जिसकी किसी प्रकार भी पूर्ति नहीं हो पाती। ईश्वर होते हुए भी नहीं है, इससे अधिक प्रकाण्ड अभाव हमारे लिए और क्या हो सकता है? इसी अभाव के भार से हम प्रति मुहूर्त मरे जाते हैं। इस अभाव का अर्थ और कुछ नहीं, केवल है प्रेम का अभाव। इसी के अभाव की शुष्कता में जगत् का सारा लावण्य मारा गया, जीवन का समस्त सौन्दर्य नष्ट हो गया। जो हैं वे नहीं माने जाते, इतनी बड़ी क्षति किस प्रकार पूर्ण होगी किसी तरह से भी कुछ उपाय नहीं सूझता। इसलिए दिन और रात हम हीनता को प्राप्त हो रहे हैं। हम सब जानते हैं, सब समझते हैं किन्तु व्यर्थ है, इसलिए "प्रेम आलोके प्रकाशों जगतपति हे!"—प्रेम के प्रकाश में प्रकट होओ जगन्नाथ!

अभाव

रात-दिन के ईश्वरविहीन जीवन बिताने से यदि हमारी सांसारिक सम्पत्ति में चौथाई क्षति भी हो जाती तो तुरन्त सतर्क हो उठते। किन्तु ऐसी कोई आपत्ति होती नहीं। सूर्य हमें प्रकाश दे रहा है, पृथ्वी हमें अन्न दे रही है. यह वृहत् लोकालय अपने सहस्र स्रोतों से हमारे सहस्र अभावों की पूर्ति कर रहा है तो फिर संसार को ईश्वर-वर्जित करके हमें किसी वस्तु का अभाव है? हाय! जो अभाव है उसको जब तक हम अनुभव नहीं करते तब तक आराम से निःसंशय रहते हैं और इस छलपूर्ण संसार में वास करते हुए सोचते हैं कि हम ईश्वर के विशेष अनुग्रह पात्र हैं। किन्तु जो क्षति हो रही है उसे किस प्रकार समझाया जाय।

यहाँ मैं दृष्टान्त-स्वरूप अपने एक स्वप्न की कथा सुनाता हूँ। मैं बहुत छुटपन में मातृहीन हो गया था। मुझे बड़े होकर माँ का अधिष्ठान नहीं मिला। कल रात्रि को स्वप्न देखा जैसे मैं बाल्यअवस्था में हूँ, और गंगा के किनारे बगीचे वाले घर के एक कमरे में माँ बैठी है। माँ हैं तो ठीक,

किन्तु उनका आविर्भाव तो समस्त काल चेतना पर अधिकार किये नहीं रहता। मैं भी माता के प्रति मन न देकर उनके कमरे के पास से चला गया। बरामदे में पहुँचकर एक मुहूर्त में जाने मुझे क्या हुआ, मेरे मन में यह विचार जाग्रत हुआ कि माँ हैं। तत्काल उनके कमरे में जाकर उनकी चरण-रज लेकर मस्तक पर लगाई। उन्होंने मेरा हाथ पकड़कर मुझसे कहा, "तुम आ गए।"

बस यहीं स्वप्न टूट गया। मैं सोचने लगा कि माँ के ही घर में रह रहा हूँ, उनके कमरे के द्वार से कितनी बार आता-जाता हूँ। वह हैं, इस ज्ञान में सन्देह नहीं है; किन्तु वह नहीं हैं, इस भाव में संसार चल रहा है। इससे क्षति क्या हो रही है, उनके भण्डार का द्वार बन्द नहीं, अन्न का भी परिवेषन (बंटना) हो रहा है, जब हम सोते हैं तो भी उनका पंखा चलता रहता है। केवल इतना ही नहीं होता कि मेरा हाथ पकड़कर कहती हों "तुम आ गए।" अन्न-जल और धन-मान सभी हैं, किन्तु वह प्यार-भरा स्वर और स्पर्श कहाँ है। मन जब पूर्णतया जाग्रत हो उठता है तो उसी स्वर और स्पर्श को चाहता है और चाहने पर जब नहीं पाता तो केवल उपकरणमय घरों में ढूँढता फिरता है, तब अन्न-जल भी उसे किसी प्रकार नहीं रुचते।

एक बार अच्छी तरह सोचकर देखो कि जगत् में कोई प्रयोजन लेकर किसी मनुष्य के पास जाना हमारे जीवन में एक अल्पता ही है। परम आत्मीय के निकट हमारा प्रतिदिन आना-जाना अवश्य है, किन्तु दैवात् ही किसी मुहूर्त में सचमुच उनके पास पहुँच पाते हैं। कितने ही समय उनके साथ एकान्त में बातचीत की और प्रातः-सायं के झुटपुटे में एक साथ घूमे भी, किन्तु इन सबमें केवल एक उस दिन की याद रहती है जब हृदय परिपूर्ण होकर अनुभव करता है कि मैं उनके पास आ गया हूँ। ऐसे हजारों मनुष्य हैं जो वास्तव में किसी पदार्थ या किसी मनुष्य के कभी निकट ही नहीं गये। जगत् में जन्म लिया है, किन्तु जगत् के साथ उन्होंने अव्यवहित संस्पर्श नहीं किया; और संस्पर्श नहीं हुआ, ऐसा विचार उन्हें

एक बार भी नहीं आया। वह सबके साथ हंसते हैं, खेलते हैं, गल्पालाप करते हैं, अनेक के साथ लेन-देन, आना-जाना होता है और वे सोचते हैं— मैं सबके साथ ही तो हूँ, किन्तु इस प्रकार संग में रहने का संग कितना क्षुद्र है यह उनकी बुद्धि के बाहर की चीज है।

आत्मा की दृष्टि

बाल्यकाल में मेरी दृष्टि-शक्ति क्षीण हो गई थी, किन्तु मुझे उसका पता नहीं था। मैं सोचता था, शायद दिखाई इतना ही देता है और सभी कदाचित् इसी परिमाण में देखते हैं। एक दिन संयोग से मैंने लीला-छल से अपने एक साथी का चश्मा लगा लिया तो सब वस्तुएं अधिक स्पष्ट दीखने लगीं। मालूम देने लगा जैसे एकदम सबके पास आ गया हूँ। सबको स्पष्ट देखने और पास आ जाने का आनन्द जो लाभ किया उसके द्वारा जैसे इस विश्व-भुवन को द्विगुण करके लाभ कर रहा हूँ। और इतने दिन तक इतनी हानि किये घूमता रहा सो भी पता नहीं था।

जिस प्रकार दृष्टि द्वारा यह निकट आना हुआ, इसी प्रकार आत्मा द्वारा भी निकट आना होता है। यह भाव लेकर जिसके पास भी जाओ, वह हाथ पकड़कर प्रेम से बोलेगा, "यह जल, वायु, चन्द्रमा और सूर्य हमारे परम मित्र हैं, वे हमारे अनेक कार्य-साधन करते हैं, किन्तु मेरा वे हाथ नहीं पकड़ते और न आनन्दित होकर कहते हैं, "तुम आ गये"। क्योंकि मैं एक आवरण में आवृत्त होकर पृथ्वी पर संचरण करता हूँ। अण्डे में जिस प्रकार पक्षी-शिशु पृथ्वी पर जन्म भी लेता है और जन्म-लाभ भी नहीं करता, इसी प्रकार यह है।

इस अस्फुट चेतना के अण्डे में से जन्म-लाभ करना आध्यात्मिक जन्म है। इसी जन्म द्वारा हम द्विज होते हैं। वही जन्म यथार्थ रूप में जन्म है; जीव चैतन्य के, विश्व चैतन्य के बीच जन्म। तभी पक्षी-शिशु पक्षी-माता के वक्षपुट का सम्पूर्ण संस्पर्श लाभ कर पाता है और तब ही मनुष्य सर्वत्र उस सर्व को प्राप्त करता है। उसको प्राप्त करना कैसी आश्चर्यमय

सार्थकता है, कैसा अनिर्वचनीय आनन्द है, यह हम नहीं जानते, किन्तु जीवन के क्षण-क्षण में क्या उसका आभास-मात्र भी नहीं पाते? आध्यात्मिकता से हमें और कुछ नहीं मिलता, हमारे औदासीन्य और अकर्मण्यता नाश हो जाते हैं। अर्थात् उसी से हम चेतना द्वारा चेतना को, आत्मा द्वारा आत्मा को पाते हैं। ऐसे जब प्राप्त करते हैं तो यह जानकर कि यह समस्त उनका ही आनन्द रूप है और कुछ समझना बाकी नहीं रहता।

तृण से मनुष्य-पर्यन्त जगत् में जहाँ भी हमारा चित्त उदासीन हो तो समझो हमारी आध्यात्मिकता सीमाबद्ध हुई है, यह हमें समझना होगा। हमारी आत्मा, हमारी चेतना जब सर्वत्र प्रसारित होती है तो जगत् की समस्त सत्ता को हम अपनी सत्ता द्वारा अनुभव करते हैं, इन्द्रियों द्वारा नहीं, वैज्ञानिक युक्ति द्वारा नहीं। उसकी परिपूर्ण अनुभूति एक आश्चर्य-पूर्ण व्यापार है। यदि इस सम्मुख-स्थित वृक्ष को भी उसी सत्ता के रूप में, गम्भीर रूप में अनुभव करें तो हमारी समस्त सत्ता आनन्द में परिपूर्ण हो उठेगी। मैं इसे ठीक से देखता नहीं हूँ और देखने-भर के अतिरिक्त मुझे इससे कोई प्रयोजन भी नहीं, ऐसा विचार कर यदि इसके सामने से चला जाऊँ तो इस वृक्ष के सत्य में अपने सत्य को जाग्रत करके मैं आनन्द-प्राप्ति का अधिकारी नहीं हो सकता। मनुष्य को भी हम आत्मा द्वारा नहीं देखते। इन्द्रियों द्वारा, युक्तियों द्वारा, स्वार्थ द्वारा, संसार द्वारा, संस्कार द्वारा देखते हैं। उसको परिवार के प्रयोजनयुक्त अथवा किसी विशेष श्रेणीभुक्त मनुष्य के आकार में देखते हैं। फलस्वरूप उसी सीमा पर जाकर हमारी परिचय-शक्ति रुक जाती है, वहीं रुद्ध हो जाती है। उससे अधिक और प्रवेश नहीं हो पाती, उसे आत्मा कहकर हमारा आत्मा प्रत्यक्ष संभाषण नहीं कर पाता, यदि कर पाता तो परस्पर हाथ पकड़कर कहता, "तुम आ गए।"

आध्यात्मिक साधना का चरम लक्ष्य क्या है? उपनिषद् में स्पष्ट लिखा है—

ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानं सर्व मेवा विशन्ति ।

धीरगण सर्वव्यापी को सकल दिशाओं से प्राप्त कर और युक्त आत्मा होकर सर्वत्र ही प्रवेश करते हैं। सर्वत्र प्राप्त करने की क्षमता ही असली क्षमता है, प्रवेश करने का अर्थ है युक्तात्मा होना। जिस क्षण हमारा आत्मा पापों के समस्त अभ्यास-जनित संस्कारों के आचरण से मुक्त होकर सर्वत्र आत्मा से युक्त होता है, तभी वह सर्व में प्रवेश करता है। वह आत्मा के पास न पहुँचने पर द्वार पर ही ठहर जाता है—वह मृत्यु से आबद्ध होता है—अमृतं यद् विभाति—अमृत रूप में जो सबमें प्रकाशमान है, उसी अमृत में आत्मा को जब नहीं पहुँचा पाते फिर सबको तो देखते हैं केवल आनन्द रूपं अमृतम् को नहीं—

आत्मा द्वारा विश्व-आत्मा में प्रवेश करना ही तो हमारी साधना का लक्ष्य है। प्रतिदिन जिस पथ पर हम चल रहे हैं उसी में हमें इसकी उपलब्धि करनी होगी। अन्धभाव से या जड़ भाव से तो होगी नहीं। चेतना का विस्तार तो चेतन भाव में ही हो सकता है। प्रतिदिन हमें समझना होगा कि धीरे-धीरे हमारा प्रवेश-पथ खुलता जा रहा है, हमारा अधिकार भी व्याप्त होता जा रहा है। सबके साथ अधिक घनिष्टता से मिल पा रहे हैं और अल्प-अल्प करके सारे विरोध कट रहे हैं, परस्पर मिलन में, संसार के समस्त कर्मों में भूमा का प्रकाश अव्याहत होता जा रहा है। अहंता का सुदुर्भेद्य आवरण जो हमें सबसे अति विभक्त किये हुए था, वह धीरे-धीरे क्षीण होता जा रहा है। क्रमशः वह स्वच्छ होकर उसके अन्दर से उस निखिल का आलोक क्रम-क्रम से स्फुटतर होता दिखाई दे रहा है। हम अपनी ओर से किसी को आच्छन्न नहीं कर रहे हैं, न किसी को विकृत। हमारे अन्तर में अन्य की और अन्य के अन्तर में हमारी बाधाएँ दिन-प्रतिदिन कटती जा रही है।

पाप

इस प्रकार जब आत्मा आत्मा को चाहने लगे, किसी प्रकार से भी वह न थम सके, तभी पाप क्या है स्पष्टतया समझ में आ जाता है। हमारा चैतन्य जब पिघले बरफ के झरने की तरह फूट निकलना चाहे तभी पाप की बाधा सम्पूर्ण रूप से समझ में आती है, एक क्षण भी हम उसको भुलाकर नहीं रह सकते....उसे क्षय करने के लिए, उसे दूर करने के लिए हमारा पीड़ित चैतन्य पाप के चारों ओर से उफान खाता रहता है। वस्तुत: जब हमारा चित्त गतिशील रहता है तो वह अपनी गति के संघात में ही छोटे-से रोड़े को भी अनुभव करता है, उससे कुछ भी अगोचर नहीं रह पाता। इस अनुभव से पहले हम पाप-पुण्य को सामाजिक सुविधा-असुविधा की वस्तु करके ही जानते हैं। हम अपना चरित्र इस प्रकार निर्माण करते हैं कि वह लोक-समाज के लिए उपयोगी हो, जिससे भद्रता के आदर्श की रक्षा हो सके। इतनी सफलता प्राप्त होने पर हमारे मन में और कोई संकोच बाकी नहीं रहता। हम विचार करते हैं कि चरित्र-नीति की उपयोगिता तो हमारे द्वारा सिद्ध हो ही गई।

ऐसे समय में जब एक दिन आत्मा जाग उठता है तो फिर आत्मा विश्वात्मा को खोजने निकलता है, तब उसे दिखाई देता है कि केवल भद्रता ही कर्तव्य नहीं है, केवल समाज की रक्षा ही ध्येय नहीं है, प्रयोजन उससे भी विशाल है, बाधा उससे भी अधिक गम्भीर है। ऊपर से काट-कूटकर रास्ता साफ कर दिया, पर संसार-यात्रा में कोई बाधक नहीं है, किसी को आँख से नहीं दिखता, किन्तु पाप की सारी जड़ें तो भीतर ही जमी हैं और उन्होंने एक-दूसरे में आवेष्ठित होकर एक ऐसा जाल बुन रखा है कि आध्यात्मिक खेती करने जाने पर वहाँ पद-पद पर रुक जाना पड़ता है। अति सूक्ष्म, अति क्षुद्र जड़ भी महान् आवरण की रचना कर लेती है। तब, इससे पहले जो पाप दिखाई नहीं पड़े उन्हें भी देख पाते हैं और पाप किस प्रकार हमारी परम सार्थकता में बाधक होता है यह भी समझ पाते हैं। उस समय किसी व्यक्ति का मुँह ताककर किसी

सामाजिक प्रयोजन को लक्ष्य न बनाकर पाप को केवल पाप समझकर समस्त अन्तःकरण से उसे बहिष्कार करते रहते हैं। उसका सहन करना असम्भव हो जाता है। वह पाप जो चरम मिलन के परम प्रेम के पथ पर दल-बलसहित बैठा है उसके सम्बन्ध में किसी अन्य को अथवा अपने-आपको धोखा देना अशक्य है। संसार की निगाह में भला होकर रहने में अब कुछ मजा नहीं, अब तो समस्त अन्तःकरण का बल लगाकर उस निर्मल स्वरूप से प्रार्थना करनी होगी—विश्वानि दुरितानि परासुव—समस्त पाप दूर करो। एकदम विश्व से दूर, समस्त पाप—कुछ भी शेष रहने से नहीं चलेगा—क्योंकि आप शुद्धं अपाप विद्धं हैं, आत्मा आपको ही चाहता है, वही उसकी एकमात्र चाहना है, वही उसकी अन्तिम चाहना है।

हे सर्वज्ञ आपको सर्वतः प्राप्त कर सकल दिशाओं से प्राप्त कर युक्त आत्मा होऊँगा, सबमें प्रवेश-लाभ करूँगा, इस महान् अद्भुत सौभाग्य की धारणा भी अभी मन में नहीं हो पाती। किन्तु इतना अनुग्रह करना होगा कि आपके परिपूर्ण प्रकाश का अधिकारी न होते हुए भी, मेरे रुद्ध द्वार के छिद्र में होकर इतना तो प्रकाश आ जाय कि उसके आलोक में कमरे के आबद्ध अन्धकार को मैं अन्धकार समझ करके तो जान पाऊँ। रात्रि-भर द्वार और खिड़की बन्द करके अचेतन होकर सोता रहा। प्रातःकाल जब द्वार खोलने पर प्रकाश अन्दर आया तब जड़ शैया पर पड़े-पड़े हठात् बाहर के निर्मल प्रभात के आविर्भाव ने मेरे तन्द्रा-अलसित चित्त पर आघात किया। तभी तप्त शैया का ताप असह्य हो उठा। तभी अपनी निःश्वास-कलुषित बद्ध घर की वायु मेरे ही निःश्वास को अवरुद्ध करने लगी। तब तो वहाँ और रुका नहीं गया, तब उस उन्मुक्त उस निखिल की स्निग्धता, निर्मलता, पवित्रता, समस्त सौंदर्य, सौगन्ध, संगीत का आभास मुझे आह्वान करके बाहर ले आया। आप किसी प्रकार मेरे आवरण के दो-एक छिद्रों के भीतर से अपने आलोक के दूत को, अपने मुक्तिवार्तावाहक को प्रेरणा दें, तभी अपनी आबद्धता का ताप, कलुष

एवं अन्धकार मुझे सुस्थिर नहीं होने देगा, मेरी सुख-शैया मुझे दग्ध करती रहेगी, तब कहना पड़ेगा, "येनाहम् नामृतास्याम् किमहं तेनकुर्याम" मुझे, जिससे अमरत्व प्राप्त न हो, उसे लेकर मैं क्या करूँगा।

दुःख

हमारे उपासना के एक मन्त्र में आता है, "शम्भवाय च मयोभवाय च"—सुखकर को नमस्कार और कल्याणकर को भी नमस्कार। किन्तु हम सुखकर को ही नमस्कार करते हैं, कल्याणकर को सब समय नमस्कार नहीं कर पाते, क्योंकि जो कल्याणकर हैं वे केवल सुखकर ही नहीं दुःखकर भी हैं। हम सुख को ही उनकी देन मानते हैं और दुख को कोई दुर्दैवकृत विडम्बना कहते हैं।

इसलिए दुःख-भीरु, वेदनाकातर लोग अपने को दुःख से बचाने के लिए नाना प्रकार के आवरण की रचना करते हैं। हम केवल छिपे हुए रहना चाहते हैं। इसका परिणाम क्या होता है ?—सत्य के सम्पूर्ण स्पर्श से वंचित रह जाना।

धनी तथा विलासी जन समस्त आयास से अपने को बचाकर केवल आराम में परिवृत्त रहते हैं। फल क्या होता है ? इससे वे अपने को पंगु बना डालते हैं, उन्हें अपने स्वयं के हाथ-पाँव पर अधिकार नहीं रहता, जिन समस्त शक्तियों को लेकर वे पृथ्वी पर जन्मे थे, वे सब कर्म के अभाव में सक्रिय नहीं हो पातीं। उन्हें मोरचा लग जाता है, बिगड़ जाती हैं। वे स्वरचित आवरण के कृत्रिम जगत् में निवास करती हैं। कृत्रिम जगत् हमारी प्रकृति के लिए कभी भी समस्त स्वाभाविक खाद्य उपलब्ध नहीं कर सकता, इसलिए ऐसी अवस्था में हमारा स्वभाव एक घर की बनी गुड़िया के समान हो जाता है और पूर्णता को प्राप्त नहीं हो सकता।

दुःख के आघात से अपने मन को भय-ही-भय से केवल बचाने की चेष्टा करने से जगत में हमें असम्पूर्ण भाव में ही निवास करना पड़ता

है। इसलिए उससे न हमारी स्वास्थ्य-रक्षा होती है न शक्ति का विकास। पृथ्वी पर आकर जिस व्यक्ति ने दुःख नहीं उठाया उसे इसकी समस्त प्राप्य वस्तु नहीं मिलीं, उसके पाथेय में कमी रह गई।

जिनका स्वभाव अति वेदनाशील है उनके अपने स्वजन बन्धु-बांधव भी उनसे बचकर रहते हैं। वे अपने छोटे दुःख को बड़ा करके मानते हैं। इसीलिए दूसरे लोग कहते हैं, हमें इससे मतलब नहीं। उनके सम्बन्ध में लोगों की कथावार्ता व्यवहार, आदि कुछ भी स्वाभाविक नहीं होता। उनकी पूरी-पूरी बात भी नहीं सुनते किंवा ठीक से नहीं सुनते—उसे जो पाना उपयुक्त है वह सब नहीं मिलता अथवा ठीक नहीं मिलता। इसीलिए उनका कोई मंगल नहीं हो पाता। जो व्यक्ति बन्धुओं द्वारा कभी आघात नहीं पाता केवल प्रश्रय पाता है, वह हतभागा बन्धुत्व के आस्वाद से वंचित रहता है, उसके बन्धु उसके लिए पूर्ण रूप से बन्धु नहीं बन पाते।

जगत् में हमें दुःख की प्राप्ति पूर्णतया न्यायसंगत अवश्य ही होगी, ऐसा नहीं होता। जिसे हम अन्याय कहते हैं, अविचार कहते हैं वह भी ग्रहण करना होगा। अत्यन्त सावधानी से सूक्ष्म हिसाब का खाता खोलकर केवल न्याय-व्यवहार में ही होकर अपने को संपोषण करना, पालते-पोसते रहना तो हो नहीं सकता और यदि हो भी तो इसमें हमारा मंगल नहीं। अन्याय और अविचार को ही हम उपयुक्त भाव में ग्रहण कर सकें ऐसी हममें सामर्थ्य होनी चाहिए।

पृथ्वी पर हमारे भाग में जितना सुख मिलता है, क्या वह एकदम ठीक ही हिसाब से मिलता है? क्या कई बार ऐसा नहीं होता कि जितना हमने दाम दिया उससे कहीं अधिक मिला? किन्तु कभी भी यह विचार तो किया नहीं कि हम इसके अयोग्य हैं। सब पर ही तो दिव्य असंकोच भाव से अपना दखल कर लेते हैं। क्या दुःख के समय ही हम न्याय और अन्याय का हिसाब करने बैठेंगे? प्रत्येक वस्तु हिसाब के अनुसार ही ठीक, क्या कभी मिलती है?

इसका एक कारण है। ग्रहण और त्याग में होकर ही हमारे प्राण की क्रिया चलती रहती है। केन्द्रानुग (अन्तर्मुखी), केन्द्रातिग (बहिर्मुखी) ये दोनों ही शक्तियाँ हमारे लिए गौरव की चीज हैं। हमारे प्राण का, हमारी बुद्धि का, हमारे सौन्दर्य बोध का, हमारी मंगल प्रवृत्ति का, वस्तुतः हमारी समस्त श्रेष्ठता का मूल धर्म ही यह है कि हम केवलमात्र ग्रहण ही नहीं, त्याग भी करेंगे।

इसीलिए हमारे आहार्य्य (भोग्य) पदार्थों में ठीक हिसाब के ही अनुसार, हमारे प्रयोजन के उपकरण स्थित नहीं हैं। उसमें जैसे खाद्य अंश हैं, अखाद्य भी हैं। यही अखाद्य अंश हम शरीर से परित्याग करते हैं। यदि ठीक वजन के अनुसार हम विशुद्ध, अमिश्रित खाद्य पदार्थ ग्रहण करें तो हमारा काम नही चलता, शरीर व्याधिग्रस्त हो जायगा, कारण है कि हमारे पास केवल क्या पाक-शक्ति तथा पाक-यन्त्र ही हैं? हमारे पास त्याग-शक्ति और त्याग-यन्त्र भी तो हैं। उसी शक्ति और उस यन्त्र को भी काम सौंपना पड़ेगा, तभी तो ग्रहण और त्याग के सामंजस्य में प्राण की पूर्णता साधन होगी। संसार में हम केवलमात्र न्याय ही पायेंगे, कोई हमारे प्रति अविचार नहीं होगा, ऐसा विधान नहीं है। संसार में न्याय के साथ अन्याय का मिश्रण रहना हमारे चरित्र-विकास के पक्ष में अत्यन्त आवश्यक है। निःश्वास तथा प्रश्वास की क्रिया के समान हमारे चरित्र में एक ऐसी सहज क्षमता होनी आवश्यक है जिसके बल पर जो कुछ प्राप्य है वह अनायास ग्रहण कर लें तथा जो कुछ त्याज्य है वह बिना क्षोभ के त्याग कर सकें।

अतएव दुःख और आघात न्यायपूर्ण हो अथवा अन्यायपूर्ण हो, उसके संस्पर्श से अपने को निःशेष बचाकर चलने की अति चेष्टा से हमारा मनुष्यत्व दुर्बल और व्याधिग्रस्त हो उठता है। इस भीरुता में केवल विलासिता की कोमलता तथा दौर्बल्य की उत्पत्ति होती है, इतना ही नहीं किन्तु वे समस्त अति वेदनाशील जन, आघात के भय से अपने को आवृत्त करके अपनी शुचिता को भी नष्ट करते हैं। इस आवरण में भीतर-भीतर

मलिनता जमती रहती है, जितना ही वे लोक-भय से लोक-चक्षु का सामना नहीं करते उतने ही दूषित होकर अपने स्वास्थ्य को विकृत करते रहते हैं। संसार की निन्दा, अविचार तथा दुःख को, कष्ट को, जो अबाध, असंकोच ग्रहण कर सकते हैं, वे केवल बलिष्ठ ही नहीं किन्तु निर्मल भी हैं····अनावृत्त जीवन द्वारा जगत् का पूर्ण संघात लगते रहने से उनका कलुष क्षय होता रहता है।

अतएव समस्त मन व प्राण लेकर प्रस्तुत होओ, जो सुखदाता है उन्हें प्रणाम करो और जो दुखदाता है उन्हें भी प्रणाम करो, ऐसे ही आचरण से स्वास्थ्य-लाभ करोगे, शक्ति-लाभ करोगे—इस प्रकार जो शिव हैं, जो शिवतर हैं, उन्हें प्रणाम करना चाहिए।

त्याग

हम लोग प्रातःकाल प्रतिदिन जो उपासना करते हैं, उसमें यदि कुछ सत्यता अथवा हार्दिकता रहे तो उसकी सहायता से हम प्रत्यह अल्प-अल्प करके त्याग के लिए प्रस्तुत होते रहेंगे। प्रस्तुत तो होना है नितान्त ही, क्योंकि संसार में एक त्याग धर्म है जिसका विधान अमोघ है, वह हमें वहीं स्थिर रहने देना नहीं चाहता, वह कहता है—केवल छोड़ते रहना होगा और आगे ही बढ़ते रहना होगा। ऐसा कोई कहीं भी स्थान नहीं दिखाई पड़ता जहाँ पहुँचकर कह सकें—बस यहाँ सब समाप्त है, परिपूर्ण है, अतएव यहाँ से अब किसी काल में भी नहीं हटेंगे।

संसार का जब धर्म ही केवल पकड़कर रखना नहीं है, सरका देना, आगे बढ़ा देना है, तो उसके साथ अपनी इच्छा का सामञ्जस्य साधन न कर सकने से केवल संघर्ष ही होता रहता है। यदि हम केवल यही कहते रहें, "हम रहेंगे, हम रखेंगे" और संसार कहे, "तुम्हें छोड़ना पड़ेगा", तो विषम कष्ट उत्पन्न होता रहेगा। हमारी इच्छा परास्त होगी—जो हम छोड़ना न चाहें वह हमसे छिन जायगा। इसलिए हमें अपनी इच्छा का इस विश्व-धर्म के स्वर के साथ मिलान करना होगा।

विश्व-धर्म के साथ अपनी इच्छा का मिलान करने पर ही वस्तुतः हम स्वाधीन हो पाते हैं। स्वाधीनता का नियम ही यह है—यदि मैं इच्छा-पूर्वक विश्व के साथ योग न दूँ तो विश्व मुझे बलपूर्वक अनुगत करा लेगा, तब मेरा गौरव भी नहीं रहेगा, आनन्द भी नहीं रहेगा। फिर दास की भाँति संसार की डांट-डपट खानी पड़ेगी।

अतएव एक दिन संसार यह न कह पाये कि तुमसे छीन लूँगा, मैं ही उससे कह सकूँ, "मैं त्याग करता हूँ।" किन्तु प्रतिदिन ही यदि इच्छा को त्याग के अभिमुख प्रस्तुत न करते रहें तो जब मृत्यु और क्षति अपने बड़े-बड़े दावे लेकर हमारे सन्मुख आकर खड़ी होंगी तो उन्हें किसी प्रकार भी धोखा देने की इच्छा न होगी और न उन्हें एकदम धोखा ही दिया जा सकेगा। वह बड़े दुःख का दिवस उपस्थित होगा।

इस त्याग द्वारा हमें दारिद्र्य तथा रिक्तता प्राप्त होगी, यह अपने मन में न सोचियेगा। पूर्णतर रूप में लाभ के लिए ही हमारा त्याग होता है।

जिसमें स हम बाहर निकलकर न आ पाएँ उसे हम पा भी नहीं सकते। गर्भ में आवृत्त शिशु अपनी माता को नहीं देख पाता—वह जब नाड़ी का बन्धन काटकर भूमिष्ठ होता है, स्वाधीन होता है, तभी अपनी मां को पूर्णतर भाव से प्राप्त करता है।

इस जगत् के गर्भावरण में से हमें उसी प्रकार मुक्त होना पड़ेगा। ऐसा होने पर ही यथार्थ भाव में हम जगत् को प्राप्त करेंगे, क्योंकि स्वाधीन भाव में उसे पायेंगे। भ्रूण के समान हम जगत् में बद्ध होकर जगत को नहीं देख पाते। जो मुक्त हुए हैं उन्होंने ही जगत को जाना है और जगत् को पाया है, इसीलिए कहता हूँ कि जो लोग जगत् में लिप्त हैं वे असल संसारी नहीं। जो संसार से बाहर आ गए हैं वही संसारी हैं, क्योंकि वे अब संसार के नहीं हैं, बल्कि संसार ही उनका है। वही सचमुच कह सकते हैं, संसार मेरा है।

लगाम से बद्ध होकर घोड़ा गाड़ी चलाता है, किन्तु क्या वह कह

सकता है कि गाड़ी मेरी है। वास्तव में उसका मूल्य गाड़ी के चक्के से अधिक नहीं है। जो सारथी गाड़ी से आबद्ध रहकर गाड़ी चलाता है, गाड़ी का असली मलिकाव कर्तृत्व उसका है। यदि कर्त्ता होना चाहते हो तो मुक्त होना पड़ेगा; इसीलिए गीता उस योग को कर्मयोग कहती है, जिसमें हम अनासक्त होकर कर्म करते हैं। अनासक्त होकर कर्म करने से ही हमको कर्म पर पूर्ण अधिकार प्राप्त होता है, नहीं तो कर्म के साथ जड़ीभूत होकर कर्म का ही अंग बन जाते हैं—हमें कर्तृत्व प्राप्त नहीं होता। इसलिए संसार के प्राप्त करने के लिए हमें संसार से बाहर जाना होगा और कर्म का साधन करते समय आसक्ति का परिहार करना होगा। इसका अर्थ हुआ कि संसार में लेना और देना, यह दो जो विपरीत धर्म हैं, इन दोनों का सामञ्जस्य करना होगा। दो में से किसी एक का ही पालन करने से कल्याण होगा। यदि केवल लेना ही बड़ा मानें तो हम आबद्ध हो जाते हैं और यदि देना ही बड़ा मानें तो हम सबसे वंचित हो जाते हैं। कर्म मुक्ति-वर्जित हो तो हम दास हो जाते हैं और यदि मुक्ति कर्म-विहीन होती है तो हम विलुप्त हो जाते हैं।

वास्तव में त्याग कोई शून्यता नहीं, वह तो अधिकार की पूर्णता है। नाबालिग़ जब तक सम्पत्ति का मालिक नहीं हो जाता दान अथवा विक्रय नहीं कर सकता। उस समय तो केवल उसे क्षुद्र भोग का अधिकार रहता है, त्याग का महान् अधिकार नहीं। हम जिस अवस्था में केवल संचय ही करते हैं, दान नहीं, उस अवस्था में उस संचित सामग्री के सम्बन्ध में हमें स्वाधीनता प्राप्त नहीं हुई।"

इसीलिए ईसा ने कहा है—"जो धनी हैं उन्हें मुक्ति-लाभ अत्यन्त कठिन है, क्योंकि जो धन वे छोड़ नहीं सकते, वही धन उन्हें आबद्ध कर लेता है। इस बन्धन को जिसने जितना बड़ा किया है उतना ही वह विपदग्रस्त हुआ।"

ये समस्त बन्धन दिन-प्रतिदिन शिथिल होते जायँ और त्याग हमारे लिए सहज स्वाभाविक होता जाय, उपासना से यह फल प्राप्त होना

चाहिए। नाना प्रकार की आसक्तियों के निविड़ गाढ़ आकर्षण में हमारी प्रकृति एकदम पत्थर के समान हो गई है। उपासना के समय अमृत का झरना झरता रहे और हमारे अणु-परमाणुओं के छिद्रों में होकर प्रवेश करता रहे और इस पाषाण को दिन-प्रतिदिन विश्लिष्ट करता रहे, आर्द्र करता रहे, तत्पश्चात् धीरे-धीरे इसे नाश करके और दूर हटाकर जीवन में एक वृहत् आकाश की रचना करके उस आकाश को पूर्ण कर दे। देखो एक बार अन्तर्मुख होकर देखो, अन्तर के समस्त संकोच उनके नाम के आघात से प्रसारित होते जा रहे हैं और सभी प्रसन्न होते जा रहे हैं, शान्त होते जा रहे हैं। कर्म सहज होता जा रहा है और सबके साथ सम्बन्ध सत्य तथा सरल होता जा रहा है, स्वयं ईश्वर की महिमा मानव-जीवन में धन्य हो उठी है।

त्याग का फल

किन्तु हम त्याग क्यों करें, इस प्रश्न का पूर्ण उत्तर अच्छी तरह अभी गले नहीं उतरा, शास्त्र उत्तर देते हैं—त्याग के बिना स्वाधीनता की प्राप्ति नहीं होती। जिसे हम त्याग नहीं करेंगे वही वस्तु हमें बद्ध करके रखेगी, त्याग द्वारा ही हम मुक्त हो सकेंगे।

हम मुक्ति-लाभ करेंगे ही, इस वाक्य का जोर हमारे अन्तर पर है ही नहीं। हम मुक्ति चाहते कहाँ हैं? हमारे अन्तर में तो अधीनता की ओर ही एक विषम झुकाव है, हम तो इच्छापूर्वक और खुशी-खुशी संसार के अधीन हुए हैं।

हम तो लोटे के अधीन, थाली के अधीन, मृत्यु के अधीन, कथा के अधीन, प्रथा के अधीन, असंख्य प्रवृत्तियों के अधीन, इतने बड़े जन्म से अधीन,दासानुदास के लिए यह कहना ही मिथ्या है कि "मुक्ति में तुम्हारी सार्थकता है।" जो व्यक्ति स्वभावतः एवं स्वेच्छा क्रम से ही बद्ध है, उसे मुक्ति का प्रलोभन दिखाना मिथ्या है। वास्तव में मुक्ति उसके लिए शून्यता, निर्वाण अथवा मरुभूमि है। जिस मुक्ति में घर-द्वार, बर्तन-भाण्डे,

पैसा-कौड़ी कुछ भी न रहें, और जिसको उसने एकमात्र आश्रय समझा था, समस्त विलुप्त हो जाय, उसके लिए वह मुक्ति विभीषिका है, विनाश है।

हमारा त्याग यदि शून्यता में हो तो सब हानि-ही-हानि है। एक कानी कौड़ी भी शून्य में इस प्रकार विसर्जन करना हमें असह्य होगा। किन्तु त्याग तो शून्य में नहीं होता। कहा है, "यद्-यद् कर्म प्रकुर्वीत तद्-ब्रह्मणि समर्पयेत्।" जो भी कर्म करो भगवान् के अर्पण कर दो। अपने संसार को, अपने प्रियजन को, अपना जो कुछ है उसको, उन्हें ही निवेदन करके दान करो। यही त्याग है, यही परिपूर्णता में विसर्जन है, जिसको हम पूर्ण में त्याग करते हैं, उसे सत्य के रूप में पूर्ण के रूप में प्राप्त करते हैं, यह बात पहले ही बता चुके हैं। किन्तु इससे यह प्रसंग शेष नहीं होता। केवल लाभ की बात से किसी प्रसंग की समाप्ति नहीं हो सकती—लाभ से और क्या होगा यह प्रश्न रह जाता है। स्वाधीन होकर ही क्या हो जायगा और पूर्णता लाभ करने से ही क्या हो जायगा?

किसी बालक से जब यह जिज्ञासा करो कि पैसा लेकर क्या करोगे, उत्तर यदि मिले कि बाजार जाऊँगा, तो भी प्रश्न रह जाता है कि बाजार जाकर क्या करोगे? गुड़िया लाएँगे। गुड़िया लाकर क्या करोगे? खेलेंगे। खेलकर क्या करोगे? तब एक ही उत्तर में सब प्रश्न समाप्त हो जाते हैं, खुश होंगे। खुश होकर क्या करोगे, ऐसा प्रश्न कोई भी अपने अन्तर में नहीं उठा सकता। इच्छा की पूर्ण चरितार्थता से जो आनन्द उत्पन्न होता है उस आनन्द से ही सकल अनुसंधान निःशेष हो जाते हैं।

किस प्रकार संग्रह करें जिसके द्वारा त्याग-शक्ति का जन्म हो? उसे हम अपनी प्रतिदिन की उपासना में थोड़ा-थोड़ा संग्रह करते हैं। प्रातःकाल में उस चैतन्य स्वरूप के साथ अपने चैतन्य को निविड़ भाव में परिवेष्ठित करके देखने के लिए एक क्षण के लिए भी जो समस्त आवरण त्यागते हैं, सद्योजात शिशु की भाँति अनावृत होकर उनके सामने आत्मा को समर्पण करते रहते हैं। उसी से शनैः-शनैः थोड़ा-थोड़ा करके त्याग-

शक्ति जमा होती रहती है। तब आनन्द के साथ आनन्द का, और प्रेम के साथ प्रेम का मिलन निश्चय ही क्रमशः कुछ-न-कुछ सहज होता जाता है।

तो किस प्रकार त्याग करें? संसार के बीच अपने अन्तर से एक मंगल यज्ञ आरम्भ कर दो; उस मंगल यज्ञ द्वारा अपने भण्डार का एक बहुत छोटा द्वार भी यदि खुला रखो तो देखोगे कि आज जिस अनभ्यस्त द्वार को धीरे-धीरे खींचने से एक आर्त नाद उत्पन्न होता है, जिस मोरचा लगे ताले में चाबी घूमती नहीं, क्रम से उसका खुलना एक अति सहज व्यापार हो जायगा। यदि किसी शुभ उपलक्ष्य में त्याग आरम्भ हो तो वह क्रमशः एक दिन विस्तृत हो जायगा। संसार को तो हम रात-दिन समस्त देते ही रहते हैं, भगवान् को भी कुछ देओ, प्रतिदिन अपने हृदय से एक मुष्टि भिक्षा देओ—वह निस्पृह भिखारी अपना पात्र हाथ में लेकर प्रसन्न-वदन प्रतिदिन हमारे द्वार पर आते हैं और प्रतिदिन लौट जाते हैं। उन्हें एक मुष्टि दान करने का यदि हम अभ्यास करें तो वही दान हमारे लिए महान् हो जायगा। क्रमशः किसी दिन वह हमारी मुट्ठी में भी नहीं समायेगा और ऐसे ही किसी दिन कुछ भी हाथ में रख न सकेंगे। किन्तु उन्हें जो कुछ देना है वह एकान्त में ही देना होगा, उसके लिए किसी मनुष्य से थोड़ी-सी भी ख्याति प्राप्त करने की आकांक्षा करने से काम नहीं चलेगा, क्योंकि संसार को दिखाकर देना एक प्रकार से हरण करने के बराबर है। किन्तु उस महाभिक्षु को जो देना होगा, वह अल्प होते हुए भी निःशेष होना चाहिए। उसका हिसाब रखने से और रसीद माँगने से काम नहीं चलेगा। दिन में यदि हमारा कोई एक दान भी इस रूप से परिपूर्ण दान हो सके तो वह उस परिपूर्ण स्वरूप के पास परिपूर्ण त्याग हो जाता है और संसार के बीच केवल इतने-से आचरण द्वारा ही उनसे एकांकी गुप्त भाव में साक्षात्कार का हमें एक यही अवकाश प्राप्त होता है।

प्रेम

वेद मन्त्र में आता है—"मृत्यु भी उनकी छाया है और अमृत भी उनकी छा[illegible]।" काल भी उनके बीच एकाकार होकर स्थित है। जिनके बीच समस्त द्वन्द्वों का अवसान हो गया है, चरम सत्य वही है। वही हैं विशुद्धतम ज्योति, वही हैं निर्मलतम अन्धकार।

संसार के समस्त विपरीत धर्मों का समन्वय यदि एक ही सत्य में विघटित न हो तो उसे चरम सत्य कहकर नहीं माना जा सकता। तब उसमें जितना-सा भी विरोध न समाये उसके लिए एक और सत्य को मानना पड़ता है।

किन्तु हम ब्रह्म में किसी का मिश्रण नहीं मानते—हम जानते हैं वही एक सत्य हैं, खण्ड सत्य का समस्त विरोध उनमें सामञ्जस्य प्राप्त करता है। हम जानते हैं एक वही हैं और कोई नहीं, खण्ड सत्ता की समस्त विच्छिन्नता उनमें सम्मिलित होकर रह गई है।

किन्तु यह तो हुआ तत्त्व का बखान। वह सत्य हैं कहकर जानना तो शुष्क ज्ञान हुआ। उसके साथ हमारे हृदय का योग कहाँ हुआ? इस सत्य में क्या कोई रस नहीं है?

ऐसे कहने से कैसे काम चलेगा? जिस प्रकार समस्त सत्य का उनमें समावेश हुआ है, उसी भाँति समस्त रस भी तो उन्हीं में समाया हुआ है। इसलिए उपनिषद् में उन्हें केवल सत्य नहीं कहकर, रस-स्वरूप भी कहते हैं। उन्हें परिपूर्ण रस के स्वरूप में जानने से ही ज्ञान की सार्थकता है। इसलिए सिद्धान्त यह स्थापित होता है कि जो चरम सत्य हैं, वही परम रस भी हैं, अर्थात् वे प्रेम स्वरूप हैं। नहीं तो उनमें किसी का भी समाधान नहीं हो पाता, भेद भेद ही रह जाता, विरोध केवल आघात ही करता और मृत्यु केवल हरण ही, उनके बीच जो यह सबका सम्मिलन होता है वह कोई एक ज्ञान-तत्त्व का मिलन नहीं है—उसमें एक प्रेम तत्त्व भी है। उसी के लिए सबको आपस में मिलना पड़ता है, इसी-

लिए ही विच्छेद, विरोध आदि कभी चिरन्तन सत्याकार होकर नहीं रह सकते ।

इच्छा की अन्तिम चरितार्थता प्रेम में है । प्रेम में कैसे क्या होगा इस प्रकार के प्रश्न ही नहीं ठहर सकते । प्रेम अपने-आप ही अपना जवाबदेह है । अपना ही लक्ष्य है ।

यदि कहो कि त्याग द्वारा त्यक्त वस्तु से मुक्ति हो जायगी, तो हम उससे सहमत नहीं हैं । यदि कहो कि त्याग द्वारा त्यक्त वस्तु को पूर्णतर-रूप में प्राप्त करेंगे, तो भी हमारे मन को पूर्वरूपेण उत्तर नहीं मिलता । यदि कहो कि त्याग द्वारा प्रेम-लाभ होगा, तो मन और कोई शंका उत्पन्न नहीं कर सकता । इसी वार्ता को यदि वह ठीक तरह सावधान होकर सुने तो वह कह उठेगा "इसी की प्राप्ति से रक्षा है ।"

त्याग का प्रेम के साथ एक भारी सम्बन्ध है, ऐसा सम्बन्ध है कि कौन आगे और कौन पीछे यह निश्चय करना तो कठिन, प्रेम बिना त्याग नहीं और त्याग बिना प्रेम असम्भव । जो वस्तु प्रयोजन-पूर्ति के लिए अथवा अत्याचार की ताड़ना से छीन ली जाय वह तो त्याग नहीं है— हम प्रेमवश जो दें वही सम्पूर्णतया देते हैं, उसका कुछ शेष नहीं रखते, उसी देने को मैं सार्थक दान मानता हूँ । किन्तु त्याग की साधना के अन्त में यह प्रेम ही हमारे पास रह जाता है । जो लोग सदा अपनी ही ओर खींचते रहते हैं, अपने ही अहंकार को विजयी करने में व्यस्त रहते हैं, उन्हीं स्वार्थ-पर दाम्भिक व्यक्तियों के मन में प्रेम का सूर्य पूर्णतया कूहेलिका में आच्छन्न रहता है ।

स्वार्थ का बन्धन छोड़ना होगा, अहंकार का नागपाश मोचन करना होगा । जिसे जमा करने के लिए खपाया है, उसे ही प्रतिदिन त्याग करके बैठना होगा, जिससे त्याग सहज हो सके, अपनी ओर का खिचाव प्रत्यह अलग होता रहे । इस प्रकार आचरण करने से ही क्या मिलेगा ? मुक्ति का जो चरम लक्ष्य प्रेम है वही मिलेगा । प्रेम कौन हैं ? वही हैं जो कोई प्रयोजन न होते हुए भी हमारे लिए सर्वस्व त्याग कर रहे हैं ।

वही है प्रेमस्वरूप। वे अपनी शक्ति हमारे लिए विश्व-ब्रह्माण्ड में व्याप्त कर अबाध गति से उत्सर्ग कर रहे हैं। समस्त सृष्टि ही उनका कृत उत्सर्ग है। "आनन्दा द्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते" यह सारी सृष्टि आनन्द से हो रही है, दुख से कुछ भी उत्पन्न नहीं होता। वही स्वयम्भू, वही स्वतः उत्सारित प्रेम समस्त सृष्टि का मूल कारण है।

इन प्रेम-स्वरूप के साथ ही हमारा पूर्ण योग होने से हमारी समुदय (पूर्ण) इच्छा की पूरी-पूरी चरितार्थता हो सकेगी। सम्पूर्ण योग होते ही जिसके साथ योग होता है उसी के अनुरूप हमको होना पड़ता है। प्रेम के साथ प्रेम द्वारा ही योग हो सकता है।

किन्तु प्रेम तो मुक्त भी है और स्वाधीन भी है। दासत्व में और प्रेम में और कोई फरक या भेद नहीं है। केवल दासता में बन्धन है और प्रेम में मुक्ति। प्रेम अपने ही नियम में, अपने ही उच्चतम भाव में, प्रतिष्ठित है, वह अपने से अधिक गौरवशाली किसी के पास, किसी विषय में, कोई किसी प्रकार की व्याख्या नहीं देता।

इसलिए प्रेमस्वरूप से मिलने के निमित्त हमें सम्पूर्ण तथा स्वाधीन होना होगा। स्वाधीन हुए बिना स्वाधीन के साथ आदान-प्रदान सम्भव नहीं है। उनके साथ हमारी यह बात तै-सी हो ली है, उन्होंने हमसे कह रखा है "तुम मुक्त होकर मेरे पास आओ, जो व्यक्ति दास है, उसके लिए मेरा आम दरबार तो अवश्य खुला है, किन्तु मेरे खास दरबार में वह प्रवेश नहीं पा सकता।"

किसी-किसी समय मन के आग्रह से हम उनके खास दरबार के दरवाजे पर दौड़कर जाते हैं, किन्तु द्वारपाल बार-बार हमें लौटा देता है। कहता है "अपना निमन्त्रण-पत्र दिखाओ," ढूँढ़ने पर पता चलता है कि हमारे पास जो निमन्त्रण पत्र हैं, वह तो कोई धन का निमन्त्रण है तो कोई यश का है, अमृतत्व का है ही नहीं। बार-बार वापस आना पड़ता है—बार-बार ही टिकट-परीक्षक को धोखा देने की सामर्थ्य नहीं है। हमने दाम देकर जिस स्टेशन का टिकट खरीदा है, वहीं उतरना

होगा। हमने तो अनेक काल साधना करके, बहुत कष्ट के साथ संचय करके इस संसार लाइन के अनेक गम्य स्थानों का टिकट खरीदा है। वह दूसरी लाइन पर तो काम देता नहीं। अब इसी समय से दूसरी लाइन के लिए पैसे संग्रह करने होंगे, और अबसे जो कुछ संग्रह करना है और जो कुछ त्याग करना है, वह केवल प्रेम के ही लिए।

सामञ्जस्य

हम और कोई चरम बात जानें या न जानें, अपने अन्तर में एक चरम निश्चय पर पहुँच गए हैं और वह यह है कि समस्त द्वन्द्व एकमात्र प्रेम में ही एक साथ मिलकर रह सके हैं। युक्ति में एक-दूसरे की काट करते हैं, कर्म में एक-दूसरे पर वार करते हैं, किसी प्रकार भी एक होना नहीं चाहते, केवल प्रेम में अभेद हो जाते हैं। तर्क-क्षेत्र में और कर्म क्षेत्र में जो दिति पुत्रों और अदिति पुत्रों के समान परस्पर पूर्ण विनाश के लिये सर्वदा उद्यत रहते हैं, प्रेम-क्षेत्र में अपने भाई हो जाते हैं।

तर्क-क्षेत्र में द्वैत और अद्वैत परस्पर घोर-विरोधी हैं, हाँ, जिस प्रकार 'ना' का विरोधी 'हाँ' और 'ना' जिस प्रकार 'हाँ' का, वे उसी प्रकार के विरोधी हैं। किन्तु प्रेम-क्षेत्र में द्वैत और अद्वैत ठीक एक ही स्थान पर सटकर बैठ जाते हैं। प्रेम में एक ही समय दो भी होना चाहते हैं और एक भी। इन प्रकाण्ड विरोधियों में से एक को भी बहिष्कार करने से नहीं चलता। जो विरुद्ध है उसे अविरुद्ध होकर रहना पड़ेगा, यह एक अलौकिक काण्ड है जो केवल प्रेम में घटित हो सकता है। अन्य के लिए मैं क्यों उत्सर्ग करने जाऊँ, इसके आन्तरिक रहस्य की गहराई को इसीलिए ठीक से नहीं जाँच सकता। किन्तु स्वार्थ क्या है समझना कठिन है।

क्योंकि भगवान् प्रेम-स्वरूप हैं इसीलिए वह एक को दो कर देते हैं और दो को एक कर देते हैं। यह स्पष्ट ही है कि जिस प्रकार द्वैत सत्य है उसी प्रकार अद्वैत भी। इस अद्भुत व्यापार की युक्ति द्वारा थाह नहीं

मिल सकती क्योंकि यह तो प्रेम का काण्ड है।

इसीलिए ईश्वर के सम्बन्ध में उपनिषदों में विरोधी व्याख्या मिलती है। 'य एको ह वर्णो बहुधा शक्ति योगात् वर्णाननेकान्निहिता-र्थोदधाति'—वह एक हैं, उनका कोई वर्ण नहीं, बहु शक्ति सम्पन्न, वह जातिहीन एक है, किन्तु अनेक जातियों के गम्भीर सकल प्रयोजन का भी विधान करते हैं वह प्रेम स्वरूप जो हैं। उनका काम केवल एक रहकर नहीं चलता, इसलिए अनेकों का वह विधान करते रहते हैं।

'सपर्यगात् शुक्र' और वह ही 'व्यद्धात्शाश्वतीभ्यः समाभ्यः' अर्थात् अनन्त देश में वह शुद्ध-रूप में होकर व्याप्त रहते हैं और अनन्त काल में वह विधान करते हैं, वह कार्य करते हैं। एक ही आधार पर उनकी स्थिति भी है और गति भी।

अपनी प्रकृति में भी स्थिति और गति का सामञ्जस्य हम केवल एक जगह देख पाते हैं और वह है प्रेम। इस चंचल संसार के बीच जहाँ हमारा प्रेम है, केवल मात्र उसी स्थान पर हमारे चित्त को स्थिरता मिलती है और बाकी सबको स्पर्श करके चले जाते हैं, पकड़ते हैं और छोड़ देते हैं, किन्तु जहाँ प्रेम है वहाँ मन स्थिर रहता है। और उसी स्थान पर उसकी क्रिया भी अधिक है। वहाँ हमारा मन भी सबसे अधिक सक्रिय है। प्रेम में ही जहाँ वह स्थिर है वहीं वह अस्थिर भी है। स्थिति और गति का प्रेम में ही एक आकार हो जाता है।

कर्मक्षेत्र में त्याग एवं लाभ भिन्न श्रेणीयुक्त हैं, उनका अर्थ विपरीत है। प्रेम में जो त्याग वही लाभ। जिससे प्रेम करते हैं उसे देना लाभ ही है। आनन्द के हिसाब के खाते में जमा और खर्च एक ही जगह रखा जाता है, वहाँ जो देना है वह पाना भी है। भगवान् और सृष्टि के बीच यह आनन्द-यज्ञ हो रहा है।

उन्होंने जो यह प्रेम का खेल रचाया है उसमें उन्होंने स्वयं को उत्सर्ग करके स्वयं को लाभ किया है। इसी देन-लेन को पूर्ण एकाकार करके देने का नाम है प्रेम।

दर्शन शास्त्र ने एक महान् तर्क खड़ा कर दिखाया है। ईश्वर पुरुष है अथवा अपुरुष, सगुण है या निर्गुण, 'पर्सनल' है या 'इमपर्सनल'। प्रेम के प्रकरण में यह 'हाँ' और 'ना' एक साथ ही मिले-घुले हैं। प्रेम की एक कोटि है सगुण और एक निर्गुण। उसके एक अंग से 'मैं हूँ' की पुकार आती है और दूसरे से 'मैं नहीं हूँ' की। 'मैं' न होने से भी प्रेम नहीं हो सकता और 'मैं' नहीं छोड़ने से भी प्रेम नहीं हो सकता है।

इसीलिए भगवान् सगुण है या निर्गुण यह सब तर्क की बात है, केवल तर्क के क्षेत्र की बात। तर्क तो उन्हें स्पर्श भी नहीं कर सकता।

पाश्चात्य धर्म तत्त्व में बताया है कि हमारी उन्नति का अन्त नहीं है। हम क्रमशः ही उनकी ओर अग्रसर हैं। किसी भी काल में उनसे सम्मिलन नहीं हो सकता। हमारे उपनिषद् कहते हैं, हम उनके पास जा भी नहीं सकते और जा भी सकते हैं, उन्हें पा नहीं सकते और पा भी सकते हैं।

यतो वाचो निवर्तंते अप्राप्य मनसा सह
आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन।

ऐसी अद्भुत् और परस्पर विरुद्ध भाषाएँ एक ही श्लोक के दो चरणों में ऐसी सुस्पष्ट और कहीं-सुनी नहीं गईं। केवल वाणी ही नहीं लौट आती मन भी उन्हें प्राप्त किये बिना लौट आता है, यह है साफ-साफ जवाब। और फिर ब्रह्म के आनन्द को जिन्होंने अनुभव किया है उन्हें किसी का भी भय नहीं रहता। तब ही तो जिन्हें बिलकुल जाना न जा सके उन्हें फिर ऐसा जाना जाय कि किसी का भी भय न रहे। यह ज्ञान किसका ज्ञान है। आनन्द का, प्रेम का, इसे कहते हैं समस्त अज्ञात को उल्लंघन करके जानना। केवल प्रेम के बीच ही अविज्ञात व ज्ञात से ऐकान्तिक विरोध नहीं होता। स्त्री अपने स्वामी को ज्ञान के परिचय से सब ओर से सम्पूर्णतया नहीं जान सकती, किन्तु प्रेम द्वारा जानने से, आनन्द द्वारा जानने से ऐसा जान पाती है कि कोई ज्ञानी भी उस प्रकार नहीं जान सकता। प्रेम के भीतर एक ऐसा अद्भुत् रहस्य है

जहाँ एक तरफ़ यदि कुछ भी न जानें वहाँ दूसरी तरफ से सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है। प्रेम में ही वह असीम सीमा में बद्ध होते हैं एवं सीमा असीम को आलिंगन किये हुए है। तर्क के द्वारा इसकी मीमांसा नहीं हो सकती।

धर्मशास्त्र में पाया जाता है कि मुक्ति एवं बन्धन में इतना विरुद्ध सम्बन्ध है कि एक दूसरे को तनिक भी रियायत नहीं करता। बन्धन को निःशेष बहिष्कार करके ही मुक्ति-लाभ होती है, यह उपदेश हमें दिया जाता है। स्वाधीनता जैसे कोई एक चूड़ान्त वस्तु है। पाश्चात्य शास्त्रों में भी इस संस्कार को हमारे मन में बद्धमूल कर दिया है। किन्तु एक क्षेत्र है, जहाँ अधीनता तथा स्वाधीनता ठीक एक समान गौरव भोग करते हैं, यह बात हमें भूलनी नहीं चाहिए। वह क्षेत्र है प्रेम का। वहाँ पर अधीनता स्वाधीनता के सामने एक बाल-भर भी मस्तक नीचा नहीं करती। प्रेम ही पूर्ण स्वाधीन और प्रेम ही अधीन है।

ईश्वर केवल मात्र मुक्त ही तो नहीं हैं। यदि होते तो वह एकदम निष्क्रिय होते। उन्होंने तो स्वयं को बन्धन में डाल रखा है। बन्धन में डाल न रखा होता तो सृष्टि ही न होती, एवं सृष्टि में कोई नियम अथवा कोई तात्पर्य भी दिखाई न देता। उनका जो आनन्द रूप है, उसी रूप में वह प्रकाश पाते हैं और वही उनके बन्धन का भी रूप है। इसी बन्धन में वह हमारे अपने हैं और हमें सुन्दर लगते हैं। यही बन्धन हमारा-उनका प्रणय-बन्धन है। इसी निजकृत स्वाधीन बन्धन में ही तो हमारे वह सखा हैं, हमारे वह पिता हैं। इसी बन्धन में यदि वह न बंधते तो हम यह न कह पाते कि 'स एव बन्धुर्जनिता स विधाता'—वह ही बन्धु, वह ही पिता और वह ही विधाता है। इतना बड़ा एक आश्चर्य-पूर्ण वाक्य मनुष्य के मुख से निकल ही न पाता। कौन-सा बड़ा वाक्य? ईश्वर शुद्ध बुद्ध मुक्त। यह नहीं, वह हमारे साथ पितृत्व में, सखित्व में, पतित्व में बद्ध हैं, ये दोनों ही एक समान बड़े वाक्य हैं। अधीनता को अत्यन्त छोटी वस्तु मानकर देखने से उसके सम्बन्ध में हमारे अन्तर

में एक हीन संस्कार उत्पन्न हो गया है। इसी प्रकार हमारे और भी अनेक हीन संस्कार हैं। जिस प्रकार हम छोटे को तुच्छ समझते हैं और बड़े को महान्, जैसे कोई गणित शास्त्र द्वारा किसी को महत्त्व दे सकते हों। उसी प्रकार सीमित को हम भला-बुरा कहते रहते हैं। सीमा वस्तुत: क्या है, जैसे हम जानते ही हों। सीमा एक परम आश्चर्यमय रहस्य है। यह सीमित ही तो है जो असीम को प्रकाशित कर रहा है। कैसा अनिवर्चनीय है, यह कैसा आश्चर्यमय रूप है। कैसा आश्चर्यमय गुण है। कैसा आश्चर्यमय विकास है। एक रूप से और एक रूप, एक गुण से और एक गुण, एक शक्ति से और एक शक्ति, ऐसे का भला नाश कहाँ, और ऐसे की सीमा भी कहाँ। जो सीमा धारणातीत वैचित्र्य में, अगणनीय बहुलत्व में, अशेष परिवर्तन परम्परा में प्रकाश पाती है उसकी अवज्ञा करने की सामर्थ्य किस में है। वस्तुत: हम अपनी भाषा की स्वयं ही अवज्ञा करते हैं, किन्तु सीमा-जैसे पदार्थ की अवज्ञा करना हमारे अधिकार में नहीं है। असीम की अपेक्षा में सीमित किसी अंश में कम आश्चर्यमय नहीं है, अव्यक्त की अपेक्षा व्यक्त किसी प्रकार भी अश्रद्धेय नहीं है। अधीनता और स्वाधीनता को लेकर हम लोग वाक्य का खेल कर रहे हैं। अधीनता भी स्वाधीनता के साथ एक आसन पर बैठकर राज्य कर रही है, यह बात हम भूल जाते हैं। स्वाधीनता को ही हम चाहते हों यह बात नहीं, अधीनता को भी हम चाहते हैं, जिस चाह से हमारे भीतर की इन दो चाहों का सम्पूर्ण सामञ्जस्य होता है, वह है हमारे प्रेम की चाह। बन्धन को स्वीकार करके बन्धन को अतिक्रम करें, यह है प्रेम का व्यापार। प्रेम जैसा स्वाधीन वैसा और कोई स्वाधीन नहीं और फिर प्रेम में जितनी बड़ी अधीनता है, उतनी बड़ी अधीनता भी जगत् में और कहीं है ?

अधीनता कितनी गौरवपूर्ण है यह हमें वैष्णव-धर्म से पता लगता है। अद्भुत साहस के साथ संकोच-रहित होकर कहते हैं कि भगवान् अपने को जीव के साथ बाँधे हुए हैं। इस परम गौरव के ऊपर ही उनका

अस्तित्व निर्भर है। हमारा यही परम अभिमान है कि वह हमको छोड़कर रह ही नहीं सकते, यह बन्धन उन्होंने मान लिया है, नहीं तो हमारा अस्तित्व ही किस प्रकार हो सकता है।

मां जिस प्रकार सन्तान की, प्रेमी जिस प्रकार दूसरे प्रेमी की सेवा करता है, उसी प्रकार वह विश्व से मुक्त होकर हमारी सेवा करते हैं। उन्होंने अपने-आप सेवक बनकर सेवा को असीम माहात्म्य दिया है। वह तो अपने प्रकाण्ड जगत् को लेकर खूब धूमधाम कर सकते थे, किन्तु हमारे मन को भुलावा देने की इतनी चेष्टा क्यों? नाना छलों में, नाना कलाओं में विश्व के साथ हमारे असंख्य मन लुभाने वाले सम्पर्क क्यों फैला कर रखे हैं? इस लुभाने वाले अप्रयोजनीय आयोजन का क्या कोई अन्त है। वह नाना दिशाओं से केवल यह ही कह रहे हैं "मैं तुम को अपना आनन्द दे रहा हूँ, अपना आनन्द मुझको दो।" उन्होंने अपने-आपको चारों ओर से सीमा के अपरूप छन्द में बाँध रखा है। नहीं तो प्रेम का गीति-काव्य प्रकाश ही न हो पाता। इस प्रेमस्वरूप के साथ जहाँ कहीं भी हमारे प्रेम का स्वर ठीक प्रकार से नहीं मिलता वहाँ ही समस्त जगत् में वह बेसुरा है। वहाँ कितने दुःख की उत्पत्ति हो उठती है जिसकी कोई सीमा नहीं—आँख से आँसू थमते ही नहीं। ओ प्रेमिक! तुम मुझसे प्रेम बलपूर्वक तो लोगे नहीं, मन को लुभाकर ही लोगे, किसी एक दिन पूर्ण मन और प्राण से अच्छी तरह रुला कर, अपने प्रेम-प्रसाद का ऋण चुकता कराओगे। इसीलिए इतना विलम्ब हो रहा है—इसीलिए तो सांझ हुई जा रही, तो भी मेरे अभिसार की सज्जा (सजावट) पूरी नहीं हुई।

क्या चाहिए?

हमने इतने दिन प्रत्यह अपनी उपासना से क्या बल चाहा? हमने चाही थी शान्ति। सोचा था कि वह उपासना, वनस्पति की तरह हमको छाया देगी, प्रतिदिन संसार के ताप से हमको बचायेगी। किन्तु शान्ति

चाहने से तो शान्ति मिलती नहीं। उससे और कहीं अधिक याचना न करने से शान्ति की प्रार्थना भी विफल हो जाती है। ज्वर से पीड़ित रोगी कातर होकर कहता है 'मेरी ज्वाला शान्त हो जाय', और अवसर मिले तो जल में भी कूद पड़े। उससे जो कुछ शान्ति मिलती है वह स्थायी तो होती नहीं उससे तापमान और बढ़ जा सकता है। रोगी यदि शान्ति चाहे और स्वास्थ्य न चाहे, तो उसे न शान्ति मिलती है न स्वास्थ्य। हमारा काम भी केवल शान्ति से नहीं चलेगा, प्रेम भी चाहिए। वरंच मन में थोड़ी-सी जो शान्ति कभी मिलती है, वह इस-लिए कि क्षणमात्र के लिए एक स्निग्धता का आवरण हमारे ऊपर आ पड़ता है, वही हमें भुला देता है और हम मन में निश्चिन्त होकर कह उठते हैं कि हमारी उपासना सार्थक हुई। किन्तु अन्तर में सार्थकता कहीं दिखाई नहीं पड़ती।

क्योंकि देखते हैं कि व्याधि तो जाती नहीं। समस्त दिन की नाना घटनाओं में हम देखते हैं कि संसार के साथ हमारा सम्बन्ध सहज नहीं हो पाया। रोगी के साथ जिस प्रकार उसकी बाहर की प्रकृति का सम्बन्ध होता है उसी प्रकार यह भी है। यदि बाहर सामान्य ठण्डक है तो रोगी के देह में असह्य शीत का अनुभव है, बाहर का स्पर्श यदि अत्यन्त मृदु भी हो तो रोगी के देह में दुःसह वेदना प्रतीत होती है। हमारी भी वही दशा है, बाहर के व्यवहार में हमारा समतोल स्थापित नहीं हुआ। छोटी बात को बहुत बड़ी मानकर सुनते हैं, और छोटी-सी बात को अत्यन्त भारी बना देते हैं। भार कब बढ़ता मालूम होता है ? केन्द्र की ओर भार का आकर्षण जब अधिक होता है, तभी ना पृथ्वी पर जिस वस्तु को हम हल्की करके सहज में ही उठा लेते हैं यदि वृहस्पति नक्षत्र में ले जायँ तो वह उतना-सा ही भार हमारी हड्डी तोड़ दे सकता है, क्योंकि वहाँ केन्द्र की ओर का आकर्षण पृथ्वी की अपेक्षा कहीं अधिक है। वही हम अपने में देखते हैं। हमारे अपने केन्द्र की ओर का आकर्षण अत्यन्त तीव्र है। हमारा स्वार्थ भीतर की ओर खींच रहा है,

अहंकार भीतर की ओर खींच रहा है। इसलिए सारी वस्तुएँ अत्यन्त भारी ही लगती हैं। जो तुच्छ है वह भी केवल मात्र हमारे अपने खिंचाव के जोर से हमें दबाये हुए हैं। सब ही वस्तु हमें ठेस लगा रही हैं, सब बातें हमें ठोकर लगा रही हैं। क्षणिक शान्ति द्वारा इसको भूल जाने से हमें लाभ ही क्या होगा? यह दबाव हल्का कब पड़ता है? प्रेम में। जब यह खिंचाव बाहर की ओर हो जाता है। हम अनेक जगह अपने जीवन में इसका परिचय पाते हैं। जिस दिन प्रणयी के साथ हमारा प्रणय विशेष भाव में सार्थक होता है, उस दिन आकाश का प्रकाश उज्ज्वलतर, बन की श्यामलता श्यामलतर प्रतीत होती है। इतना ही नहीं, उस दिन हमारे संसार के भाराकर्षण का खिंचाव एकदम अलग हो जाता है। और दिन भिक्षुक को एक पैसा ही देते थे तो उस दिन उसे अठन्नी दे डालते हैं अर्थात् अन्य दिन जो एक पैसे का भार था वही आज बत्तीस पैसे का भार है। अन्य दिन जिस कार्य में हम हैरान हो जाते थे आज उसी कार्य में क्लान्ति का अनुभव नहीं। हठात् कार्य हल्का हो गया। पैसा वही पैसा है, कार्य वही कार्य है, केवल उसका भार कम हो गया है। क्योंकि खिंचाव आज हमारे केन्द्र की ओर नहीं है, प्रेम ने हमको एक बार में ही, एक मूहूर्त में, बाहर खींचकर, समस्त जगत् का बोझ उतारकर रख दिया।

हमारी साधना जिस प्रकार की भी हो, उसके साथ-साथ यदि संसार का बोझ हल्का होता रहे तो हम समझेंगे कुछ नहीं हुआ। यदि अनुभव करें कि पैसे का वज़न उतना ही भयानक है, उपकरणों का बोझ हमें उतना ही दबाये हुए है, उनमें से अति छोटे-से को भी फेंक देने का बल हममें नहीं है, यदि अनुभव करें कि कार्य जितना महान् है उसका भार उससे कहीं अधिक है, तो यह समझना होगा कि प्रेम नहीं प्राप्त कर सके—हमारी वरण-सभा में वर ही नहीं आया।

तो फिर उतनी सी शान्ति लेकर क्या होगा? वह तो हमारी असल चीज़ को धोखा देकर, थोड़े ही में सन्तोष कराके रखेगी। प्रेम में तो

शान्ति ही नहीं, अशान्ति भी है। जल-ज्वार के समान उसमें केवल पूर्णता ही नहीं है, उसके समान गतिवेग भी है। यह हमको पूर्ण होकर बैठा रहने नहीं देगा, वह हमको भाटे के मुख से लौटाकर उल्टा खींच-कर भी ले जायगा, तब फिर इस चंचल संसार-नौका को लेकर, रस्सी बाँधकर खींचातानी करते और लग्गी से ठेलाठेली करते ही मरना नहीं होगा, वह अग्नि की ज्वाला के समान भासमान होकर ले चलेगा।

जब तक प्रेम का खिंचाव हमें नहीं पकड़ता, तब तक शान्ति का क्या काम? तब तक तो अशान्ति का ही अनुभव कर पाते हैं। उतने दिन समझो वेदना लेकर ही रात्रि को सोते हैं और वेदना लेकर ही प्रातःकाल उठते हैं, इसलिए प्रेम को अपने नयनों के नीर में प्रदर्शित कर दो, स्थिर मत रहने दो।

प्रतिदिन प्रातःकाल जब अन्धकार का द्वार उद्घाटित हो, तो देख सकूँ मानो आप बन्धु-रूप में उपस्थित हैं, सुख का दिन हो, दुःख का दिन हो, चाहे विपद् का दिन हो, आपके दर्शन हो जाने पर फिर और कोई चिन्ता नहीं रहेगी, फिर समस्त ही सह्य होगा। जब प्रेम नहीं होता, हे सखा, तब ही शान्ति के लिए पुकार होती है। तब ही अल्प पूँजी होने से कोई आघात सहन नहीं होता। किन्तु जब प्रेम का अभ्युदय हो जाता है तो जिस दुःख और जिस अशान्ति में प्रेम की परीक्षा होती है उस दुःख और अशान्ति को मस्तक पर उठा सकते हैं। हे बन्धु, उपासना के समय में हम शान्ति नहीं चाहेंगे, केवल चाहेंगे प्रेम। प्रेम शान्ति-रूप में भी आयेगा, सुख में भी आयेगा और दुःख में भी आयेगा—वह किसी भी वेश में आए उसके मुख को देखते ही हम कह सकें तुम्हें पहचान लिया है बन्धु, तुम्हें पहचान लिया है।

प्रार्थना

उपनिषद् भारतवर्ष के ब्रह्मज्ञान की वनस्पति है। वह केवल सुन्दर श्यामल छायामय ही नहीं है, गहन और कठिन भी है। इसमें केवल

सिद्धि का प्राचुर्य ही पल्लवित नहीं हुआ, इसमें तपस्या की कठोरता भी ऊर्ध्वगामी हो उठी है। उसकी अभ्रभेदी सुदृढ़ अटलता के मध्य एक मधुर फूल खिल उठा है। उसकी गन्ध ने हमें व्याकुल कर डाला है। वह है मैत्रेयी का प्रार्थना-मन्त्र।

गृह-त्याग के समय याज्ञवल्क्य जब अपनी दोनों पत्नियों को समस्त सम्पत्ति दान करके जाने को उद्यत हुए तब मैत्रेयी ने प्रश्न किया—ठीक है, किन्तु यह तो बताइये कि इन सबको लेकर क्या मैं अमर हो जाऊँगी? याज्ञवल्क्य बोले, "नहीं। यह नहीं हो सकता, जैसा सांसारिक पदार्थमय जीवन तुम्हारा रहा है वैसा ही बना रहेगा। सांसारिक जन जिस प्रकार आनन्द से घर-द्वार, गोरू-बछड़े, अशन-बसन लेकर स्वच्छन्द जीवन व्यतीत करते हैं, उसी प्रकार तुम्हारे भी दिन आनन्दपूर्वक कट जायँगे।"

मैत्रेयी तुरन्त बोल उठीं, "येनाहं नामृतास्याम् किमहं तेन कुर्याम।" जिससे मुझे अमृत प्राप्त न हो सके उसे लेकर मैं क्या करूँगी? यह तो कठोर ज्ञान की बात नहीं है। उन्होंने चिन्तन द्वारा, ध्यान द्वारा, नित्यानित्य विवेक-विवेचन द्वारा यह नहीं कहा। उनके मन में एक कसौटी थी जिसके ऊपर उन्होंने संसार के सारे उपकरण एक बार ही घिसकर देख लिए और बोल उठीं, "जो मैं चाहती हूँ वह तो यह नहीं है।"

उपनिषदों के समस्त पुरुष-ऋषियों की ज्ञान-गम्भीर वाणी के मध्य, केवल एक स्त्री के कण्ठ से यह एकमात्र व्याकुल वाक्य ध्वनित हो उठे हैं और वह ध्वनि आज भी विलीन नहीं हुई। उसी ध्वनि ने उनके मेघमन्द्र शान्त स्वर के बीच एक अपूर्व अश्रुपूर्ण माधुर्य जाग्रत कर रखा है। हमने मनुष्य-जाति के पुरुष का उपनिषदों के अनेक स्थानों में, अनेक भावों में साक्षात्कार किया। इस सुयोग में अकस्मात् ही एक प्रान्त में देखा गया कि मनुष्य-जाति की एक नारी भी महान् सौन्दर्य विकीर्ण करती हुई मनुष्यों के बीच सुशोभित है।

हमारी अन्तर-प्रकृति में भी एक नारी का स्थान है। हम उसके पास अपना सम्पूर्ण संचय लाकर रख देते हैं। हम धन लाकर कहते हैं

यह लो, ख्याति लाकर कहते हैं यह भी जमा रखो। हमारा अन्त:पुरुष कहाँ से क्या-क्या अपने प्राणपण से, जीवन-भर परिश्रम करके कितना संग्रह करता है कि जिसका हिसाब नहीं, स्त्री से कहता है, इसे लेकर तुम घर जुटाओ, सुचारु रूप से गृह-संचालन करो, उसे लेकर तुम सुख-पूर्वक रहो। हमारी अन्त:तपस्विनी अब भी स्पष्टतया नहीं कह पाती कि इस सबसे कोई मुझे फल न मिलेगा। वह भावना करती है मैं जो कामना करती हूँ कदाचित् वह यही है। किन्तु फिर सब प्राप्त करके भी, 'सब पा लिया' कहकर मन को समाधान नहीं होता। वह विचार करती है, इस प्राप्ति का परिमाण और बढ़ाना पड़ेगा। धन और चाहिए, ख्याति भी और वाञ्छनीय है, क्षमता की भी अधिक मात्रा हुए बिना काम नहीं चलेगा। यह और-और की कामना शेष नहीं होती। वास्तव में वह अमृतत्व की ही इच्छा है, एवं यह उपकरणादि अमृत नहीं है यह कभी-न-कभी समझना ही पड़ेगा। एक दिन क्षण-मात्र में उस महान् स्तूपाकार संचय को एक पार्श्व में आवर्जना के समान हटाकर बोल उठना होगा, "येनाहं नामृता स्याम् किमहं तेन कुर्य्याम।"

किन्तु मैत्रेयी ने यह जो कहा था कि मैं जिससे अमृता न हो सकू उसे लेकर क्या करूँगी, इसका अर्थ क्या है? अमर होने का अर्थ क्या इस पार्थिव शरीर को लेकर अनन्तकाल तक वहन करना है? अथवा मृत्यु के पश्चात् भी किसी रूप में जन्मान्तर में वा अवस्थान्तर में टिके रहना है? मैत्रेयी शरीर की अमरता नहीं चाहती थी और आत्मा की नित्यता के सम्बन्ध में भी उन्हें कोई दुश्चिन्ता नहीं थी, यह निश्चित है। तब वह किस भाव में अमृता होना चाहती थी?

उन्होंने कहा था कि संसार में हम एक-दूसरे के अवलम्बन से चल पा रहे हैं। किसी प्रकार भी स्थिरता को प्राप्त नहीं हो रहे हैं। हमारे मन के विषय भी हट जाते हैं और मन भी हट जाता है, किन्तु जिस पर हमारे चित्त का अवलम्बन है उससे जब वियोग होता है तो हमारी मृत्यु ही हो जाती है। इसी प्रकार क्रमागत एक मृत्यु से दूसरी मृत्यु में होकर

प्रेम सार्थक हो पाएगा। आविरावीर्माएधि हे आविः, हे प्रकाश, तुम तो चिर-प्रकाश हो, किन्तु तुम एक बार हमारे होकर प्रकाश पाओ, अर्थात् तुम्हारा प्रकाश हमसे पूर्णता प्राप्त करे। हे रुद्र, हे भयानक, आप पाप के अन्धकार में विरह-रूपी दुस्सह रुद्र हैं। यत्ते दक्षिणं मुखं, अपने प्रसन्न सुन्दर मुख का, अपने प्रेममय मुख का, मुझे दर्शन दो। तेन मां पाहि नित्यं, उसीके दर्शन कराकर हमारी नित्य रक्षा करो, हमारा त्राण करो, हमें नित्य-काल के समान रक्षा करके रखो। आपके प्रेम का प्रकाश ही, आपकी प्रसन्नता ही हमारे अनन्तकालीन परित्राण बनेंगे।

हे तपस्विनी मैत्रेयी, आओ, आज संसार के उपकरण-पीड़ित हृदय में अपने पवित्र चरणयुगल स्थापित कर दो। अपनी यह अमृत होने की प्रार्थना अपने मृत्युहीन मधुर-कण्ठ से हमारे हृदय में उच्चारण करा दो। फलस्वरूप नित्यकाल में किस प्रकार रक्षा होगी ऐसा सन्देह लेशमात्र भी हमारे मन में स्थान न पा सके।

दो....

विकार शंका

प्रेम की साधना में विकार की आशंका रहती है। प्रेम की एक दिशा है जो प्रधानतः रस की दिशा है। उसके प्रलोभन में फँस जाने पर केवल वहीं रुक जाना पड़ता है। तब हम केवल रस-सम्भोग को ही अपनी साधना की चरम सिद्धि मानते हैं। इस नशे का हम पर अधिकार हो जाता है। इस नशे को रात-दिन जीवित रखकर हम कर्म की कठोरता और ज्ञान की विशुद्धता को भूल जाना चाहते हैं, कर्म को विस्मृत करके ज्ञान की अवहेलना करते हैं। इस प्रकार का आचरण वृक्ष को काटकर फूल प्राप्त करने की चेष्टा करने के समान है। फूल के सौन्दर्य पर इतना मुग्ध हों कि वृक्ष को उसकी तुलना में निन्दित कहकर, कठोर कहकर, दुरारोह कहकर उसे उत्पादन करके फूल चुनने की चेष्टा करें तो उस क्षण तो फूल मिल जाते हैं, किन्तु फिर भविष्य में नये-नये फूल खिलने का मूल आश्रय सदा के लिए नष्ट हो जाता है। इस प्रकार फूल के प्रति एकान्त लक्ष्य करते रहने से उसके प्रति हम अविचार और अत्याचार ही करते रहते हैं। काव्य से भाव का रस ग्रहण करके ही हम परितृप्त होते हैं। किन्तु उस रस की सम्पूर्णता किस पर निर्भर है? उसके तीन आश्रय हैं—एक है काव्य का कलेवर, छन्द, एवं भाषा, इसके अतिरिक्त भाव को जिसके परे, जिसको जिस रूप में सजाकर उसका प्रकाश सुन्दरता प्राप्त करे उसे कहते हैं विन्यास-नैपुण्य। यह कलेवर रचना का कार्य उल्टा-सीधा करके नहीं चलता, कठिन नियमों का पालन करना पड़ता है, उसमें थोड़ा-सा व्याघात (क्रम-भङ्ग) होते ही यतिःपतन ('स्वर और लय का पतन') हो

जाता है जो कान को भी बुरा लगता है और भाव के प्रकाश में भी बाधा डालता है। अतएव छन्द, भाषा एवं भाव-विन्यास में कवि को नियम का बन्धन स्वीकार करना ही पड़ता है, इसमें यथेच्छाचार शोभा नहीं देता। तत्पश्चात् और एक आश्रय है, वह है ज्ञान का आश्रय। समस्त श्रेष्ठ काव्यों के अन्तर्गत कुछ ऐसा होता है, जिससे हमारा ज्ञान तृप्त होता है, जिससे हमारी मननवृत्ति उद्बोधित हो उठती है, कवि यदि अत्यन्त खामखयाल या अर्थहीन विषय लेकर काव्य-रचना करे जिससे हमारे ज्ञान को कोई खाद्य न मिले और जिससे सत्य की विकृति-वश मनन शक्ति पीड़ित हो उठे, तो उस काव्य में रस का प्रकाश होने में बाधा उत्पन्न होती है। वह काव्य हमें स्थायी भाव से, और गम्भीर भाव में आनन्द देने में, असमर्थ रहता है। उसका तृतीय और अन्तिम आश्रय है भाव आश्रय। इस भाव के संस्पर्श से हमारा हृदय पुलकित हो उठता है। अतएव श्रेष्ठ काव्य में पहले हमारे कान की तथा कलाबोध की तृप्ति, फिर हमारी बुद्धि की तृप्ति और फिर हृदय की तृप्ति होकर ही हमारी समस्त प्रकृति की तृप्ति के साथ-साथ काव्य का रस हमारे अन्तःस्थल पर स्थायी तथा प्रगाढ़ रूप में अधिकार जमाता है। नहीं तो, रस में क्षीणता और क्षणिकता आ जाती है या रस में विकार उत्पन्न हो जाता है।

चीनी, मधु या गुड़ में जब विकार उत्पन्न होता है तो वह सड़ने लगता है और मद में परिणत हो जाता है और फिर अपने पात्र को भी फोड़ डालता है। हममें भी मानसिक रस की विकृति से प्रमत्तता उत्पन्न हो जाती है, फिर बन्धन नहीं मानती और अधैर्य और अशान्ति के कारण वह उच्छ्वसित हो उठती है। इस रस की उन्मत्तता में हमारा चित्त जब उन्मथित हो उठता है तो उसी को हम सिद्धि समझ बैठते हैं। किन्तु नशे को कभी सिद्धि कहने से काम नहीं चलेगा। असतीत्व को प्रेम कहने से काम नहीं चलेगा, ज्वर के विकार से उत्पन्न हुई दुर्वार (दुर्निग्रह) उत्तेजना को स्वास्थ्य का बल प्रकाश कहने से काम

नहीं चलेगा। उन्मत्तता में जो एक उग्र प्रबलता है वस्तुतः वह कोई लाभ नहीं है, वह तो अपने स्वभाव के ही अन्य अंगों का अपहरण होकर केवल एक ही को अस्वाभाविक रूप में स्फीत करके व्यक्त करना है। ऐसा होने से इतना ही नहीं कि जिन अंशों का हरण हुआ है केवल उनमें ही क्षति और कृशता आ जाती हो, परन्तु जिस अंश को इतना उत्साहित करके मोटा किया है उसकी भी भलाई नहीं, क्योंकि स्वभाव के भिन्न-भिन्न अंश जब सहज भाव में सक्रिय रहते हैं तभी प्रत्येक के सहयोग द्वारा प्रत्येक अंश की सार्थकता है। एक की यदि दूसरा चोरी करे तो जिसकी चोरी हो उसकी भी क्षति और जो चोर है उसका भी नाश।

तभी कह रहा था, प्रेम यदि सत्य और ज्ञान से आँख चुराकर मत्त होकर घूमता फिरे तो उसका संयम और धैर्य नष्ट हो जायगा और उसकी कल्पना-वृत्ति उच्छृङ्खल हो उठेगी, फिर वह अपनी प्रतिष्ठा को अपने हाथ से ही नष्ट कर देगा। अपने को भाग्यहीन करके छोड़ेगा।

हम प्रेम-साधना जो करेंगे वह सती स्त्री की साधना के समान होगी। उसमें सती के तीनों लक्षण विद्यमान होंगे। उसमें ह्री होगी, धी होगी और श्री होगी। उसमें संयम रहेगा, सुविवेचना रहेगी, सौन्दर्य रहेगा। फिर यह प्रेम हमारे रात-दिन के चलन में, बातचीत में, काम-काज में, लेन-देन में, छोटों के साथ, बड़ों के साथ, सुख में, दुःख में, व्याप्त भाव में, संयत भाव में, निर्मल भाव में और मधुर भाव में प्रकाश पाता ही रहेगा। प्रेम की स्वाभाविक ह्री में लज्जा का थोड़ा-सा भी आवरण रहने से प्रेम वृहत् भाव से परिव्याप्त हो सकता है, नहीं तो एक ही दिशा में प्रज्वलित होकर कदाचित् कर्म को भी नष्ट कर देगा, ज्ञान को भी विकृत कर देगा, संसार पर भी आघात करेगा और अपने को एक क्षण में व्यय कर फेंकेगा। ह्री के द्वारा ही सती स्त्री अपने प्रेम को धारण करती है, उसे नाना दिशाओं में विकीर्ण कर देती है। इस रूप में प्रेम किसी को दग्ध नहीं करता, सबको आलोकित करता है। हमारी पृथ्वी का भी एक आवरण है, वह है वायु का आवरण। इसी आवरण

द्वारा धरती सूर्य के आलोक को परिमित तथा व्यापक भाव में सर्वत्र विकीर्ण कर देती है। यह आवरण न होता तो प्रकाश जहाँ भी पड़ता वहाँ ही दग्ध कर देता और प्रचण्ड ज्वाला उत्पन्न करता और ठीक उसके पास ही जहाँ छाया होती वहाँ हिम-शीतल मृत्यु तथा निविड़तम अन्धकार विराजमान होता। अ-सती का प्रेम, जिसमें ह्री नहीं है, संयम नहीं है, वह प्रेम परिमित भाव में अपने को सर्वत्र विकीर्ण करने में असमर्थ है, वह प्रेम एक स्थान में उग्र ज्वाला का रूप है, एवं ठीक उसके पास ही तेजहीन, आलोक-वंचित, औदासीन्य विस्तार को प्राप्त होता है।

हमारी इस मानसपुरी-रूपी सती-प्रेम में धी रहेगी और ज्ञान की विशुद्धता भी। यह प्रेम संस्कार-जाल में जड़ित हुआ मूढ़ प्रेम नहीं है। पशुओं की भांति कोई संस्कारगत अन्ध-प्रेम भी नहीं है। इसकी दृष्टि जाग्रत है और चित्त उन्मुक्त है। किसी कल्पना की वस्तु द्वारा अपने को भुलाकर रखना नहीं चाहता। यह तो जिसको चाहता है उसका अबाध परिचय चाहता है। उसके सम्बन्ध में अपने ज्ञान को अपमानित करके रखना उसे सह्य नहीं है। इसे मन-ही-मन केवल यह भय लगता है कि कहीं प्राप्ति के एकान्त आग्रह में वह किसी भूल को ही ग्रहण करके शान्ति से तो नहीं बैठा है। पक्षी-माता जिस प्रकार अण्डे को सेने के लिए व्याकुल हो उठने पर कंकर-पत्थर की परवाह न करके भी सेने बैठ जाती है, उसी प्रकार अन्त को हमारा प्रेम भी केवल आत्मसमर्पण करने को व्यग्र रहता है। किन्तु किसको आत्म-समर्पण कर रहा है कहीं इसका भी खयाल न रहे यह आशंका नहीं जाती, पति को पहचान लेने के लिए सन्ध्या के अन्धकार में जैसे सती स्त्री अपना प्रदीप सावधानी से जलाकर रखना चाहती है।

तत्पश्चात् हमारी इस सती के प्रेम में श्री रहेगी, सौन्दर्य की आनन्दमयता रहेगी। किन्तु यदि ह्री का अभाव रहे और धी में विकार उत्पन्न हो जाय तो यह श्री भी नष्ट हो जायगी।

सती आत्मा ने जो प्रार्थना उच्चारण की उसमें प्रेम के किसी अंग का अभाव नहीं था। उन्होंने जो अमृत की माँग की थी वही तो परिपूर्ण प्रेम है, वह कर्महीन, ज्ञानहीन अथवा प्रमत्त प्रेम नहीं है। उन्होंने माँगा था, "असतो मा सद्गमय"—असत्य से मुझे सत्य-पथ पर ले जाओ। उन्होंने कहा था, "मैं जिन्हें चाहती हूँ वह है सत्य, अपने को सब ओर से सत्य के नियम में, सत्य के बन्धन में नहीं बाँधने से, उनके साथ मेरा परिणय-बन्धन समाप्त नहीं होगा। मन, वचन और कर्म में सत्यता रखनी होगी, ऐसा करने से जो विश्व में सत्य है और जो विश्व-समाज में सत्य है उनके साथ हमारा सम्मिलन सत्य हो उठेगा, नहीं तो पद-पद पर बाधा उत्पन्न होती रहेगी। यह साधना कठिन है, पुण्य की साधना है, कर्म की साधना है।

इसके पश्चात् उन्होंने कहा था, "तमसो मा ज्योतिर्गमय" वह तो ज्ञान-स्वरूप है, इस विश्व में जिस प्रकार वह ध्रुव सत्य होकर स्थित है, उसी प्रकार उस सत्य को हम जानते हैं, यह ज्ञान भी उसी ज्ञान-स्वरूप का प्रकाश है। इसीलिए तो गायत्री मन्त्र में एक ओर जहाँ भूलोक और भुवःलोक और स्वःलोक में सत्य को प्रत्यक्ष करने का निर्देश है तो दूसरी ओर हमको अपने ज्ञान में उनके ज्ञान की उपलब्धि करने का उपदेश है, जो धी को प्रेरणा देते हैं उन्हें अपने ज्ञान में धी का स्वरूप ही मानना पड़ेगा। इस विश्व-भुवन में उसी सत्य के साथ मिलन करना होगा और ज्ञान में ज्ञान के साथ मिलना होगा। ध्यान के द्वारा, योग के द्वारा, यह मिलन होता है।

इसके पश्चात् प्रार्थना है—मृत्योर्मामृतं गमय—हम लोग अपने प्रेम को मृत्यु में पीड़ित तथा खंडित करते रहते हैं। अपने अनन्त प्रेम को अखंड आनन्द में सार्थक करो। हमारे अन्तःकरण के बहुविभक्त रसों के उत्स (उद्गम-स्थान) हे रस-स्वरूप ! आपके परिपूर्ण रस-समुद्र में सम्मिलित होकर हम चरितार्थ हो जायँ। इस प्रकार अन्तरात्मा सत्य के संयम में ज्ञान के आलोक में और आनन्द के रस में परिपूर्ण होकर, प्रकाश ही

जिनका स्वरूप है, उन्हें, अपने अन्तर में प्राप्त करें। ऐसा होने पर रुद्र का प्रेम-मुख चिरन्तन काल के लिए हमारी रक्षा करेगा।

देखना

देखिये, दिन के पश्चात् दिन, और आलोक के पश्चात् आलोक आता ही रहता है, कितने काल से आ रहा है, प्रत्यह आता है। आलोक का यह दूत, प्रतिदिन पुष्प-कुञ्ज में प्रातःकाल ही एक आशावाहक होकर आता है, जिन कलिकाओं का अभी ईषत् (थोड़ा-सा) उद्गम-मात्र हुआ है, उनसे कहता है अभी तुम्हें ज्ञात नहीं है, किन्तु तुम अपने समस्त दल-बलसहित एक दिन सुगन्ध और सौन्दर्य लेकर विकसित हो उठोगी।" आलोक का यह दूत शस्यक्षेत्रों (धान के खेतों) पर अपना ज्योतिर्मय आशीर्वाद स्थापन करता हुआ प्रतिदिन यह सन्देशा दे रहा है। क्या तुम यह विचार करते हो कि आज जो तुम वायु-हिल्लोलित होते हुए, अपने श्यामल माधुर्य द्वारा चारों ओर से लोक-चक्षु को सुखी कर रहे हो, इसी में तुम्हारी सार्थकता है ? किन्तु याथातथ्य यह नहीं है, एक दिन तुम्हारे इसी जीवन-काल में एक शिखा (बाल) निकलेगी और स्तर स्तर में दाने से भर जायगी। जो फूल अभी खिला नहीं, आलोक उसकी प्रतीक्षा में प्रतिदिन आता है, जो दाना अभी पड़ा नहीं आलोक की वाणी उस फसल की निश्चित सफलता के आश्वासन से परिपूर्ण है। यही ज्योतिर्मय आशा प्रतिदिन पुष्प-कुञ्ज को तथा शस्य-क्षेत्र को दर्शन देती रहती है।

किन्तु यह प्रतिदिन का आलोक केवल फूलों के वन में और धान के खेतों में ही तो केवल आता नहीं। यह तो रोज़ ही सवेरे हमारी नींद का परदा उठा देता है। तो क्या हमारे लिए इसका कोई सन्देशा नहीं है ? हमारे पास भी यह आलोक क्या कोई ऐसी ही आशा लेकर नहीं आता कि जिसकी सफल मूर्ति कदाचित् कलिकाओं की भाँति नितान्त अन्धभाव में हमारे अन्तःस्थल में स्थित है और जिसकी शिखा ने अभी

तक हमारे जीवन के केन्द्र-स्थल में से ऊर्ध्व आकाश की ओर मस्तक नहीं उठाया है ?

यह आलोक प्रतिदिन हमें एक ही सन्देशा देता है—देखो, बस एक बार भरपूर देखो, और कुछ नहीं।

हम आँखें खोलते हैं, हम देखते हैं, किन्तु यह देखना तो केवल देखने की कलिका-मात्र है, अभी भी वह अन्ध है। इस दर्शन में दर्शन की फसल पूरी होने के लिए ऊर्ध्वगामी शिखा जैसे अभी उत्पन्न नहीं हुई, विकसित देखना अभी तक नहीं हुआ, भरपूर देखना भी अभी तक नहीं हुआ।

किन्तु फिर भी रोज़ सवेरे अनेक योजन दूर से यह आलोक आकर कहता है, देखो। और वह एक ही मन्त्र हमारे कान में नित्यप्रति उच्चारण करता रहता है, उसमें एक अश्रान्त आश्वासन गुप्त रहता है कि हमारे इस देखने में देखने का एक ऐसा अंकुर विद्यमान है जिसकी पूर्ण परिणति की उपलब्धि हमारे बीच अभी तक जाग्रत नहीं हुई।

किन्तु इस बात पर ध्यान मत देना, यह तो अलंकार-मात्र है, ध्यान मत देना। यह तो मैं रूपक की भाषा बोल रहा हूँ। मैं ज्ञान की बात या ध्यान की बात तो कुछ कह नहीं रहा हूँ। मैं तो नितान्त सरल भाव से आँख से देखने की बात कह रहा हूँ।

आलोक जो दृश्य दिखाता है वह तो क्षुद्र या छोटा नहीं है, वह हमको केवल हमारी शैया या केवल घर तो दिखाता नहीं, दिगन्त विस्तृत आकाश-मण्डल के नीलोज्ज्वल अवकाश में जो सामग्री संजोकर हमारे सम्मुख रखता है वह कितनी अद्‌भुत है ! उसके विस्मय का कोई अन्त नहीं। हमारी दैनिक आवश्यकता से वह कितना अधिक है। यह बृहत् व्यापार. जो हम रोज देखते हैं, वह दृश्य क्या एक नितान्त आवश्यकता से अधिक निरर्थक व्यापार है, यह सब क्या बिलकुल व्यर्थ में ही एक मुक्तहस्त (खर्चीला) धनी के अपव्यय के समान चारों ओर केवल नष्ट होने ही के लिए हो रहा है ? इतने बड़े दृश्य में से हम कुछ

धन संग्रह करके, कुछ ख्याति लेकर, कुछ क्षमता प्राप्त करके जैसे ही एक दिन आँख मूँद लेंगे, तुरन्त वैसे ही इस विराट् जगत् का आँख मिलाकर देखने का आश्चर्यमय सुयोग एकदम चूड़ान्त शेष हो जायगा। इस पृथ्वी पर हम जो प्रतिदिन आँख-से-आँख मिलाकर देखते रहे, एवं आलोक इस आँख को प्रतिदिन ही अभिव्यक्त करता रहा, उसका पूरा हिसाब क्या पैसे में या ख्याति में या भोग में मिलेगा ?

नहीं, उसमें नहीं मिलेगा। इसीलिए मैं कहता हूँ यह आलोक इस अन्ध-कलिका से जिस प्रकार प्रतिदिन एक अमानवीय विकास की वार्ता कहता आ रहा है, हमारी दृष्टि को भी उसी प्रकार यह आशा प्रदान करता रहता है कि जो चरम दर्शन है तथा जो परम दर्शन है वह तुम्हारे अन्तर में ही है। वह एक दिन साक्षात् हो जायगा, इसी आशा से मैं रोज़ तुम्हारे पास आता-जाता रहा हूँ।

तुम क्या सोच रहे हो, क्या मैं आँख मूँदकर ध्यान-योग में देखने के विषय में कुछ कह रहा हूँ ? मैं तो इस चर्म चक्षु से देखने के विषय में ही कह रहा हूँ। चर्म-चक्षु को चर्म-चक्षु कहकर गाली देने से कैसे काम चलेगा ? इसे शारीरिक अंग कहकर तुम घृणा करो, ऐसे महा-पुरुष तुम कहाँ के आये ? मैं कहता हूँ, इन्हीं आँखों से, इन्हीं चर्म-चक्षुओं द्वारा वह देखने को है जो चरम दर्शन है। यदि ऐसा नहीं है तो आलोक हमें रोज वृथा ही जाग्रत कर रहा है और तब इतना महान् यह ग्रह-तारा-चन्द्र-सूर्य-खचित प्राण एवं सौन्दर्य से परिपूर्ण विश्वजगत् वृथा ही अहोरात्रि हमारे चारों ओर से नाना आकारों में आत्म-प्रकाश कर रहा है। इस जगत् के प्रति दृष्टि-निक्षेप करने की चरम सफलता क्या विज्ञान है ? सूर्य के चारों ओर पृथ्वी घूमती है। नक्षत्र-समूह एक-एक सूर्य-मण्डल है। बस क्या इतना ही जानने के लिए जगत् के सामने हमारे दो पलक खुले हैं ? इतना भर जानकर ही भला क्या लाभ है ?

यदि ठीक से जाना जाय तो अनेक लाभ भी हो सकते हैं, किन्तु जानने का लाभ तो केवल जानने का ही लाभ है, उससे ज्ञान के भण्डार

की पूर्ति होती है। होती है, होने दो। किन्तु मैं तो आँख से देखने की बात कर रहा हूँ। मैं कहता हूँ, इस आँख से जो-कुछ हम देख सकते हैं उसे अभी भी देख नहीं पाये—हमारे सामने, हमारे चारों ओर जो-कुछ है, उसको भी हम देख नहीं पाते। उस तृण तक को भी नहीं। हमारी आँख को हमारा मन ही दमन किये हुए है। वह कितने मतों की भावना लिये है जिसका ठिकाना नहीं। वह अशन-बसन की भावना लिये हमारी दृष्टि को ढाँपे हुए है। उसने कितने मनुष्यों की उक्ति से कितने संस्कार जमा किये हैं। उसके कितने रूढ़ि शब्द हैं, कितने रूढ़ि मत हैं, जिनकी सीमा नहीं। वह किसको शरीर कहता है और किसको आत्मा कहता है; किसको हेय कहता है, किसको श्रेय कहता है, किसको असीमित; इसका कोई ठिकाना नहीं। इन्हीं समस्त संस्कारों द्वारा दबी हुई होने से हमारी दृष्टि निर्मल, निर्मुक्त भाव से जगत् का संस्रव लाभ नहीं कर पाती।

इसीलिए तो आलोक प्रतिदिन निद्रालसता से हमारी आँख को विमुक्त करके कहता है, 'तुम स्पष्टतया देखो, तुम निर्मल होकर देखो, कमल जिस प्रकार पूर्णतया उन्मुक्त होकर रवि के दर्शन करता है उसी प्रकार तुम भी देखो'। किसे देखोगे ?—उन्हें, जिन्हें हम ध्यान में देखते हैं ? नहीं, उन्हें जिन्हें आँख से देख सकते हैं, उन्हें। उसी रूप-निकेतन को, जहाँ से गणनातीत रूपधारा अनन्त काल से निर्झरित हो रही है। चारों ओर से रूप-ही-रूप और केवल एक रूप में से दूसरे रूप की लीला, जिसका कहीं भी अन्त मिलता नहीं, देखने से भी मिलता नहीं और विचारने से भी मिलता नहीं। रूप के झरने दिशा-दिशा से प्रतिहत होकर केवल उसी अनन्त रूप-सागर में आकर विलीन हो रहे हैं। जिस दिन अद्भुत अनन्त रूप को, उनके रूप की लीला में ही, जब देख पायेंगे तो उस दिन पृथ्वी के आलोक में हमारा आँख खोलना सार्थक हो जायगा, प्रतिदिन के आलोक का अभिषेक करना चरितार्थ हो जायगा। आज जो देख रहा हूँ, यह मेरे चारों ओर जो कोई है, जो-कुछ है,

इनको, एक दिन, किस प्रकार, कैसे, पूर्ण चैतन्य योग में देखूँगा, उसकी आज कल्पना भी नहीं कर सकता। किन्तु इतना जानता हूँ कि हमारे इस चर्म-चक्षु के सामने समस्त जगत् को संजोकर आलोक हमारे पास जिस आशा के सन्देश वहन करता है, उसकी अभी कुछ भी पूर्ति नहीं हुई। इस वृक्ष का रूप भी उनके आनन्द का रूप है। उसका देखना अभी तक हमारे लिए सार्थक देखना नहीं हुआ—मनुष्य के सम्मुख जो उसका अमृत-रूप है उसके दर्शन में अभी बहुत-कुछ बाकी है। 'आनन्द रूपममृतं' यह उक्ति जिस दिन हमारे इन दो नयनों की हो उठेगी उस दिन वह सार्थक हो जायँगे। उस दिन वह उनका परम सुन्दर प्रसन्न-मुख, उनका 'दक्षिणमुख' आकाश की ओर निहारते ही एकदम दिखाई पड़ेगा। तब सर्वत्र ही नमस्कार के भाव में हमारा मस्तक नत हो जायगा। तब औषधि अथवा वनस्पति के सामने भी हमारा अभिमान नहीं रहेगा। तभी हम अनुभूति करके कह सकेंगे, "यो विश्वं भुवनमाविवेश, य औषधीषु यो वनस्पतिषु, तस्मै देवाय नमोनमः।" (जो विश्व में, भुवन में, औषधि तथा बनस्पति में व्याप्त हैं उन विश्व देव को बार-म्बार नमस्कार है।)

सुनना

कल सायंकाल से केवल यही गान मेरे मानस-पटल पर झंकार कर रहा है 'बाजे-बाजे रम्य वीणा बाजे,' (बाजी सुरम्य बीणा, कहुँ बाजी), किसी प्रकार भी भूल नहीं सक रहा हूँ।

बाजी सुरम्य वीणा कहुँ बाजी
अमल-कमल मध्य, ज्योत्स्ना रजनि मध्य
काजल घन मध्य निशि अन्धकार मध्य
कुसुम सुरभि मध्य, वीणा रणकार सुनी
प्रेम ही प्रेम बाजी, वह बाजी।

कल रात्रि में छत पर खड़े होकर नक्षत्रावली की ओर देखकर मेरे

मन ने पूर्णतया स्वीकार कर लिया, 'बाजी सुरम्य वीणा कहुँ बाजी'। यह कोई काव्योक्ति नहीं है, यह कोई वाक्यालंकार भी नहीं है। देश एवं काल को परिव्याप्त कर रात-दिन संगीत का संचार हो रहा है।

वायु-मण्डल में तरंग के साथ तरंग सुन्दरता लिये हुए जब खेल उठती है, तो उनके आश्चर्यमय मिलन एवं सौन्दर्य को हमारी आँख नहीं देख पाती, हमारे कानों में ये लीला-तरंगें गाना बनकर प्रकाश पाती हैं। और जब आकाश में आलोक-रश्मि अनेक धाराओं में विचित्र ताल के साथ नृत्य करती रहती है, तब इस विचित्र लीला की कोई खबर हमारे कानों को नहीं मिलती। चक्षु को ही वह रूप होकर दिखाई पड़ता है। महाकाश की इस लीला को भी यदि हम कान के सिंह-द्वार में से स्वागत कर पाते तो विश्व-वीणा की इस झंकार को हम गान कहकर ही परिचय प्राप्त करते।

इस प्रकाण्ड विपुल विश्वगान की वन्या (बाढ़) समस्त आकाश को व्याप्त अथवा आच्छादित कर जब हमारे चित्त के अभिमुख होकर, टूट या उमड़ पड़ती है तब उसको एक पथ द्वारा ग्रहण करना अशक्य हो जाता है। अनेक द्वार खोल देने पड़ते हैं। चक्षु द्वारा, कान द्वारा, स्पर्श द्वारा, नाना दिशाओं से नाना प्रकार से उसे ग्रहण करते हैं, उसी एक-तान महा संगीत को हम देखते हैं, सुनते हैं, सूँघते हैं, स्पर्श करते हैं, आस्वादन करते हैं। इस विश्व की अनेक वस्तुओं को यद्यपि हम आँख से देखते हैं, कान से नहीं सुनते, तो भी बहु काल से अनेक कवि इस विश्व को गान ही कहकर पुकारते हैं। ग्रीस के भावुक कवियों ने आकाश की ज्योतिमय मण्डली के गतायात को नक्षत्र-लोक का गान कहकर ही वर्णन किया है। कवि लोगों ने विश्व-भुवन के रूप-विन्यास को चित्र-कला की उपमा थोड़े में ही दी है। इसका एक कारण है कि विश्व में गति का चाञ्चल्य नियमित है। किन्तु इतना ही नहीं, इसके बीच एक और भी गम्भीर कारण है।

जो चित्र-कला करते हैं उन्हें पट चाहिए, तूलिका चाहिए, रंग

चाहिए और अनेक बाह्य आयोजन चाहिए। फिर जब वे चित्रांकन करते हैं तो प्रथम रेखाओं से समस्त चित्र की सुन्दरता का आनन्द-अनुमान नहीं हो सकता। अनेक रेखा एवं अनेक वर्ण मिलने पर ही परिणाम का आभास प्राप्त होता है। तदनन्तर अंकन समाप्त होने पर, चित्रकार के साथ उसका कोई अभिन्न (एकान्त) सम्बन्ध नहीं है।

किन्तु जो गायक हैं उनके गायन का समस्त आयोजन उसी पर निर्भर है, आनन्द जिसका, सुर भी उसका, कोई चीज बाहर की नहीं है। हृदय जैसे अव्यवहित भाव में अपने को प्रकाश करता है, उसके लिए किसी उपकरण का व्यवधान नहीं है। इसीलिए गान यद्यपि एक सम्पूर्णता की अपेक्षा रखता है तो भी उसका प्रत्येक असम्पूर्ण स्वर हृदय को प्रकाशित ही करते रहना चाहिए। हृदय के इस प्रकाश में केवल एक उपकरण का ही व्यवधान नहीं है, वाक्य भी एक व्यवधान है, क्योंकि विचार या मनन करके उसका अर्थ-बोध होता है।

गान में अर्थ-बोध की भी आवश्यकता नहीं है, कोई अर्थ न होने पर भी केवल मात्र स्वर ही बोलने के अभिप्राय को अनिर्वचनीय ढंग से व्यक्त कर देता है। और फिर गान से गायक का क्षणमात्र भी विच्छेद नहीं होता, गाना छोड़कर गायक के चले जाने पर गान भी उसके साथ चला जाता है। गायन के स्वर, गायक की प्राण-शक्ति आनन्द के साथ एक संग चिरमिलित होकर प्रकाशित होते हैं। जहाँ गान वहीं गायक इसका कभी अपवाद नहीं।

यह विश्व-संगीत भी अपने गायक से एक क्षण के लिए भी विच्छिन्न नहीं रहता। उनके बाह्य उपकरणों द्वारा यह सम्भव नहीं है। एक साथ उन्हीं के चित्त और उन्हीं के निःश्वास में उनका आनन्दरूप मूर्तिमान हो उठता है। यह गान एकदम सम्पूर्ण होकर उनके अन्तर में स्थित है और फिर भी क्रम-से-क्रम अभिव्यक्त होकर प्रकाश पाता है किन्तु उसका प्रत्येक स्वर उसी सम्पूर्ण गान का आविर्भाव है। एक सुर दूसरे सुर के साथ आनन्द में संयुक्त होकर निकलता है। इस विश्वगान का जब कोई

वचन-गम्य अर्थ भी न मिले, तो भी हमारे चित्त में उसका प्रकाश किसी बाधा को प्राप्त नहीं होता। क्योंकि यह चित्त का चित्त में अव्यवहित (अबाधित) प्रकाश है।

गायत्री मन्त्र में यही तो सुनते हैं कि उन विश्व सविता का भर्ग, उनका तेज, उनकी शक्ति भूर्भुवः स्वः लोकों में होती हुई उच्छ्वसित हो उठी है, एवं उनकी ही एक शक्ति केवलमात्र धी रूप में हमारे अन्तर में विकीर्ण हो रही है। केवल उठ रहा है और केवल आ रहा है सुर के बाद सुर और सुर के बाद सुर।

कल कृष्ण एकादशी की निभृत (एकान्त) रात्रि के निविड़ (घोर,घने) अन्धकार को पूर्ण करके वह वीणाकार अपनी मनोहर वीणा बजा रहे थे, जगत् के प्रान्त में मैं अकेला खड़ा सुन रहा था, उसकी झंकार में इस अनन्त आकाश के समस्त नक्षत्र-लोक झंकृत होकर एक अपूर्व निःशब्द संगीत में गुथे जा रहे थे। तत्पश्चात् जब सोने गया तब यह विचार करता हुआ सो गया कि जब मैं सुषुप्ति-अवस्था में अचेतन होऊँगा तो भी उस जाग्रत वीणाकार की निशीथ रात्रि वाली वीणा बन्द नहीं होगी। तब भी उनकी झंकार की ताल पर नक्षत्र-मण्डली का नृत्य चलता रहेगा और उसी ताल पर मेरी निद्रा-निभृत-देहनाट्यशाला में प्राण का भी नृत्य चलता रहेगा, मेरे हृत्पिण्ड का नृत्य नहीं रुकेगा, सब अंगों में रक्त नाचता रहेगा और मेरे समस्त शरीर के लक्ष-लक्ष जीव-कोष उसी ज्योतिष्क सभा के संगीत छन्द में स्पन्दित होते रहेंगे।

'बाजी सुरम्य बीणाबाजी,' उस्तादजी ने हमारे हाथ में भी एक छोटी वीणा दी है। उनकी इच्छा है कि हम भी उनके साथ सुर मिलाकर बजाना सीखें। उनकी सभा में उनके ही साथ बैठकर कुछ-कुछ संगत करे, यही उनके स्नेह का अभिप्राय है। जीवन की बीणा छोटी है किन्तु इसमें भी कितने ही तार चढ़ा दिए हैं। सब तारों को एक सुर में मिलाकर बाँधना क्या छोटा काम है? यह मिला तो वह नहीं, मन यदि ठीक बैठे तो शरीर वादी हो जाय, एक दिन यदि मिल गया

तो और किसी दिन उतर गया। किन्तु प्रयत्न छोड़ने से काम न चलेगा। एक दिन उनके मुख से यह बात सुननी ही है। 'वाहवा ! बेटा शाबाश !' यह जीवन की वीणा एक दिन उनके चरणों के समीप गुनगुनाते-गुनगुनाते उनकी सारी रागनियाँ निकालकर रहेगी। उस समय केवल यह बात याद रखनी होगी कि सब तार मजबूती से ऐंठकर बाँधने होंगे। ढील देते ही झनझनाने और खनखनाने लगेंगे। तारों को जिस प्रकार ऐंठकर बाँधते हैं उसी प्रकार उन्हें मुक्त भी रखना होगा। कुछ भी बोझ पड़ने से वह फिर नहीं बजेगा। निर्मल स्वर निकालना यदि चाहते हो तो ध्यान रखो कि उस पर कोई धूल न पड़े, मोरचा लग जाय और प्रतिदिन उनके पद-प्रान्त (चरणों) में बैठकर प्रार्थना करो "मेरे गुरु, तुम मुझे बे-सुर से सुर में ले जाओ।"

हिसाब

रोज केवल लाभ की ही बात सुनने की इच्छा होती है। हिसाब बन्द करके अलग रख देने का मन ही नहीं करता। मन करता है केवल रस की बात ही लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान घूमते रहें, जिस पात्र में वह रस रहता है उसे बड़ा कठिन मानते हैं।

किन्तु, अमृत की तलहटी में सत्य स्थित है, उन्हें एकदम धोखा देकर आनन्द-लोक में घुसने की स्पर्धा नहीं हो सकती।

सत्य तो नियम-स्वरूप है। उन्हें मानते ही उनके समस्त बन्धन मानने होंगे। जो-कुछ सत्य है, अर्थात् जो कुछ है, एवं स्थित है, वह किसी प्रकार भी बन्धनहीन नहीं हो सकता। वह किसी-न-किसी नियम में बद्ध है, उसीसे उसका अस्तित्व है। जिस सत्य का कोई नियम नहीं, कोई बन्धन नहीं, वह तो स्वप्न है, केवल खयाल है। वह तो स्वप्न से भी अधिक मिथ्या, खयाल से भी अधिक शून्य।

पूर्ण सत्य-स्वरूप अन्य किसी के नियम में बद्ध नहीं होते, उनका अपना नियम है अपने ही अन्दर। यदि ऐसा न होता, वह यदि अपने को

नियमबद्ध न रखते तो उनके द्वारा कुछ भी न हो सकता, किसी की रक्षा न हो सकती। तो उन्मत्तता के ताण्डव-नृत्य में किसी का कुछ ठिकाना न रहता।

किन्तु हम अनुभव करते हैं कि सत्य का रूप ही है नियम, बिलकुल अव्यर्थ (अटल) नियम, उनके किसी प्रान्त में इसका लेशमात्र भी अपवाद नहीं। इसीलिए समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड इस सत्य के बन्धन में विधृत होकर स्थित है। इसीलिए सत्य के साथ हमारी बुद्धि का योग है एवं उस पर ही हमारी सम्पूर्ण निर्भरता है।

जिस प्रकार वृक्ष को जड़ों द्वारा भूमि में जकड़कर पकड़ने की शुरू से ही आवश्यकता है, हमें भी उसी प्रकार असंख्य स्थूल तथा सूक्ष्म जड़ों द्वारा सत्य पर प्रतिष्ठा-लाभ करने की आवश्यकता है।

हम इच्छा करें, अथवा न करें, यह साधना करनी ही पड़ेगी। शिशु कहता है, "मैं तो पैरों-पैरों चलूँगा।" किन्तु जब तक वह अपनी बहु-साधनाओं में चलने के नियम पालन करता हुआ भाराकर्षण के साथ अपना सन्तुलन नहीं कर पाता, तब तक और कोई उपाय नहीं। केवल 'मैं चलूँगा' कहने से काम नहीं चलेगा।

इस चलने के नियम को शिशु जब ग्रहण कर लेता है, तो वह नियम उसको फिर पीड़ा नहीं देता। केवलमात्र पीड़ा नहीं देता इतना ही नहीं, आनन्द भी देता है; सत्य के नियमों के बन्धन को स्वीकार करने मात्र से ही शिशु अपनी गति-शक्ति प्राप्त करके आह्लादित होता है।

इसी प्रकार क्रम-क्रम से जब वह जल का सत्य, मिट्टी का सत्य, अग्नि का सत्य पालन करना सीख जाता है तब उसकी न केवल अनेक असुविधाएँ दूर हो जाती हैं वरन् जल, अग्नि, पृथ्वी के सम्बन्ध में उसकी शक्ति का विकास होकर उसे आनन्द भी प्राप्त होता है।

केवल विश्व-प्रकृति के साथ ही नहीं समाज के साथ भी सत्य के सम्बन्ध में युक्त होकर उठने के लिए शिशु को विस्तार-साधना का आयोजन करना होगा। उसे उसके विस्तार-नियम स्वीकार करने पड़ेंगे :

उसे अनेक प्रकार की आबदा थामनी पड़ेंगी, अनेक राग कम करने पड़ेंगे, अपने को अनेक प्रकार से बाँधना पड़ेगा, और अनेक के साथ बाँधना पड़ेगा। जब ये बन्धन उसके लिए सहज हो जायँगे तो उसके लिए समाज में निवास आनन्दमय हो जायगा। तब ही इन समस्त विचित्र नियमों के बन्धन की सहायता से उसकी सामाजिक शक्ति बाधा-मुक्त होकर स्फूर्ति प्राप्त कर सकेगी।

इसी प्रकार अधिकांश मनुष्य, जब विश्व-प्रकृति में तथा समाज में मोटे तौर से कहना चाहिए, सत्य हो जाते हैं तब वे निश्चिन्त हो जाते हैं और अपने को अनिन्दनीय मानकर प्रसन्न होते हैं।

किन्तु, ऐसा भी एक सिक्का होता है जो गाँव में चल जाता है परन्तु शहर में नहीं चलता, शहर की किसी-किसी दूकान पर चल जाता है किन्तु बैंक में नहीं। बैंक में उसे तुड़ाने जाते ही उसका पोद्दार (खजांची) उसके स्पर्श मात्र से ही तुरन्त नकली बताकर अग्राह्य कर देता है।

हमारी भी वही दशा है। घर में, गाँव में, समाज में, हम सुख से चालू है, किन्तु बड़े बैंक में पोद्दार के पास खड़े होते ही क्षणमात्र में हमारा सारा खोटापन खुल जाता है।

वहाँ यदि चालू होना चाहते हैं तो सत्यशील होना पड़ेगा और अधिक सत्यमय होना पड़ेगा। और भी अनेक-अनेक बन्धनों में अपने को बाँधना पड़ेगा, और भी अनेक दबाव मानने पड़ेंगे। उस अमृत के बाजार में थोड़ी-सी भी मिलावट नहीं चलती। एकदम विशुद्ध सत्य बिना अमृत-क्रय की आशा व्यर्थ है।

इसीलिए मैंने कहा था, केवल अमृतरस की बात से काम नहीं चलेगा, उसका हिसाब भी देखना होगा।

हम अपना हिसाब मिलाने जब बैठते हैं तो दो-चार रुपये की भूल होने पर भी कहते हैं, इसमें कुछ बिगड़ता नहीं। इसी प्रकार रोज भूल का अंश बढ़ता ही जाता है। प्रकृति के साथ एवं मनुष्य के साथ

व्यवहार में हम प्रत्यह कितने ही छोटे-बड़े असत्य अन्याय होने देते हैं और इस सम्बन्ध में यदि कोई बात उठायें तो हम कहते हैं, "ऐसा तो अक्सर होता ही रहता है, ऐसा तो बहुत से लोग करते हैं, इस आचरण से मैं कोई भद्र समाज के बाहर थोड़े ही हो जाऊँगा।"

क्षुद्र लोगों के हिसाब की बही में शिथिलता रहती है, किन्तु जो जाति से साधु हैं, जो महाजन हैं, लाखों के कारबार में, एक पैसे का हिसाब न मिलने पर रात-भर नहीं सो सकते, जो लाखों के लाभ के आकांक्षी हैं, वे छोटी-सी भूल से भी डरते हैं, वे हिसाब को एकदम धवल सत्य किये बिना नहीं रह सकते।

वही कह रहा था कि जो परम रस हैं वही प्रेम रस हैं, यदि उनका महाजन होना चाहो तो हिसाब के खाते को नीरस कहकर धोखा देने से काम नहीं चलेगा। उन अमृत-भण्डारी के सम्मुख बे-हिसाबी रहने की जिद बिलकुल नहीं चलेगी, क्योंकि वह तो महान् हिसाबी हैं। इस प्रकाण्ड जगद्-व्यापार के हिसाब में किंचित्-मात्र भूल नहीं होती। उनके पास किस मुँह से जाकर कहेंगे, "मैं तो कुछ नहीं जानता हूँ और न कुछ मानता हूँ, मुझे केवल प्रेम दीजिए, मुझे केवल प्रेम का मतवाला मान लीजिए।"

आत्मा जिस दिन अमृत के लिए रो उठे उस दिन सबसे पहले कहती है, "असतो मा सद्गमय"—'मेरे जीवन को, मेरे चित्त को, समस्त उच्छृङ्खल असत्य से बचाकर सत्य में बांध दो, अमृतत्व की बात तो पीछे की है।'

हमें भी प्रतिदिन यही प्रार्थना करनी होगी और उच्चारण करना होगा, "असतो मा सद्गमय"—'हे प्रभु, बन्धनहीन असंयत सत्य में मेरे मन के सहस्र टूक करके मत फेंक देना। उसे अटूट सत्य के सूत्र में सम्पूर्ण करके बाँध दीजियेगा। तत्पश्चात् वह हार यदि आपके गले में पहनाना चाहूँ तो मेरे लिए कोई लज्जा की बात न होगी।'

शान्ति निकेतन में ७ पौष

उत्सव की रचना तो हम नहीं कर सकते, हाँ यदि सुयोग मिले तो हम उत्सव का आविष्कार कर सकते हैं।

जहाँ सत्य सुन्दरता धारण करके प्रकाशित होता है वही उत्सव है, प्रकाश को क्या कभी रोक-टोक होती है। अपने प्रातःकालीन गीतों के नित्य निमंत्रण की रक्षा करने के लिए पक्षी तो रोज सवेरे अँधेरे ही से उठकर कार्य में व्यस्त हो जाते हैं। और प्रभात की आनन्द सभा को सजाने के लिए अन्धकाररूपी एक पुरुष समस्त रात्रि कितने गुप्त भाव में आयोजन करता रहता है। उसकी क्या कोई सीमा है? सोने जाने से पहले यदि केवल एक बार आकाश की ओर निहारें तो क्या दिखाई न देगा कि जगत् के नित्य उत्सव का महाविज्ञापन समस्त आकाश में फैलाकर किसी ने टाँग दिया है।

इसमें हमारा उत्सव कब है? जिस दिन हम निश्चय कर लें उसी दिन, जिस दिन अकस्मात् बोध हो जाय कि हमें निमन्त्रण आया है और वह निमन्त्रण प्रतिदिन मारा जा रहा है, जिस दिन स्नान करके, साज (शृङ्गार) करके घर छोड़कर जल्दी से निकल पड़ें।

उस दिन उत्सव के प्रातः आकाश की ओर निहारकर कहते हैं... वाह! आज का अलोक कितना मधुर है, कितना पवित्र है। "अरे मूढ़, यह आलोक कब नहीं मधुर था और कब नहीं पवित्र था। तुमने एक विशेष दिन रूपी काया पर एक विशेष चिह्न बना दिया है। उस दिन इसीलिए आकाश का आलोक अधिक उज्ज्वल होकर तप रहा है।"

और कुछ नहीं है। आज हम निमन्त्रण की पूर्ति करने आये हैं, और दिन ऐसा नहीं किया, केवल इतना भेद है। इसका आयोजन तो इसी प्रकार प्रतिदिन ही था और प्रतिदिन है। जगत् का आनन्दरूप आज इस में देखें, इसलिए सब काम-काज छोड़कर आये हैं। केवल यही नहीं, मैंने भी आज अपने आनन्द-स्वरूप को छूट दे रखी है, आज कह दिया है

लेन-देन की खींचातानी बन्द हो, अपने-पराये का भेद आज समाप्त हो, सारा कार्पण्य भी आज विलीन हो, जितना ऐश्वर्य है आज बाहर आये। जो आनन्द जल में, स्थल में, सर्वत्र विराजमान है, उस आनन्द को आज हम अपने आनन्द निकेतन के बीच अनुभव करेंगे। जो उत्सव निखिल का उत्सव है उस उत्सव को आज अपना उत्सव करके मनायेंगे।

विश्व का एक महल तो नहीं है, उसके तो अनेक महलों में अनेक प्रकार के उत्सवों की व्यवस्था होती रहती है। बस्ती में, निर्जन में, नाना क्षेत्रों में, उत्सव के नाना भिन्न भाव और आनन्द की नाना भिन्न मूर्ति। नीलाकाश के नीचे प्रसारित प्रान्तर के बीच यह छाया स्निग्ध निभृत आश्रम के प्रात्यहिक उत्सवों में क्या आश्रम के आश्रित गणों ने सूर्य, तारा तथा तरुश्रेणी के साथ उस उत्सव में किसी दिन योग दिया है? क्या हमने आश्रम को उसके समस्त सत्य में अथवा उसके सौन्दर्य में देखा है? नहीं देखा। इस आश्रम में ही रहते हुए हम प्रतिदिन प्रातः-काल संसार में जगे हैं तथा प्रति रात्रि उसी संसार की गोद में सोये हैं। ३६४ दिन के बाद आज हम आश्रमवासीगण आश्रम को देखने आये हैं। जब सूर्य ने पूर्व गगन को आलोकित किया था, उस समय तो देख पाये नहीं, जब आकाश-भरे तारागण ने दीपमाला प्रज्ज्वलित की थी उस समय भी नहीं देख पाये, आज हम थोड़े-से तेल और बत्तियों को प्रज्ज्व-लित कर उसके प्रकाश में उसे देखना चाहते हैं। अच्छा, ऐसा ही सही, इसमें कोई बुराई नहीं। महेश्वर के महोत्सव में सहयोग देने को तत्पर होने पर हमारे पास जितना कुछ भी आलोक आदि का साधन-सम्बल है उसे बाहर निकालकर रखना होगा। केवल उन्हीं के आलोक में उनके दर्शन हो सकते हैं, तो सहज में ही काम चल जाता। किन्तु इतनी शर्त हमारे लिए उन्होंने लगा रखी है, कि हमें अपने आलोक को भी प्रज्ज्वलित करना होगा, नहीं तो दर्शन नहीं मिलेगा, मिलन नहीं प्राप्त होगा, हमें जो अहंकार दिया है वह इसीलिए; अपने-अपने अहंकार की अग्नि प्रज्ज्वलित करके हम लोग महोत्सव की मशाल तैयार करें। उसी

चिर-जाग्रत आनन्द को अनुभव करने के लिए हमें अपने निजी आनन्द को जाग्रत करके उठाना है, उस चिर-प्रकाशित ज्ञान की अनुमति के लिए ज्ञान की क्षुद्र बाती को उकसा देना होगा—और जिनका प्रेम स्वयं ही प्रवाहित होकर उमड़ रहा है उनके उस अक्षय प्रेम की उपलब्धि भी हम नहीं कर सकते, यदि हम जुही जैसे छोटे फूल के समान भी थोड़ा-सा प्रेम स्फुटित न कर पायें।

यदि हम अपने इन क्षुद्र आयोजनों का उत्सव न मनाएँ तो विश्वेश्वर के जगद्व्यापी महोत्सव में ठीक तरह योग भी नहीं दे सकते। हमारे अहंकार ने आज उस आकाश-परिपूर्ण ज्योतिष्क-मण्डली की आँखों के सामने ही अपने ये थोड़े-से दरिद्र-दीपक निर्लज्ज भाव से प्रज्ज्वलित कर रखे हैं और हमें अभिमान है कि हम अपने ही प्रकाश में उन्हें देखेंगे। हमारे इस अभिमान पर महादेव प्रसन्न हैं, वह हँस रहे हैं। हमारे इन चार दीपकों को देखकर वह कोटि सूर्याधिपति आनन्दित हैं। उनके प्रसन्न भाव, दर्शन का यही तो शुभ अवसर मिला है। इसी सुयोग में हमें अपनी सम्पूर्ण चेतना को जाग्रत करना पड़ेगा। भगवान् करे, यह चेतना हमारे समस्त शरीर में जाग्रत होकर रोम-रोम को पुलकित कर दे, यह चेतना दिवालोक (दिन के प्रकाश) की प्रत्येक तरङ्ग में स्पन्दित हो उठे, निशीथ रात्रि के अन्धकार में परिव्याप्त हो जाय, आज वह घर की उलझन में, घर की चिन्ता में विक्षिप्त न हो जाय, निखिल के प्रति मिथ्या न हो जाय—आज वह कहीं भी संकुचित होकर वंचित न रह जाय। अनन्त सभा के समस्त आयोजन, समस्त दर्शन, स्पर्श तथा मिलन केवल एक उन्हीं चैतन्य के उद्बोधन की अपेक्षा से हैं। इसीलिए आलोक जाज्वल्यमान है, बाँसुरी बज रही है। दूतगण चारों ओर से आकर द्वार पर खड़े हैं, सभी प्रस्तुत हैं, ओ मेरी चेतना, तू कहाँ है! उठ और जाग (उत्तिष्ठत जाग्रत)।

दीक्षा

जिस दिन उनकी चेतना आराम-शय्या से अकस्मात् जाग्रत हो उठी थी, यह सप्तम पौष का दिन उन्हीं देवेन्द्रनाथ का दिन है। यह दिन वह हम लोगों को दान कर गए हैं। जिस प्रकार रत्न दान किया जाता है उसी प्रकार उसका दान किया है। उस दिन को वह आश्रम-रूपी पिटारी में स्थापन कर गए हैं। आज पिटारी खोलकर उस रत्न को इस प्रान्त के आकाश में उठाकर देखेंगे, यहाँ के धूलिविहीन निर्मल, निभृत आकाश के नीचे जो नक्षत्र-मण्डली दीप्ति प्राप्त कर रही है उन्हीं तारागण के बीच उसे उठाकर देखेंगे। साधक के जीवन में आज सप्तम पौष का दिन उद्घाटन-दिवस है। इसीलिए आज हम उत्सव मना रहे हैं।

सप्तम पौष को उस भक्त ने दीक्षा ग्रहण की थी—उस दीक्षा का कितना महान् अर्थ है, आज क्या कोई उसे समझता है? उसके अ ' को जाने बिना रहकर किसलिए यहाँ आये थे और क्या लेकर यहाँ से जायँगे?

वह सप्तम पौष का सूर्य जिस दिन उनके जीवन में उदित हुआ था, उस दिन न तो यहाँ रोशनी हुई थी और न जन-समागम। वह शीत काल का निर्मल दिवस शान्त था तथा शुद्ध, उस दिन क्या घटना हुई, वह स्वयं भी पूर्णतया नहीं समझे, जानते थे केवल अन्तर्यामी विधाता पुरुष।

उनकी दीक्षा उस दिन ग्रहण करना कोई सहज काम नहीं था। वह केवल शान्ति की दीक्षा नहीं थी, वह अग्नि की भी थी। उनके प्रभु ने उन्हें उस दिन आज्ञा दी, "यह वस्तु, जो आज तुमने मुझसे ग्रहण की है, वह सत्य है। इसका भार तुमने जब ग्रहण किया है तो तुम्हें रात-दिन जाग्रत रहना पड़ेगा। इस सत्य की रक्षा करते-करते यदि तुम्हारा सर्वस्व नाश होता है तो होने दो, किन्तु सावधान, तुम्हारे द्वारा मेरे उस सत्य का असम्मान कभी न हो।"

अपने प्रभु से सत्य का दान ग्रहण कर फिर चैन की नींद तो ले नहीं सके। उनके आत्मीय छूटे, घर छूटा, समाज छूटा, उनकी निन्दा से देश

छा गया—इतना बृहत् उनका संसार, इतने मानी बन्धुगण, इतने धनी आत्मीय, इतना जिनका सहयोग, सबसे विच्छेद हो गया, ऐसी दीक्षा उन्होंने ली थी; जगत् की समस्त अनुकूलता को विमुख करके, केवल सत्य लिये हुए देश-देश, वन-वन और पर्वतों में भ्रमण करते फिरे। प्रभु का सत्य ऐसा है। इस अग्नि की रक्षा का भार लेकर न आराम है न निद्रा, रुद्रदेव की वह अग्नि दीक्षा आज के उत्सव में है। किन्तु वह क्या गुप्त ही रहेगी? इस गीत वाद्य के कोलाहल में प्रवेश करके वह "भयानां भयं भीषणम् भीषणानां" (भयों के भय, भीषणों के भीषण) अपनी दीप्त सत्य की वज्रमूर्ति को क्या प्रत्यक्ष करके नहीं जायँगे? गुरु के हाथ से वह जो "वज्रमुद्यतं" (उद्यत वज्र) उन्होंने ग्रहण किया था, सप्तम पौष के उत्सव की आत्मा में वह वज्रतेज होकर स्थित है।

किन्तु यह केवल वज्र ही नहीं है, केवल परीक्षा ही नहीं है, इस दीक्षा में जो अभय वर मिला हुआ है वह भी देखना है। उन धनी सन्तान के जीवन में जो संकट के दिन आये थे वे तो सबको ही विदित हैं। एक विपुल ऐश्वर्यमय राजहर्म्य के समान जिनका आश्रय-भवन था वह अकस्मात् एक दिन उनके माथे पर टूट पड़ा और उन्हें मिट्टी में मिलाने का उद्योग हुआ, तब उस भयंकर विपद पतन में एकमात्र इस सत्यदीक्षा ने आवृत्त करके उनकी रक्षा की। उस दिन उनका कोई पार्थिव सहायक न था। इस दीक्षा ने उन्हें केवल दुर्दिन के दारुण आघात से ही नहीं बचाया, किन्तु प्रलोभन के दरुणतर आक्रमण से भी रक्षा की।

आज इस सप्तम पौष के उत्सव में उनकी सत्य-दीक्षा की रुद्र-दीप्ति एवं बरा-भय रूप दोनों ही हैं। उसका यदि हम दर्शन पा सकें तथा लेशमात्र भी यदि ग्रहण कर सकें तो धन्य हो जायँगे। सत्य की दीक्षा किसे कहते हैं? यदि उसको भक्तिपूर्वक स्मरण करके जा सकें तो धन्य हो जायँगे, इसमें धोखाधड़ी नहीं, लुक्का-चोरी नहीं, दुविधा नहीं, दोनों ओर भले बनकर चलने की चातुरी नहीं, अपने को भुलाने के लिए चातुर्यपूर्ण मिथ्या-युक्ति नहीं, समाज को प्रसन्न करने के लिए बुद्धि के दो चक्षुओं को अन्ध करना नहीं,

मनुष्य के बाजार में बिक्री करने के लिए भगवान् का धन चुराना नहीं। इस सत्य को समस्त दुःख-पीड़न-सहित स्वीकार करते ही एकदम निर्भय होकर, मिट्टी का घर तोड़कर तुरन्त पितृ-भवन का अधिकार प्राप्त होता है, चिर-जीवन का गम्य स्थान, अमृत निकेतन, जो इस पथ के एकमात्र बन्धु हैं उनका अमोल आश्रय प्राप्त होता है, सत्य-दीक्षा का अर्थ है यह।

वह साधु साधक अपने जीवन के सबसे बड़े दिन को, अपने दीक्षा-दिवस को, इस निर्जन प्रान्त के मुक्त आकाश तथा निर्मल आलोक में प्रतिष्ठित करके रख गए हैं। उनके इस महादिवस के चारों ओर यह मन्दिर, यह आश्रम, यह विद्यालय प्रतिदिन आकार धारण कर रहे हैं, हमारा जीवन, हमारा हृदय, हमारी चेतना इन्हें वेष्ठित करके स्थित हैं, इस दिवस के आह्वान में ही कल्याण मूर्तिमान होकर प्रकाशित हुआ है, तथा उसके सत्य-दीक्षा का दिन धनी व दरिद्र को, बालक व वृद्ध को, ज्ञानी व मूर्ख को, प्रतिवर्ष इस आनन्द के उत्सव में आमन्त्रित करता है। इस दिन को हम अन्यमनस्क जीवन के द्वार पर खड़ा करके नहीं मनावें। इसे भक्तिपूर्वक, आदरपूर्वक अन्दर बुला लें, और अपने दैनिक तुच्छ जीवन के दैन्य को सम्पदा में परिणत कर दें।

हे दीक्षादाता, हे गुरु, अब भी यदि प्रस्तुत न होऊँ तो प्रस्तुत होने को बाध्य करो, आघात करो, चेतना को सर्वत्र उद्यत करो, लौटा न देना प्रभु लौटा न देना, दुर्बल जान अपने सभासदों में सबसे पीछे ठेलकर न रखना। इस जीवन में सत्य ग्रहण करना ही है, निर्भय और निःसंकोच होकर। असत्य के स्तूपाकार आवर्ज्जना (कूड़े का ढेर) के मध्य जब व्यर्थ जीवन-निक्षेप नहीं करूँगा, दीक्षा ग्रहण करनी ही है। आप मुझे बल दें।

मनुष्य

कल उत्सव के मेले में आये हुए दुकानदार और पंसारी आदि अभी भी गये नहीं हैं। सारी रात उन्होंने इसी खेत पर आग तापकर, गल्पें

कहकर, गाने गाकर, बाजे बजाकर काट दी।

कृष्ण-चतुर्दशी की शीत-रात्रि। मैं जब अपने नित्य उपासना के स्थान पर आकर बैठा तो अभी रात ही थी; प्रभात होने में कुछ विलम्ब था। चारों ओर अन्धेरा घुप; यहाँ के धूलि-वाष्प-शून्य स्वच्छ आकाश में तारागण देव-चक्षुओं के अक्लिष्ट जागरण की भाँति मानो अक्लान्त-भाव में प्रकाश दे रहे थे। खेतों के बीच-बीच में अग्नि प्रज्ज्वलित थी, उखड़े मेले के लोग सूखे पत्ते जलाकर अग्नि ताप रहे थे।

और दिन इस ब्रह्म-मुहूर्त में कितनी शान्ति, कितनी स्तब्धता रहती थी, उपवन के समस्त पक्षी जाग जाने से भी स्तब्धता भंग नहीं होती। उस शान्ति को वे स्पर्श भी नहीं करते। शालवन की मर्मरित पल्लव-राशि में पौष मास की उत्तरी वायु दूरन्त (बेकाबू) हो जाने पर भी वह उस शान्ति को स्पर्श तक नहीं कर सकती।

किन्तु, कई मनुष्य मिलकर जब कलरव करते हैं तो प्रभातकालीन प्रकृति की स्तब्धता क्यों इस प्रकार क्षुब्ध हो उठती है? उपासना के लिए साधक पशु-पक्षीहीन स्थान नहीं ढूँढ़ता, मनुष्यहीन स्थान क्यों ढूँढ़ता फिरता है?

उसका कारण यह है कि मनुष्य ने विश्व-प्रकृति के साथ ऐक्य स्थापित नहीं किया है, विश्व-प्रवाह के साथ मनुष्य ने सामञ्जस्य स्थापित नहीं किया तथा उसकी ताल के साथ ताल नहीं मिलाई। इसीलिए जहाँ-जहाँ मनुष्य रहता है वहाँ-वहाँ अपने चारों ओर अपनी ही तरंग संचार करता है; उसके कुछ न कहने पर भी तारागण की निःशब्दता अथवा नितान्त निश्चल रहने पर भी, वनस्पति के समान निस्तब्धता, नहीं आ सकती। उसका अस्तित्व-मात्र अग्रसर होकर आघात करता है।

भगवान् ने अपनी इच्छा से ही विश्व-प्रकृति के साथ, मनुष्य का थोड़ा-सा सामञ्जस्य नष्ट कर दिया है। यह उनके आनन्द का कौतुक है। उन्होंने हमारे पंचभूत में जो एक बुद्धि का संचार कर रखा है, एक अहंकार की योजना बना बैठे हैं, उसी के कारण हम विश्व से अलहदा

हो गए हैं, इसी पदार्थ द्वारा हमारी पंक्ति नष्ट हो गई है। इसी कारण सूर्य-तारागण आदि ग्रहों के साथ हम लोग ताल-में-ताल मिलाकर नहीं चल पाते। हम जहाँ हैं वहाँ हैं, यह बात भूलने की किसी की सामर्थ्य नहीं है।

भगवान् ने हमारे इस सामंजस्य को नष्ट करके प्रकृति के पास से हमें दूर कर देने के कारण सबेरे से शाम तक हमें अपने ही निजी काम में मारे-मारे फिरना पड़ता है।

उस सामञ्जस्य के भंग हो जाने से हमारी प्रकृति में विराट् विश्व की शान्ति नहीं आती। हमारे भीतर के अनेक महलों से यह रव (ध्वनि) उठता है, "चाहता हूँ, चाहता हूँ और चाहता हूँ—" शरीर कहता है चाहता हूँ, मन कहता है चाहता हूँ, हृदय कहता है चाहता हूँ। एक मुहूर्त से भी इस रव को विश्राम नहीं। यदि समस्त के संग अविच्छिन्न सम प्रवाह रहता तो हममें हजार सुरों में चाहने की बला न उठती।

आज उषा के अन्धकार में बैठकर चारों ओर से उस विचित्र चाहना के कोलाहल को सुना। कितनी माँगों की हाँक थी वह। "अरे गोरू कहाँ गई", "अमुक कहाँ है", "थोड़ी-सी आगी चाहिए", "तम्बाकू कहाँ है रे", "गाड़ी मगाओ तो", "अरे हाँडी तो रह ही रई।"

एक जाति के पक्षी जब उषाकाल में गाते हैं, तो एक ही स्वर में एक ही प्रकार का गाना गाते हैं, किन्तु मनुष्यों की इस कल-ध्वनि में तो एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के साथ न तो वाणी का मेल खाता है, न सुर का।

क्योंकि भगवान् ने मनुष्य के साथ अहंकार जोड़ दिया है, इसलिए उसका जगत् से भेद उत्पन्न हो गया है और उनमें से प्रत्येक को स्वतंत्रता मिल गई है। हमारी रुचि, आकांक्षा, चेष्टा सब ही एक-दूसरे से भिन्न केन्द्र का आश्रय लेकर एक अपरूप (विचित्र) मूर्ति धारण करके बैठी है। प्रत्येक कार्य में एक की दूसरे के साथ धक्का-मुक्की, विघ्न-बाधा चल रही है। छीना-झपटी, खींचातानी, का कोई अन्त नहीं। इससे

कितनी विषमता तथा कितने उत्ताप का जन्म होता है जिसकी सीमा नहीं। उस विषमता से पीड़ित, उस ताप से तप्त, हमारा स्वातन्त्र्यगत असामञ्जस्य केवल सामञ्जस्य के लिए ही प्रार्थना करता है। इसीलिए हम लोग केवल खा-पहनकर ही जीवन बिताकर मोक्ष नहीं पाते। हम एक स्वर, और एक सम प्रवाह, एक मेल को चाहते हैं। इसकी चाह हमारे खाने-पहनने की चाह से अधिक ही है, कम नहीं। हमको सामञ्जस्य की नितान्त आवश्यकता है। इसीलिए और किसी बात का ध्यान न देकर हम काव्य-रचना करने बैठ जाते हैं। कितना लिखते हैं, कितना आँकते हैं, कितना घड़ते हैं। कितने गृह, कितने समाज-निर्माण करते हैं, कितने धर्म और मत की रचना करते हैं। कितना अनुष्ठान, कितना प्रतिष्ठान, कितनी प्रथा का अनुसरण! इस सामञ्जस्य की आकांक्षा की प्रेरणा में नाना देशों के मनुष्य कितने ही प्रकार की आकृति वाले राज-तन्त्रों का निर्माण करते हैं। कितना आईन (विधान), कितना शासन, कितनी ही भाँति-भाँति की शिक्षा-दीक्षा। क्या करने से विभिन्न मनुष्यों के नाना अहंकार की सजावट लेकर एक विचित्र सुन्दर ऐक्य स्थापित हो सकता है, इसी चेष्टा में, इसी तपस्या में समस्त पृथ्वी के मानव व्यस्त हैं।

इसी चेष्टा की ताड़ना में मनुष्य अपनी एक अलग सृष्टि की रचना करता है। निखिल सृष्टि में से अहंकार के बीच निर्वासित होने से ही उसके लिए अपनी सृष्टि की रचना की इतनी आवश्यकता आन पड़ी है। मनुष्य का इतिहास केवल इसी सृष्टि-रचना का इतिहास है, इसी समन्वय का इतिहास है, उसके समस्त धर्म-कर्म, समस्त भाव व कल्पनाओं के मध्य केवल इस अमेल के मेल का इतिहास-रचित हो रहा है। पाना चाहता हूँ, मिलन चाहता हूँ, इसको छोड़ और कोई बात नहीं।

इसीलिए सम्पूर्ण संसार के नाना पुरुषों के बीच, नाना स्वतन्त्र प्रयोजनों के बीच, नाना कलरवों के बीच, जब एक सज्जन को यह गाना गाते सुना—"हरि आमाय बिना मूल्य पार करे दाओ" (हे हरि!

बिना उतराई लिये पार कर दो) तो मैंने उस गाने में इस समस्त कलरव के मर्म को जाना। समस्त चाहना के अन्तर में उस पार होने की चाहना है। जो विच्छिन्न हैं वे केवल यही कहते हैं, "ओ भाई, मुझे इस विच्छेद से उत्तीर्ण कर दो," क्योंकि इस विच्छेद से पार होकर ही प्रेम में पूर्णता आती है। यह प्रेम पूर्ण हुए बिना, कुछ भी प्राप्त हो, हमारी तृप्ति नहीं हो सकती। इसके बिना तो हम केवल मृत्यु से मृत्यु की ओर ही जा रहे हैं। यहाँ से वहाँ मारे-मारे फिरते हैं—प्रेम-पूर्ति होने पर ही विषम आपत्ति का शमन होता है।

किन्तु शाश्वत मेल की प्राप्ति तो विच्छेद में होकर ही हो सकती है। केवल मेल में रहकर तो मेल की प्राप्ति होती नहीं।

इसीलिए भगवान् ने अहंकार देकर हमें विच्छिन्न जो कर दिया है वह उनकी प्रेम-लीला ही है। अहंकार के बिना विच्छेद सम्भव नहीं, विच्छेद बिना मिलन सम्भव नहीं, और मिलन बिना प्रेम सम्भव नहीं। मनुष्य इसी विच्छेद पारावार के पार बैठकर, प्रेम को ही नाना आकार में चाहते-चाहते नाना प्रकार की तरणी रचना कर रहा है। यह समस्त ही उसके पार होने की तरणी है—चाहे राजतन्त्र कहो, चाहे धर्मतन्त्र कहो।

किन्तु यह हो, तो भी पार होकर कहाँ जायँगे? तो क्या अहंकार को एकदम लुप्त करके सम्पूर्ण अविच्छेद के देश में पहुँचना ही अमृत-लोक की प्राप्ति है? उस देश में भी तो मिट्टी-धूल-पत्थर हैं। वहाँ तो समष्टि के साथ तान मिलाकर चलते हैं, कोई विच्छेद नहीं जानते। क्या इसी प्रकार के आत्म-विलय के लिए मनुष्य क्रन्दन कर रहा है?

कभी नहीं। यदि ऐसा ही होता तो सभी प्रकार के विलय में उसे सान्त्वना मिलती, आनन्द मिलता। मनुष्य को विलुप्ति का डर अन्तःकरण से भयभीत करता है, उसके प्रमाण के लिए प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं। कुछ कम हुआ सोचकर उसे कोई सुख का स्मरण नहीं होता। इसी आशंका एवं स्मरण के साथ उसके जीवन का घोर विषाद जड़ित है। वह उसे पकड़े रहना चाहता है किन्तु पकड़े रह नहीं सकता। मनुष्य

यदि अन्तःकरण से किसी को नहीं चाहता तो वह विलय है।

यदि यही बात निश्चित है तो जो असामञ्जस्य, जो विच्छेद के ऊपर उसका स्वातन्त्र्य प्रतिष्ठित है, क्या उसी को वह चाहेगा ? उसे तो नहीं चाहेगा। इसी विच्छेद, इसी असामञ्जस्य को लेकर वह सदा से (चिरदिन) रोकर मर रहा है।

अपना जितना पाप, जितना ताप इसी के सिर मढ़ता है। इसीलिए तो वह गान गा उठा, "हरि आमाय बिना मूल्ये पार करो !" किन्तु यदि पार लगने का अर्थ लुप्त ही होना है, तब तो हम मुश्किल में पड़ गए। तो यह हुआ इस पार दुःख और उस पार धोखा।

हम तो दुःख भी नहीं चाहते और धोखा भी नहीं चाहते। तो हम चाहते क्या हैं और उसे पाने का रास्ता भी क्या है ?

हम प्रेम को ही चाहते हैं। उस प्रेम को पाते हैं कब?—जब विच्छेद और मिलन का सामञ्जस्य घटित होता है, जब विच्छेद मिलन को नाश न करे, और मिलन भी विच्छेद को ग्रास न करे। दोनों जब एक साथ रहें और दोनों के बीच कोई विरोध न रहे और एक-दूसरे के सहायक होकर रहें।

हमारी समस्त आकांक्षा इस भेद और ऐक्य का सामञ्जस्य हो जाने के लिए ही है। हम इनमें से किसी को भी छोड़ना नहीं चाहते। हमारा जो-कुछ प्रयास है, जो-कुछ सृष्टि है वह इसी भेद-अभेद की अविरुद्ध ऐक्य-मूर्ति देखने के लिए ही है, इन्हीं दो के बीच एकता लाभ करने के लिए ही है। हमारे प्रेम के भगवान् जब हमें पार लगायेंगे तो हमारे चिरदुःख के विच्छेद को ही चिरन्तन आनन्द के विच्छेद में परिणत कर देंगे। तब वह हमारे इस विच्छेद के पात्र को ही भरकर, मिलन-सुधा का पान करायेंगे। विच्छेद कैसा अमूल्य रत्न है वह तभी हृदयंगम करा देंगे।

उजड़ी पैंठ

मनुष्य का मन जिस प्रकार केवल यही बोलता है—'चाहता हूँ, चाहता

हूँ, चाहता हूँ' उसी प्रकार उसके ठीक पीछे-पीछे ही और एक उच्चारण होता है—'नहीं चाहता, नहीं चाहता, नहीं चाहता।' अभी कहता है—'इसके बिना सरता नहीं', दूसरे ही क्षण कहता है—'अब कोई आवश्यकता नहीं।'

उजड़े मेले के लोग कल रात्रि में कह रहे थे, "थोड़े-से काठ-कूठ, झाड़ पत्ते मिलें तो रक्षा हो।"—तब ऐसा लगता था कि उसके बिना काम ही न चलेगा। शीत ऋतु में खुले खेतों के बीच एक आश्रय रचना ही, जगत् में सबकी अपेक्षा गुरुतर प्रयोजन प्रतीत होता था। किसी प्रकार से एक चूल्हा बनाकर, सूखे पत्ते जलाकर और कुछ भी थोड़ा-सा भोजन बनाकर खाने की चेष्टा ही अत्यन्त बलवती थी। इस चाहना तथा इस चेष्टा के सामने पृथ्वी के सभी व्यापार हेच हो गए थे।

किसी प्रकार कुछ काठ-कूठ, झाड़-पत्ते संग्रह किये। किन्तु रात अभी बीती नहीं थी कि सुना, "ओ भाई—गाड़ी कहाँ है रे, बैल जोत तो, जाना है, अब तो गाँव चलना है!" इस समय चले जाना ही सबसे बड़ा प्रयोजन है। कल रात्रि के समय के ऐकान्तिक प्रयोजन आज आवर्जना बनकर रह गए हैं। कल जिसे अति आवश्यक कहते थे, आज उसी का परित्याग करके जाने में अति व्यस्त हैं।

मनुष्य-जाति भी इसी प्रकार एक युग से दूसरे युग में जाने का आयोजन करती है। जब नूतन प्रभात उदित होता है, जब रात्रि 'भोर होगा, भोर होगा' करती है, तब यह उसे हिलाहिलाकर पुकारता है, 'ओ रे ओ चल! बैल कहाँ है रे? गाड़ी कहाँ है रे? तब यह रात्रि की अत्यन्त प्रयोजनीय सामग्री आज दिन के आलोक में अत्यन्त आवर्जना बनकर लज्जित हुई पड़ी है। सूखे पत्तों में से अब भी धुआँ उठ रहा है, उसकी राख भी अब जमने लगी है। टूटी हुई हँडिया शाल-पत्रों के ढेर पर खेत में बिखरी पड़ी है। आश्रय-गृह भी आश्रितों द्वारा परित्यक्त होकर अत्यन्त श्री-भ्रष्ट तथा लज्जित हुए पड़े हैं। पूर्व में आकाश अरुणिम हो उठा है, समस्त ही छोड़कर अब यात्रा के लिए निकलना पड़ेगा। बार-बार एक युग का

प्रयोजन संग्रह करना होता है। तब प्रतीत होता है, अब की बार का प्रयोजन ही चरम है, अब और किसी दिन भोर-वेला में गाड़ी में बैल जोतने की आवश्यकता नहीं रहेगी। यही सोचकर फिर काठ-कूठ, डाल-पत्ते संग्रह करने में प्रवृत्त हो जाते हैं। किन्तु, फिर भी अत्यन्त एकान्त प्रयोजन के अति दूर सम्मुख दिगन्त में से करुणा-भरे भैरवी स्वर में रव सुनाई देता है --'प्रयोजन नहीं है, प्रयोजन नहीं है।'

यदि इतना-सा यह स्वर न होता, यदि इस अत्यन्त प्रयोजन के अन्तर में अत्यन्त अप्रयोजन का वास न रहता, तो क्या हमारी रक्षा हो पाती ? यदि प्रयोजन सचमुच एकान्त होता तो उसके भयंकर भार को कौन सहन कर पाता ? क्योंकि अत्यन्त अप्रयोजन के यह रात और दिन, अत्यन्त प्रयोजन के भार को हरण करते रहते हैं, इसीलिए हम आवश्यकता के अति प्रबल गुरुत्वाकर्षण में भी संचरण कर पाते हैं। इसीलिए भोर का झुट-पुट दिखाई देने-मात्र से ही राशिकृत (संचित) बोझ, यहाँ-वहाँ, किसी प्रकार उठाकर फेंक और गाड़ी पर चढ़कर, बैठ पाते हैं। 'कुछ भी नहीं रहता' कहकर दीर्घ निःश्वास लेते हैं, उसी प्रकार कुछ भी नाश नहीं होता' सोचकर हताश नहीं होते। रहता भी है, जाता भी अवश्य है, इन दोनों के बीच हमें धोखा भी मिलता है और आश्रय भी प्राप्त होता है। हमारा घर भी बन जाता है तथा प्रकाश और वायु का ह्रास भी नहीं होता।

उत्सव शेष

अनेक दिनों तक उत्सव मनाते रहने से हम निर्धन हो जाते हैं। ऋण शोध करते-करते दिन बीतते हैं। अल्प-साधन व्यक्ति यदि एक दिन के लिए राजा बनने का शौक पूरा करने लगे तो वह दस दिन के लिए दिवालिया हो जाता है, कोई और उपाय भी नहीं।

इसीलिए उत्सव के उपरान्त वाला दिन हमें बड़ा मलीन-सा लगता है। उस दिन आकाश के प्रकाश की उज्ज्वलता भी जाती रहती है, उ

दिन अवसाद के भार से हृदय आक्रान्त हो जाता है।

किन्तु कोई उपाय भी नहीं। मनुष्य जब वर्ष के अन्त में एक दिन अपना कार्पण्य दूर करता है, तब उस अकृपण के साथ आदान-प्रदान सम्बन्ध स्थापन करना चाहता है। ऐश्वर्य के द्वारा वह ईश्वर की उपलब्धि करता है।

दो प्रकार की उपलब्धि होती है। एक प्रकार है, दरिद्र जिस प्रकार धन की उपलब्धि करता है—दान ग्रहण करके। इस प्रकार में पार्थक्यता का विशेष स्थान है। दूसरे प्रकार में समकक्षता की उपलब्धि। उस स्थल पर हमें द्वार के बाहर बैठा रहना नहीं पड़ता, कितने ही और मनुष्यों के साथ जाजिम पर बैठ सकते हैं।

प्रतिदिन हम जब दीन भाव में होते हैं, तो हमारा निरानन्द चित्त आनन्दमय से भिक्षा माँगता है। उत्सव वाले दिन वह भी कहना चाहता है—आज केवल लेना ही नहीं है, आज मैं भी तुम्हारी तरह आनन्द मनाऊँगा। आज मुझमें दीनता नहीं है, कृपणता नहीं है, आज मेरा आनंन्द एवं मेरा त्याग भी तुम्हारे समान ही अजस्र है।

इस प्रकार से ऐश्वर्य क्या है, अकृपण का प्राचुर्य किसे कहते हैं, वह अपने में ही अनुभव करके कि ईश्वर केवल हम पर अनुग्रह ही नहीं करता है, हमारा अपना आत्मीय भी है, ऐसा समझ पाते हैं और उसका प्रमाण भी पाते हैं।

किन्तु इसको समझते हुए और प्रचार करने की कोशिश करते हुए कई बार अन्त में दुःख उठाना पड़ता है। गये दिन के अवशेष, पिछली मोमबत्तियों के ढेर और सूखी मालाओं की ओर देखते हुए मन उदास होता है। तब फिर चित्त का राजकीय औदार्य समाप्त हो जाता है, हिसाब की बात ध्यान में आते ही मन क्लेशित हो उठता है।

किन्तु, दुःख उसको उठाना नहीं पड़ता, जो प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा साधन करता रहता है, जो प्रतिदिन ही उत्सव का आयोजन करता

रहता है, जिसका उत्सव वाले दिन से प्रतिदिन का सम्पूर्ण पार्थक्य नहीं होता, परस्पर नाड़ी का संयोग हो जाता है ।

यदि यह न होता रहे तो हमें ऋण लेकर उत्सव मनाना पड़ता है । आनन्द भले ही मनाएँ, किन्तु उसका अधिकांश चुकता निजी कौड़ी खरच कर नहीं करते, उसमें पन्द्रह आने उधार लेकर ही चलाते हैं । लोक-समागम से उधार लेते हैं, फूलों की माला से, प्रकाशादि से, सभा की शोभा से उधार लेते हैं; गायन से, वादन से, वक्तृता से उधार लेते हैं । उस दिन की उत्तेजना में ध्यान ही नहीं रहता कि यह सब उधार लेकर ही चल रहा है । दूसरे दिन जब फूल सूख जाते हैं, प्रकाश फीका हो जाता है, लोग चले जाते हैं, तब अपने त्याग की प्रकाण्ड शून्यता समक्ष होते ही हृदय को व्याकुल कर देती है ।

हम अपनी इस दैन्यवशता में ही उत्सव-देवता को उत्सव के साथ-साथ विसर्जन करके बैठ जाते हैं । उत्सव के अधिपति को प्रतिदिन सिंहासन पर बिठाने का आयोजन नहीं करते ।

हमारा यह सौभाग्य रहा कि हममें से कुछ लोग प्रतिदिन ऊषा के झुट-पुटे में, इस मन्दिर के प्रांगण में एकत्रित होकर कुछ कमाई कर लेते थे । हम लोग इस उत्सव में एकदम रवाहूत (सुनकर आये) विदेशी के समान नहीं जुट गए हैं, हमारी प्रतिदिन की प्रातःकालीन कमाई तुरन्त ही व्यर्थ खरच नहीं हो गई । हम विचार करते हैं कि उत्सवकर्ता से हम कह सके हैं कि आपसे हमारा कुछ परिचय है, आपका निमन्त्रण हमें प्राप्त हुआ है ।

तत्पश्चात् हम अपने उत्सव को एकदम समाप्त करके नहीं छोड़ देंगे । इस उत्सव को अपने दैनिक उत्सव के बीच प्रवाहित करके अग्रसर होंगे । प्रतिदिन ही प्रातःकाल हम दस-बीस लोग अपने उत्सव को मनाते रहेंगे । अपनी प्रतिदिन की समस्त तुच्छता एवं आत्म-विस्मृति के मध्य अन्ततः एक बार···दिनारम्भ होते ही जगत् के नित्योत्सव के ऐश्वर्य की उपलब्धि करके छोड़ेंगे । जब नित्य ही उषा अपने आलोक को हाथ

में लेकर पूर्व दिशा-प्रान्त में आकर खड़ी होगी, तब हम कुछ लोग स्तब्ध होकर बैठे हुए अनुभव करेंगे कि हमारा प्रत्येक दिन ही महिमान्वित, ऐश्वर्यमय है—हमारे जीवन की तुच्छता ने उसे लेश-मात्र भी मलीन नहीं किया, प्रतिदिन ही वह नवीन, उज्ज्वल तथा परमाश्चर्यमय रहा, उसके हाथ का अमृत-पात्र एकदम उलटकर उँडेलने पर भी एक बिन्दु क्षय नहीं हुआ।

सञ्चय तृष्णा

एक दिन की आवश्यकता से अधिक जो संचय नहीं करते, हमारी प्राचीन संहिताओं में ऐसे ही द्विज गृहस्थी की प्रशंसा की गई है, क्योंकि एक बार संचय आरम्भ करने से क्रमशः हम संचय का यन्त्र बन जायँगे, और तब हमारा संचय, प्रयोजन को भी बहुत पीछे छोड़कर, आगे निकल जायगा, इतना कि प्रयोजन को भी वंचित और पीड़ित करने लगेगा।

यह नियम आध्यात्मिक सम्बन्ध में कुछ कम हो जाता हो सो बात नहीं। यदि किसी पुण्य को यह मन में रखकर आचरण करें कि भविष्य में किसी फल-लाभ के लिए हम जमा कर रहे हैं, तो यह संचय ही हम-को दबा बैठेगा, उसके सम्बन्ध में हम कृपण जैसे हो जाते हैं, उसके सम्बन्ध में हमारी स्वाभाविकता एकदम नष्ट हो जाती है, सब बातों में हम सूद की ओर ही ताकते तथा लाभ का ही हिसाब करते रहते हैं।

ऐसी अवस्था में पुण्य हमारे आनन्द को उपवासी करके रखता है और सोचता है कि उपवास कराकर ही पुण्य की वृद्धि होती है। इसी प्रकार आध्यात्मिक साधना-क्षत्र से भी अनेक कृपण लोग आहार को संचय करके प्राण को नष्ट करते हैं।

आध्यात्मिक गृह-व्यवस्था में हम आज ही कल का विचार नहीं करते। यदि ऐसा करें तो आज की व्यवस्था से भी वंचित हो जायँ। वहाँ हम जमा करने की चिन्ता ही नहीं करते, हम तो खर्च ही सीखे

हैं। हमारी नित्य की प्रार्थना मानो हमारी प्रतिदिन की निःशेष सामग्री ही है। यह तो विचार ही नहीं होगा कि इससे हम शांति-लाभ करेंगे, पुण्य-लाभ करेंगे, भविष्य में किसी समय इसके द्वारा परित्राण-लाभ करेंगे, अथवा और कुछ भी जो संग्रह हुआ हो उसे हाथ-के-हाथ उन्हें निःशेष समर्पण करना होगा, उन्हें समस्त दान करने में ही सम्पूर्ण समर्पण है।

यदि हम विचार करें कि उनकी उपासना करना पुण्य करना है, तो समस्त पूजा ईश्वर के अर्पण नहीं की, पुण्य के लिए उसे खूब जमा कर रहे हैं। यदि आरम्भ करते हुए मन में विचार करें कि, जो कुछ ईश्वर का कार्य है उससे लोक-हित होगा, तो लोक-हित की उत्तेजना क्रमशः ईश्वर के प्रसाद-लाभ को हीन करके स्वयं को श्रेष्ठ बनाकर उठेगी।

धर्म-व्यापार में इसी पाप-छिद्र के द्वारा विषय-कर्म की सांसारिकता की अपेक्षा तीव्रतर सांसारिकता प्रवेश कर लेती है। इसीसे क्रोध, विद्वेष, परनिन्दा, परपीड़न आदि निशाचरगण, धर्म के नाम पर अपने गुहा-गह्वर से निकल पड़ते हैं, मत के साथ मत के युद्ध में पृथ्वी एकदम रक्तपूर्ण हो उठती है। तब ईश्वर को पीछे ढकेलकर हम आगे बढ़ते रहते हैं। हम हित करेंगे, हम पुण्य करेंगे, हम ईश्वर का प्रचार करेंगे, यही बातें क्रमशः भीषण रूप धारण करके उच्चतर हो उठती हैं। ईश्वर कर्ता है यह मन में रहता ही नहीं। उस समय ईश्वर के भृत्य ही ईश्वर के पथ का अवरोध कर खड़े हो जाते हैं। कहाँ गई शान्ति, कहाँ गया हित, कहाँ गया पुण्य? मुझे इसीलिए कभी-कभी भय होता है कि कहीं मैं भी धीरे-धीरे ईश्वर को धोखा देकर ईश्वर की कथा जमा करने का व्यवसाय तो नहीं खोल बैठा हूँ। तुम किस प्रकार समझोगे, क्या करने से तुम्हें अच्छा लगेगा, क्या करने से मेरी बात हितकर हो जायगी, यही भावना, मैं सोचता हूँ, क्रमशः मुझे दबा लेती है। इसका फल यह होगा कि उपासना के व्याज से एक ऐसा कुछ संचय होता रहेगा जिसकी

ओर मेरा सोलह आने मन पड़ा रहेगा, यदि कोई कहे तुम्हारी बात ठीक से समझ में नहीं आती, अथवा तुम ठीक से समझाकर कह नहीं पाते, तो मैं नाराज होऊँगा।

केवल इतना ही नहीं, मेरे उपदेश द्वारा अन्य जनों को लाभ होगा, यह चिन्ता गुरुतर हो जाने से अन्य जनों पर जुल्म करने की प्रवृत्ति सवार हो जाती है। यदि देखता हूँ कि मन के अनुसार फल-प्राप्ति नहीं होती, तो जबरदस्ती करने की इच्छा होती है। उस समय अपनी शक्ति तथा अधिकार को नहीं, किन्तु दूसरे की बुद्धि तथा स्वभाव को धिक्कारने की प्रवृत्ति जन्म ले लेती है। तब और हृदय से, श्रद्धा से कहने की सामर्थ्य नहीं रह जाती कि, ईश्वर, अपनी बहुधा शक्ति योग द्वारा, विचित्र उपाय द्वारा इस विचित्र मानव का मंगल कीजिए। तब तो हमारे असहिष्णु उद्यम को इसी बात की रटना रहती है कि मेरी ही शक्ति, मेरे ही वाक्य, मेरे ही उपायों द्वारा लोगों को, मेरे ही मत में बाध्य करके उनकी भलाई कीजिए।

इसीलिए अपनी उस नित्य की उपासना से जो-कुछ थोड़ा-थोड़ा करके जिसकी रक्षा करता हूँ उसीसे डरता हूँ। यही बात मेरे लिए बोझ न हो जाय, मेरा बन्धन न हो जाय, मेरे पथ की बाधा न हो जाय। यही कथा पूर्णतया आपकी सेवा में उत्सर्ग करके अपने खाते में उसका कोई हिसाब न रखूँ। यदि कोई फल हो तो भी आप भोग करें, मेरी ममता की नाड़ी को विच्छेद कर यह प्रार्थना भूमिष्ठ हो—"हे नीरव, इस प्रभात की उपासना के समस्त वाक्य आप सम्पूर्ण ग्रहण करके सफल करें, मेरे कंटकित अहंकार के वृत्त से इसे एकदम उत्पाटित कर दें।"

पार करो

उस दिन जो मेला उखड़ने वाली रात में नाना हँसी-मजाक, खेल-तमाशे की गोल-माल में एक गाना 'हरि मोहे पार करो' हो रहा था, वह मुझे आज भी भूला नहीं, अभी भी विस्मित कर रहा है।

मनुष्य जो इतने दिन से कहता आ रहा है, 'मोहि पार करो', यह एक चकित करने वाली बात है। उसकी यह आकांक्षा अपने को सम्पूर्ण जानती है कि नहीं, यह भी नहीं समझ पा रहा हूँ।

यदि कोई साधक संसार की समस्त चेष्टा छोड़कर साधन-समुद्र के कूल पर खड़ा होकर कहे, "हे सिद्धिदाता, आप मुझे उस पार सिद्धि के कूल पर लगा दीजिए," तो उसके माने समझ सकता हूँ। किन्तु जिसके सम्मुख कुछ भी उद्देश्य नहीं, कोई साधना नहीं, उसका नाविक कहाँ? उसका समुद्र कहाँ? वह क्या पार होना चाहता है? उसका यह पार कहाँ और वह पार कहाँ? हम अपने काम-काज की व्यस्तता में भी बोलते हैं, 'हरि मोहि पार करो' गाड़ीवान गाड़ी चलाता है तो गाता जाता है, 'पार करो', मोदी जब दाल-चावल तोलता है तो गुनगुनाता है, 'पार करो'।

यह मत सोचना कि वे कहते हैं, हमें इस कर्म से ही पार कर दो। वे तो कर्म के बीच रहते हुए ही पार होना चाहते हैं, अपना ध्येय प्राप्त करना चाहते हैं, इसीलिए प्रार्थना की धुन लगी रहती है और कर्म में शिथिलता भी नहीं आती।

हे आनन्द-समुद्र! यह पार भी तुम्हारा है और वह पार भी तुम्हारा ही है, किन्तु एक किसी पार को जब अपनाकर कहता हूँ तब उसका दूसरे पार के साथ विच्छेद हो जाता है। तब वह अपने सम्पूर्णता के अनुभव से भ्रष्ट हो जाता है और उस पार के लिए हृदय भीतर-भीतर सुलगता रहता है। अपने इस पार का 'मैं' तुम्हारे उस पार के 'तुम' के विरह में विरही है। पार होने के लिए इतनी अनवरत पुकार इसीलिए है।

'यह मेरा घर' कहकर हम लोग दिन-रात कटे मरते हैं। जब तक यह न कहने लगें कि यह तुम्हारा भी घर है 'तब तक कितना दाह, कितना बन्धन, कितनी क्षति सहनी पड़ती है कि जिसका ठिकाना नहीं। तब तक घर का काम-काज करते-करते उसकी अन्तरात्मा रोकर गाती ही

रहती है—'हरि मोहि पार करो।' जिस दिन भी वह अपने घर को तुम्हारा भी घर करके मान सकेगा, उस दिन ही वह घर में रहते ही पार हो जायगा। मेरा कर्म है मानते हुए 'मैं' रात-दिन जब आत्म-श्लाघा करते हुए घूमता है तो उसे कितना आघात मिलता है और कितना आघात वह करता है, इसीलिए तो पुकारता है, 'मोहि पार करो" जब वह यह कह सके कि 'तुम्हारा कर्म,' तभी वह पार हो गया।

अपने घर को तुम्हारा घर बना दूँ, अपने कर्म को तुम्हारा कर्म बना दूँ, तभी तो मेरा और तुम्हारा योग हो सकेगा। अपना घर छोड़कर तुम्हारे घर जाऊँगा, अपना कर्म छोड़कर तुम्हारा कर्म करूँगा, यह हमारी आन्तरिक भावना नहीं है, क्योंकि इसमें तो विच्छेद की भावना है कि मेरे अन्तर में तुम नहीं हो, और तुम्हारे मध्य मैं नहीं हूँ, मेरे पक्ष में दोनों ही समान हैं।

इसीलिए हमारे घर के बीच हमारे काम-काज और हाट के बीच दिन-रात यही रव उठता है, 'मोहि पार करो'। यहाँ ही समुद्र है और यहाँ ही पार।

इस पार उस पार

जिससे हमारा सामान्य परिचय-मात्र हो, वह हमारे पास बैठा हो तो भी उसके और हमारे बीच एक समुद्र ही है, वह समुद्र है अचैतन्य का, औदासीन्य का। यदि किसी दिन वह व्यक्ति हमारा प्राण-बन्धु हो जाय तो उसी दिन हम समुद्र पार हो जायँ। तो फिर आकाश का व्यवधान मिथ्या हो जायगा, देह का व्यवधान मिथ्या हो जायगा, और कोई भी व्यवधान नहीं रह सकेगा; और तो क्या, मृत्यु का व्यवधान भी अन्तराल रचना नहीं कर सकेगा। जो अहंकार हमारे चारों ओर प्राचीर प्रस्तुत करके परस्पर अति निकट को भी दूर करके रखता है, वह जिसके लिए भी पथ दे देता है वही हमारा हो उठता है।

इसीलिए मैंने कल कहा था, समुद्र पार होना कोई दूर लाँघ जाने

का कार्य नहीं है, वह है निकट की वस्तु को ही अपना लेना।

वस्तुतः, निकटस्थ वस्तु हमसे कितनी दूर रहती है उसका दूरत्व उतना ही भयानक होता है। इसीलिए तो जब हम किसी आत्मीय को दूर करते हैं तो उसे पराये की अपेक्षा और अधिक दूर करके रखते हैं। जिससे घनिष्ठ संस्रव है, उसे जब अनुभव-मात्र भी न करें तो यह उदासीनता मृत्यु की शून्यता से भी अधिक कराल है। और इसी कारण जगत् में सबसे अधिक अन्तरतम जो हैं, उन्हें जब दूर समझें, तो वह जगत् की सब वस्तुओं से दूर जा पड़ते हैं, जो हमारे प्राणों के भी प्राण हैं, वह उस स्थूल दीवार से भी दूर स्थित हैं, संसार में कोई ऐसा दूरत्व नहीं है जिससे दूर वह न हो जायँ। इस दूरत्व की वेदना को हमने स्पष्टतया अनुभव तो नहीं किया जरूर, किन्तु इस दूरत्व के भार में हमारा प्रतिदिन का अस्तित्व, हमारा घर-द्वार, काम-काज, हमारे समस्त सामाजिक सम्बन्ध भाराक्रान्त हो उठे हैं।

तथा, समुद्र के उस पार पहुँचने के लिए जो हम क्रन्दन करते फिरते हैं, वह तट कितना निकट है—इतना कि इस पार से भी अधिक निकट, यह रहस्य जो लोग जानते हैं उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा है। उसके सुनने से हम एकदम चौंक जाते हैं। विचार होता है, इतनी निकट की वस्तु को भी हमने इतनी दूर की समझ लिया था, इसी को हम कहते थे—अगम्य, अपार और असाध्य।

जो समुद्र पार हो गए हैं उन्होंने क्या कहा है ? उन्होंने कहा है—"एषास्य परमागति, एषास्य परमा सम्पद्, एषोऽस्य परमो लोकः, एषोऽस्य परम आनन्दः। एषः का अर्थ है—यह सामने ही जो हैं, जो निकट ही हैं; अस्य का अर्थ है—इनका वह, खूब निकट के जो, इनका। वही हैं इस संसार की परम गति। जो जिसकी परम गति हैं वह उससे लेश-मात्र भी दूर नहीं हैं। जो इतने निकट हैं कि उन्हें 'यह' कहने से ही काम चल जाता है, उनका नाम रखने की भी आवश्यकता नहीं, 'यही है' कहना छोड़ और कोई परिचय देने का प्रयोजन नहीं है। बस यही हैं और समस्त

इन्हीं का है । यह कौन हैं और यह सब किसका है, बस और कुछ कहना ही नहीं । समुद्र के इस पार जो है वह उस पार के लोगों को 'एषः' नहीं कहता और 'यह' नहीं कहता ।

यही हैं यहाँ की, इस संसार की, परमागति । हम जो चलते हैं, हमें कौन चलाता है ? हम सोचते हैं, पैसा-ख्याति हमें चलाती है । मनुष्य-समाज हमें चलाकर रखता है । जो पार हो गए हैं उन्होंने बताया है—यही तो है, इसकी गति, इन्हीं के सहारे यह जीवन चलता है । पैसों का सहारा, ख्याति का सहारा, समाज का सहारा, इन सब सहारों का सहारा है 'यह'; सब सहारे मिट सकते हैं, किन्तु यह सहारा रहता ही है, क्योंकि सब गतियों के बीच उनके पास जाने की प्यास छिपी रहती है । पैसा भी नहीं कहता, 'तुम यहीं रह जाओ', ख्याति भी नहीं, समाज भी नहीं । सभी कहते हैं, "तुम चलो, आगे बढ़ो । वह परमागति हैं, वही गतिदाता हैं, किसी और की सामर्थ्य है कि पथ में बराबर वाले की तरह रुकावट डाल सके ।"

हो सकता है कि हम विचार करें, पृथ्वी जो हमें खींच रही है वह खिचाव पृथ्वी का ही है । किन्तु यदि यही सत्य है तो पृथ्वी का सहारा कौन है ? सूर्य को कौन आकर्षित करता है ? जिस विश्वव्यापी आकर्षण के बल पर ग्रह, तारा, नक्षत्रादि घूम रहे है, कोई निश्चल नहीं रह पा रहे हैं, उस विराट् केन्द्राकर्षण का केन्द्र तो पृथ्वी में नहीं है, एक परमागति है, जो हमारी भी गति है, पृथ्वी की भी, सूर्य की भी । इसी परमागति का स्मरण करते हुए उपनिषद् कहते हैं, "कोह्ये वान्यात्कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् ।" कौन भला किसी प्रकार की भी चेष्टा करता, यदि यह आकाश आनन्द से परिपूर्ण न होता ! वही आनन्द विश्व को अनन्त गति प्रदान करता है, क्योंकि वह आनन्द रूप ही आकाश में व्याप्त हैं, इसीलिए हम अपनी आँख का पलक उठा पाते हैं ।

इसीलिए तो मैं कहता हूँ, हमारी परमागति हमसे दूर नहीं हैं, हमारी तुच्छ-से-तुच्छ गति के बीच भी वह परमागति हैं । जिस प्रकार

सेब के पृथ्वी पर गिरने में ही विश्वव्यापी केन्द्राकर्षण शक्ति निहित है, उसी प्रकार हमारे शरीर की सब गति के तथा हमारे मन की सकल चेष्टा के परमागति हैं, 'यह' एषः, यह ही। उस गति का केन्द्र दूर नहीं है। यहीं है, यहाँ ही।

और फिर जो हमारे परम सम्पद् हैं, परमाश्रय हैं, परमानन्द हैं, वही हमारे प्रतिदिन के समस्त सम्पद्, प्रतिदिन के समस्त आश्रय, एवं प्रतिदिन के समस्त आनन्द में विद्यमान हैं। हमारे धन, जन, घर-बार, इस भोग के बीच जो परम रूप में स्थित हैं वही हैं, एषः वही हैं यह, वह यही तो हैं यह।

अपनी समस्त गति में उस परमागति को, अपनी समस्त सम्पदा में उस परम सम्पदा को, अपने समस्त आश्रय में उस परम आश्रय को, अपने समस्त आनन्द में उस परम आनन्द को जब एषः कहकर पहचानेंगे, उसी को कहते हैं पार होना।

तीन....

दिन

प्रतिदिन ही आलाक, अन्धकार, निद्रा, जागरण, संकोच, प्रसार में होकर हमारा जीवन चलता रहा है। एक बार उसका ज्वार, तो दूसरी बार भाटा। रात्रि को निद्रा के समय हमारे मन और इन्द्रिय की शक्ति अपने में ही संहृत रहती है। भोर होते ही समस्त जगत् की ओर दौड़ने लगती है।

शक्ति जब केवल अपने भीतर ही समाहृत रहती है तो क्या हम अपने को कुछ अधिक जानते हैं, या कुछ अधिक पाते हैं और प्रातःकाल जब हमारी शक्ति अन्य दिशाओं में, नाना पथों में, विकीर्ण होती रहती है तो क्या हम अपने को किसी प्रकार तुच्छ बनाते हैं?

होता है ठीक इसका उल्टा, जब केवल अपने ही में रहते हैं तो होते हैं अचेतन, जब सबकी ओर जाते हैं तो होते हैं जाग्रत, और तभी हम अपने को पहचानते हैं। जब हम अकेले हैं तो हम कुछ नहीं जैसे।

हमारा यथार्थ तात्पर्य हमारे अपने अन्दर नहीं है। वह तो समस्त जगत् में फैला हुआ है। इसीलिए हम लोग बुद्धि द्वारा, हृदय द्वारा, कर्म द्वारा, केवल समस्त को ही ढूँढ़ रहे हैं, केवल उस समस्त के साथ युक्त होना चाहते हैं, नहीं तो अपने-आपकी प्राप्ति ही न कर सकें। आत्मा को सर्वत्र उपलब्ध करना ही तो एकमात्र आत्मा की आकांक्षा है।

एपल (सेब) फल की पतन-शक्ति को जब ज्ञानियों ने विश्व की सकल वस्तुओं में दर्शन कर लिया, तब उनकी बुद्धि अत्यन्त परितृप्त हो गई। कारण है कि सत्य के सर्वत्र दर्शन से ही सत्य की मूर्ति का प्रकाश होता है तथा वही मूर्ति हमको आनन्द प्रदान करती है।

उसी प्रकार जब हम अपने-आपको सर्वत्र व्याप्त देखेंगे तभी उसका सत्य रूप से दर्शन हो सकेगा, अपने इस सत्य को जितना ही व्यापक करें उतना अधिक आनन्द प्राप्त होगा। जो कोई अपने-आपको अपने भीतर से बाहर की ओर खोंचकर उसे सत्यतर रूप में प्रकाशित करता है, उसे ही हम आत्मीय कहते हैं, वही हमें आनन्द देता है।

इसी कारण मानवात्मा, बहु प्राचीन युग से, गृह-बल, समाज-बल, राज्य-बल आदि जो कुछ भी सृष्टि कर रहा है, उसके अन्तर में एकमात्र मूल तात्पर्य यही है कि मनुष्य एकाकित्व का परिहार करके, बहु के मध्य, विचित्र के मध्य, अपनी बहुधा-शक्ति को नाना सम्बन्धों में विस्तृत करके अपने-आपको बृहत् क्षेत्रों में उपलब्ध कर सके; यही उसका यथार्थ सुख है। इसीलिए कहा है, "भूमैव सुखं नाल्ये सुखमास्ति"। भूमा ही सुख है, अल्प में सुख नहीं। कारण यह है कि अल्प में आत्मा भी अल्प होता है।

जो समाज सभ्य होता है वह बहु को विचित्र भाव में आत्मा के साथ सम्बन्धयुक्त होकर ही गौरवान्वित होता है। केवल उपकरणों के बाहुल्य से एवं सुविधा के समावेश से उसकी कोई सार्थकता नहीं।

सभ्य समाज में जहाँ ज्ञान, प्रेम व कर्म-चेष्टा दूर प्रसारित क्षेत्र में सदा सचेष्ट रहते हैं, वहाँ जब मनुष्य वास करता है तो क्षुद्र होकर नहीं। उस व्यक्ति की शक्ति अल्प होते हुए भी सहज में ही अपने को सार्थक करने का अवकाश पाती है। इसीलिए सकल के योग से, भूमा के योग से, सभ्य समाजवासी प्रत्येक व्यक्ति यथासम्भव बलिष्ठ होता रहता है।

जो समाज सभ्य नहीं होता उस समाज में स्वभाव-बलिष्ठ लोग भी दुर्बल होकर रहते हैं, कारण यह है कि उस समाज के व्यक्ति अपने को यथेष्ठ परिमाण में नहीं पाते। उस समाज में जो कुछ भी प्रतिष्ठान (व्यवस्था) है वह केवल घर के लिए उपयोगी है, ग्राम के लिए उपयोगी है, क्योंकि भूमा के साथ इस संकीर्ण प्रतिष्ठान का योग नहीं है, वहाँ उसे चित्त समुद्र का ज्वार लाकर तो पहुँचाएगा नहीं; इसलिए वहाँ मनुष्य

केवल अपने सत्य, अपने गौरव के अनुभव से ही शक्ति-लाभ नहीं कर सकता, वह सर्वत्र ही पराभूत होता रहता है, उसके दारिद्र्य का अन्त नहीं।

इसीलिए हमें सभ्यता की साधना करना आवश्यक है, किन्तु रेलवे और टेलीग्राफ के लिए नहीं; क्योंकि रेलवे और टेलीग्राफ का अन्तिम गम्य स्थान है मनुष्य, कोई स्थानीय स्टेशन-विशेष नहीं।

इस सभ्यता-साधना के मूल में है धर्मबुद्धि। जितना ही प्रसार अपना अल्प हो, उतनी ही अल्प धर्मबुद्धि से भी सर जाता है। अपने घर में, किसी संकीर्ण जगत् में, जब कोई काम करें तो धर्मबुद्धि संकीर्ण होने से भी विशेष क्षति नहीं होती। किन्तु जहाँ बहुत से लोगों को बहुत से बन्धनों में जकड़ना हो, वहाँ धर्मबुद्धि भी प्रबल होनी चाहिए। वहाँ धैर्य, वीर्य, अध्यवसाय (दृढ़ प्रयत्न), त्याग, सेवापरता, लोकहितैषा, समस्त ही खूब ऊँचे दर्जे की हुए बिना ठीक नहीं बैठता। यदि उसे पकड़े रखने का उपयोगी धर्म भी बृहत् न हो तो कोई वस्तु किसी प्रकार भी बृहत् नहीं हो सकती। जब भी धर्म दुर्बल हो जाय, तब ही बृहत् समाज विश्लिष्ट (टूक-टूक) होकर चारों ओर जा पड़ता है, कभी भी कोई उसे बाँधकर न रख सकेगा।

इसलिए, जब भी बहुव्यापारविशिष्ट, बहुदूरव्याप्त, बहुशक्तिशाली सभ्य समाज को हम देखें तो अवश्य प्रारम्भ में ही मानना पड़ेगा कि उसके अन्तराल में एक प्रबल धर्मबुद्धि है, नहीं तो इतने समुदाय में परस्पर विश्वास, परस्पर योग, एक मुहूर्त भी नहीं टिक सकता।

हमारे देश के समाज में भी समस्त क्षुद्रता, विच्छिन्नता दूर करके, ज्ञान, प्रेम और कर्म में भूमा की प्रतिष्ठा किये बिना मानवात्मा कभी बलिष्ठ एवं आनन्दित नहीं हो पायेगी। प्रत्येक का योग साधारण के साथ जितना ही नाना प्रकार के आचार-विचार में बाधा प्राप्त होता रहेगा, उतना ही हमारे निरानन्द, अक्षमता तथा दारिद्र्य केवल बढ़ते रहेंगे। अपने देश में भी समूह के संग, ऐक्य योग प्राप्त करने के लिए

नाना सुयोग की रचना न कर पाने से हमारे महत्त्व की तपस्या नहीं हो सकेगी।

उस सुयोग की रचना करने के लिए हम लोग नाना ओर से चेष्टा करते हैं। किन्तु छोटा-बड़ा जो कुछ भी हम संगठन करना चाहते हैं उसमें यदि केवल विश्लिष्टता ही पैदा होती दिखाई दे, तो निश्चय ही समझना चाहिए कि मूल में धर्मबुद्धि की दुर्बलता है। निश्चय ही सत्य का अभाव है, त्याग का कार्पण्य है, इच्छा की जड़ता है, निश्चय ही श्रद्धा का बल नहीं है, एवं पूजा के उपकरण में से हमारा आत्माभिमान अपने लिए बृहत् अंश चोरी करने की चेष्टा करता है, निश्चय ही परस्पर ईर्ष्या है, क्षमा नहीं है, एवं मंगल को ही मंगल के चरम रूप में गण्य न कर पाने से हमारा अध्यवसाय क्षुद्र बाधा से ही निरस्त होता जा रहा है।

इसलिए हमें सतर्क रहना पड़ेगा। जहाँ कृतकार्यता में बाधा उत्पन्न हो वहाँ निर्वाक् उपकरण के प्रति दोषारोपण करके निश्चिन्त होने की चेष्टा न करें। पाप है, इसीलिए वह किसी बन्धन में नहीं आता। धर्म का अभाव है, इसीलिए वह किसी पकड़ में नहीं आता। इसीलिए हम विच्छिन्न होकर, क्षुद्र होकर, सर्व विषयों में निष्फल होकर, मारे-मारे फिरते हैं; इसीलिए हमारे ज्ञान के साथ ज्ञान, प्राण के साथ प्राण, चेष्टा के साथ चेष्टा सम्मिलित कर मानवात्मा के लिए उपयुक्त विहार-क्षेत्र निर्माण नहीं कर पा रहे हैं, हमारा आत्मा किसी प्रकार भी उस विश्वकर्मा विराट् पुरुष के साथ युक्त होने योग्य अपना विराट् रूप धारण नहीं कर पा रहा है।

रात्रि

गत कल्य (कल), रात्रि एवं दिन, निद्रा एवं जागरण के विषय में एक बात कहनी रह गई थी। वह एक प्रधान बात है।

हमारी जाग्रतावस्था में हमारी शक्ति और प्रकृति की शक्ति के

बीच एक लीला घटती रहती है। विश्वकर्मा के विश्वकर्म का और हमारे कर्म का योग-साधन होता रहता है। जो "बहुधा शक्ति योगात् वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति," उनकी उस बहुविभक्त शक्ति के विचित्र प्रवाह-पथ में अपनी चेष्टा को संचालन करके, हम शक्ति की आश्चर्यमय सम्पूर्ण गति को आविष्कार करके आनन्दित होते हैं। एक समय जहाँ सोचा था कि शक्ति का शेष हो गया, चलते रहते देख पा रहा हूँ कि वहाँ से पथ ने और एक नया मोड़ ले लिया है, इस प्रकार से जगद्-व्यापार की उस बहुधाशक्ति के बीच अपनी शक्ति को भी बहुधा कर देने से उसके साथ सकल दिशाओं में समान गति-लाभ करने के लिए हमारा चित्त उत्साहित हो जाता है।

इस प्रकार हमारा जाग्रत चैतन्य समस्त इन्द्रिय-शक्ति तथा मानस-शक्ति के जाल को चतुर्दिक् निक्षेप करके नाना वेग, नाना स्पर्श, नाना लाभ के द्वारा अपने को सार्थक करता है।

किन्तु केवल ज़ाल के प्रदर्शन से तो मछुए का काम चलता नहीं। जाल में ग्रंथि भी पड़ती हैं, जाल में खोप भी आती हैं, जाल मैला भी हो जाता है। तब फिर उसे संशोधन (ठीक) कर लेने के लिए जाल फेंकना एकदम बन्द भी करना पड़ता है।

रात्रि को, निन्द्रा के समय, हम प्राण के जाल का प्रसार, चेतना के जाल का प्रसार, बिलकुल बन्द करके रखते हैं। वह संशोधन तथा क्षति-पूर्ति का समय है। उस समय अपने छिन्न-भिन्न, ग्रथिल (उलझे हुए) मलिन जाल को उनके हाथ में सौंपना पड़ता है। "य एष सुप्तेषु जागर्ति कामंकामं पुरुषो निर्मिमाणः" वह पुरुष सकल जनों के सुप्त रहते हुए, जाग्रत रहकर, सकल प्रयोजनों का निर्माण करते हैं।

अतएव, एक बार ही अपनी समस्त चेष्टाओं को संवरण करके सम्पूर्ण भाव से उसी विश्व-प्राण के हाथ में अपने प्राण समर्पण कर देने पड़ते हैं। उस समय हम वनस्पति के समान हो जाते हैं, प्रकृति के साथ हमारा कोई भी विच्छेद नहीं रहता, हमारी अहंकार से बिलकुल

निवृत्ति हो जाती है, तब ही हमें निखिल के अन्तर्वर्ती गम्भीर आराम की उपलब्धि हो पाती है। जाग उठने पर समझ पाते हैं कि विश्राम को हमने इतनी देर तक केवलमात्र शून्यता के स्वरूप में अनुभव नहीं किया, वह एक पूर्ण वस्तु है व हमारी निश्चेष्टता व निश्चैतन्य के मध्य भी वह एक आराम, विशाल विश्व-प्रकृति का मूलगत आराम, जिस आराम की श्यामल मूर्ति तथा निर्वाक् प्रकाश को हम शाखा-पल्लवित निस्तब्ध वनस्पति के बीच देख पाते हैं।

जैसे हम अपने प्राण को प्रति रात्रि प्रकृति के हाथ समर्पण करके प्रभात में नूतन प्राण चेष्टा के लिए पुनः प्रस्तुत करते हैं, वैसे ही दिन में अन्ततः एक बार अपनी आत्मा को परमात्मा के हाथों में सम्पूर्ण भाव से समर्पण कर देने का भी प्रयोजन है। नहीं तो आवर्जना (कूड़ा-करकट) जमा होता रहेगा, टूट-फूट, चूरा आदि कम नहीं होंगे, ताप बढ़ता ही रहेगा—काम, क्रोध, लोभ प्रभृति की प्रवृत्ति अपने प्रयोजन को अतिक्रम करके अन्दर और बाहर विद्रोह-रचना करती रहेगी।

इसीलिए प्रभात में उपासना के समय अपनी सकल चेष्टाओं को क्षान्त (क्षय) करके, सब रिपुओं को शान्त करके, कुछ काल के लिए परमात्मा के साथ अपनी आत्मा का परिपूर्ण सामञ्जस्य स्थापन करना आवश्यक है। उस समय हमें अपने अन्तराल में परमात्मा के लिए सम्पूर्ण पथ छोड़ देना पड़ेगा, ऐसा होने से ही एकान्त आत्म-विसर्जन की सुगम्भीर शान्ति के सुयोग में हमारे मन की व्याधि के मध्य, स्वास्थ्य का संचार हो सकेगा, सारा संकोच प्रसार को प्राप्त होगा एवं हृदय-ग्रन्थियाँ शिथिल हो जायँगी।

तत्पश्चात् उपासना-शान्त हमारी अन्तर्प्रकृति, जब संसार में विचित्र के मध्य, बहुलता के मध्य, विभक्त होकर नाना आकार-प्रकार से आत्मोपलब्धि में प्रवृत्त होगी, तब वह सकल कार्यों में, गम्भीर भावों में, पवित्र भावों में नियुक्त हो पाएगी; तब बात-बात में वह चारों ओर आघात नहीं करती रहेगी।

तब उसकी समस्त चेष्टाओं में शान्ति विराजमान रहेगी। विशाल विश्व के विचित्र व्यापार के बीच जिस प्रकार एक आश्चर्यमय सामञ्जस्य है, जिसकी उपस्थिति से समस्त चेष्टाओं की मूर्ति, शान्ति व शक्तियों की मूर्ति सुन्दर हो गई है, जिसकी उपस्थिति से विश्वजगत् ने एक वैज्ञानिक परीक्षाशाला अथवा प्रकाण्ड पुतलीघर के समान कठोर आकार धारण नहीं किया है। हमारी चेष्टाओं के मध्य वही सामञ्जस्य रहेगा, हमारे कर्मों में वही सौन्दर्य बनकर फूट निकलेगा। ईश्वर जिस रीति से कार्य करते हैं, कियत्क्षण उनके पास अपने समस्त अहंकार से निवृत्त होकर, उनके पास परम सुन्दर कौशल को सीख लूँगा। अपने-आपको, उनके चरण प्रान्त में उपस्थित करके कहूँगा, "जननी, प्रातः काल इसके ऊपर अपना निपुण हस्त एक बार स्पर्श कर दो, गत दिवस के संसार के आघात से जो सकल छिन्नता आ गई है वह समूल नष्ट हो जायगी।"

यदि हम, प्रतिदिन, दिवस के आरम्भ में, उनके पवित्र हस्त का स्पर्श अपने ललाट पर ग्रहण करके चलें, एवं यह वार्ता स्मरण भी रखें, तो फिर ललाट को और धूलि में लुण्ठित करना न पड़ेगा। यह उपासना का सुर तानपूरे के सुर के समान हमारे अन्तर में समस्त दिन नियम-पूर्वक बजता रहे, जिससे हम अपने प्रत्येक वचन तथा व्यवहार को उस सुर के साथ मिलाकर विचार कर सकें, एवं समस्त दिन को विशुद्ध संगीत में परिणत करके संसार के कर्मक्षेत्र को आनन्द का क्षेत्र बना सकें।

प्रभात में

प्रभात के इस पवित्र प्रशान्त मुहूर्त में अपनी आत्मा को परमात्मा के मध्य एक बार सम्पूर्णतया समावृत्त करके देखो, तो समस्त व्यवधान (अड़चन) दूर हो जाते हैं, निमग्न हो जाते हैं, निविष्ट हो जाते हैं, उन्होंने निविड़ (अन्तरंग) भाव में हमारे आत्मा को ग्रहण किया है, इस

उपलब्धि द्वारा अत्यन्त परिपूर्ण हो जाते हैं ।

नहीं तो हमें अपने आत्मा का सत्य परिचय हो ही नहीं पाता। भूमा के साथ अपने को योगयुक्त किये बिना हमें अपने को क्षुद्र होने का भ्रम होता है, अपने को दुर्बल मानने की मिथ्या धारणा होती है। मैं लेशमात्र भी क्षुद्र नहीं हूँ, अशक्त नहीं हूँ। महापुरुषों ने मानव-समाज में ही इसका प्रमाण दिया है। उनको जो सिद्धि प्राप्त हुई है वह हम सब की सिद्धि है, हमारी प्रत्येक की आत्मा-शक्ति उनमें प्रत्यक्ष हुई है। बत्ती के ऊर्ध्व भाग में जब आलोक-शिखा उत्पन्न हुई है तो यह लाभ समस्त बत्ती का है। बत्ती के नितान्त निम्न भाग में भी वही जलने की क्षमता मौजूद है। समय पड़ने पर वह भी जलेगी, और जब तक समय नहीं आयेगा तब तक वह उस ऊपर के ज्वलन्त अंश को धारण किये रहेगी। प्रभात की उपासना में प्रतिदिन अपने अन्तःस्थित मानवात्मा के माहात्म्य को, हम एकदम बाधा-मुक्त होकर देख सकते हैं। अपने को दीन, दरिद्र मानने का जो भ्रम है उसे दूर कर सकते हैं कि हमने घर के एक कोने में जन्म प्राप्त किया है, इस विचार का एक संस्कार बनाये बैठे हैं, उसे त्यागकर स्पष्ट एक अनुभव होता है कि भूर्भुवः स्वलोक में हमारे इस शरीर का जन्म हुआ है, इसीलिए बहुलक्ष योजन दूर पथ से हमारे ज्योतिष्क कुटुम्बीगण हमारा तत्त्व (समाचार) जानने के लिए आलोक-दूत को भेजते रहते हैं। हमारे इस अहंकार में ही हमारे आत्मा का चरम आवास नहीं है—जिस अध्यात्म लोक में उसकी स्थिति है वह है ब्रह्म लोक। जिस जगत् सभा में हम आये हैं वहाँ राजत्व करने का हमारा अधिकार है, यहाँ हम दासत्व के लिए नहीं आये हैं। भूमा ने स्वयं हमारे ललाट पर अपने हाथ से राजतिलक लगाकर भेजा है। अतएव, हम अपने को अकुलीन समझकर, माथा नीचा करके, संकुचित होकर, संसार में संचरण न करें, अपने अनन्त आभिजात्य के गौरव में अपना स्थान ग्रहण कर सकें।

आकाश का अन्धकार जिस प्रकार नितान्त काल्पनिक पदार्थ के

समान देखते-देखते दूर हो जाता है हमारी अन्तर्प्रकृति के चारों ओर से मिथ्या संस्कार भी उसी प्रकार एक मुहूर्त में नाश हो जाय। हमारा आत्मा उदयोन्मुख सूर्य की भाँति हमारे चित्त-गगन में अपने बाधा-मुक्त ज्योतिर्मय स्वरूप में प्रकाशित हो जाय। अपने उज्ज्वल चैतन्य में, अपने निर्मल आलोक में, हमारा संसार-क्षेत्र सर्वत्र पूर्ण भाव में उद्भासित हो उठे।

विशेष

जगत् में सर्वसाधारण के साथ हमारा साधारण भाव में ऐक्य है। धूल के संग, पत्थर के संग हमारा मेल है, घास के साथ, पात के साथ हमारा मेल है, पशु-पक्षी के साथ हमारा मेल है, साधारण मनुष्य के साथ हमारा मेल है, किन्तु एक जगह बिलकुल मेल नहीं, जहाँ मुझमें विशेषता आ जाय। जिसे मैं आज 'मैं' कहकर पुकारता हूँ, इसका कोई द्वितीय मुकाबले का नहीं है। ईश्वर की अनन्त विश्व-सृष्टि के बीच जो सृष्टि सम्पूर्ण अपूर्व है वह केवलमात्र 'मैं', अकेला 'मैं', अनुपम, अतुलनीय 'मैं', यह मैं का जो जगत् है वह अकेले मेरा ही जगत् है। इस महाविजन (मनुष्यरहित) लोक में मेरे अन्तर्यामी को छोड़कर और किसी के प्रवेश करने की स्पर्धा नहीं है।

हे मेरे प्रभू, वह जो अकेला 'मैं', विशेष 'मैं', उसके बीच आपका विशेष आनन्द है और विशेष आविर्भाव है, वैसा विशेष आविर्भाव किसी देश और किसी काल में नहीं है। अपनी इस बिशिष्टता को, प्रभू, मैं सार्थक करूँगा। 'मैं' नामक सकल से सम्पूर्ण स्वतन्त्र जो एक विशेष लीला है, इस विशेष लीला में आपके साथ योग दूँगा। यहाँ मैं इसके साथ एक होकर रहूँगा।

पृथ्वी के क्षेत्र में यह मानव-जन्म, आपकी उस विशेष लीला के सौन्दर्य के साथ, संगीत के साथ, पवित्रता के साथ, महत्त्व के साथ, सचेतन भाव में, वहन करके चलें। मुझमें जो आपका एक विशेष अधिष्ठान

(स्थान) है यह तथ्य किसी दिन किसी प्रकार से भी न भूलें। अनन्त विश्व संसार में यह जो एक 'मैं' पैदा हुआ है, मानव-जीवन में वह 'मैं' सार्थक हो जाय।

इस 'मैं' को आप, और सबसे अधिक स्वतन्त्रता देकर, अनादिकाल से वहन करते आ रहे हैं। सूर्य-चन्द्र-ग्रह-तारा आदि में होकर इसे हाथ पकड़कर सँभाले हुए ला रहे हैं, किन्तु इसे किसी के साथ भी अटकाकर नहीं रखा। किसी नीहारिका (आकाश का कुहाँ) के ज्योतिर्मय वाष्प-निर्झर से अणु-परमाणु को संचालन करके कितनी पुष्टि, कितने परिवर्तन, कितनी परिणतियों के बीच में होकर, इस 'मैं' को आज इस शरीर में प्रकट किया है। आपका वह अनादिकाल का साथ मेरे इस देह के मध्य संचित हो गया है। अनादिकाल से आज-पर्यन्त, अनन्त सृष्टि के बीचों-बीच एक विशेष रेखा का पात होता आ रहा है, यह है 'मैं' की रेखा। इसी रेखा-पथ पर, मैं बराबर आपके साथ चला आ रहा हूँ। आप ही हैं मेरे अनादि पथ के चालक, अनन्त पथ के अद्वितीय बन्धु, आपको ही अपने एकमात्र बन्धु के रूप में अपने जीवन में उपलब्ध करूँगा। और कुछ भी, कोई भी आपकी समानता न पा सके, आपसे बड़ा दूसरा कोई न हो पाए। और मेरा यह साधारण जीवन, जिसे मैं, नाना क्षुधा, तृष्णा, चिन्ता, चेष्टा द्वारा समस्त तरु-लता, पशु-पक्षियों के साथ एकत्रित होकर भोग करता हूँ, वह अनेक ओर से प्रबल न हो उठे—मुझमें जो आपका एक विशेष स्पर्श, विशेष क्रिया, विशेष आनन्द अनन्त काल के सुहृद व सारथि के रूप में उपस्थित रहा है उसे कहीं आच्छन्न न कर दे। मैं जहाँ जगत् के साथ शामिल हूँ, वहाँ आपको जगदीश्वर कहकर पुकारता हूँ। आपके सब नियम पालन करने की चेष्टा करता हूँ, पालन नहीं करने पर आपकी शास्ति ग्रहण करता हूँ, किन्तु 'मैं' रूप में, आपको अपना ही एकमात्र कहकर अनुभव करना चाहता हूँ। वहाँ आपने मुझे स्वाधीन कर दिया है, क्योंकि स्वाधीनता न हो तो प्रेम में सार्थकता न हो, इच्छा का इच्छा से मेल न हो, लीला

का लीला से योग न हो। इसीलिए स्वाधीनता के इस 'मैं' क्षेत्र में ही सर्व दुखों की अपेक्षा परम दुःख है, आपके साथ विछोह, अर्थात् अहंकार का दुःख और सब सुखों में अधिक सुख आपके साथ मिलन, अर्थात् प्रेम का सुख। यह अहंकार का दुःख किस प्रकार दूर होगा, यही विचारकर बुद्ध भगवान् तपस्या में लीन हुए एवं अहंकार का दुःख किस प्रकार नाश होता है यही जानकर क्राइस्ट ने प्राण दिये थे। हे पुत्र से भी प्रिय, वित्त से भी प्रिय, हे अन्तरतम, प्रियतम, यह मैं, निकेतन ही आपकी चरम लीला का स्थल है। इसीलिए तो, यहाँ ही, इतना निदारुण दुःख एवं उस दुःख का ऐसा अपरिसीम अवसान, इसीलिए तो यहाँ ही मृत्यु है, एवं अमृत उस मृत्यु के वक्ष को विदीर्ण करके उसे उत्सारित करता है। यह दुःख-सुख, विछोह और मिलन, अमृत व मृत्यु, जो आपके दक्षिण तथा वाम बाहु हैं, इनको जकड़कर गह लूँ और कह सकूँ, "मेरा सब कुछ मिट गया, अब मुझे कुछ भी नहीं चाहिए।"

प्रेम का अधिकार

कल रात्रि यह गाना मेरे मन से उठ रहा था—

हे नाथ, प्रेम-पथ की बाधा सब तोड़ दो।
मत रखो बीच में कुछ दूर मत रहना कभी।
निर्जन में, सजन में अन्तर और बाहर में,
नित्य ढूँढूँ मैं तुम्हें, बाधाएँ सब तोड़ दो।

किन्तु, यह कैसी प्रार्थना है? यह प्रेम किसके साथ? मनुष्य किस तरह यह भाव कल्पना में लाया है, और मुख से उच्चारण करता है कि विश्वभुवनेश्वर के संग उसका प्रेम होगा? विश्वभुवन कहते ही क्या कल्पना होती है, एवं उसकी तुलना में मनुष्य कितना क्षुद्र है, सोचने पर मुँह बन्द हो जाता है। समस्त मनुष्य-समूह के सामने मैं कितना क्षुद्र हूँ, मेरा सुख-दुःख कितना अकिंचित्कर, तुच्छ और निरर्थक है। सौर-जगत् के बीच मनुष्य एक मुष्टि बालुका की तरह यत्सामान्य एवं समस्त नक्षत्र-लोक की तुलना में इस सौर-जगत् का स्थान इतना छोटा है कि

अंक द्वारा उसकी गणना भी दुस्साध्य है।

उस समस्त, अगण्य, अपरिचित लोक-लोकान्तर का अधिवासी इस क्षण भी उन विश्वेश्वर के महान् राज्य में अभावनीय (निधड़क) जीवन-यात्रा वहन करता है। इसी प्रकार सकल ज्योतिष्कलोक अनन्त आकाश की गम्भीरता में निमग्न है और जिसका आलोक युग-युगान्तर से अविश्राम यात्रा करता हुआ आज भी हमारे दूर-वीक्षण क्षेत्र में आकर प्रवेश नहीं कर पाया, वह समस्त अज्ञात, अदृश्य लोक भी, उसी परम पुरुष की परमशक्ति के ऊपर प्रति मुहूर्त एकान्त निर्भर होकर स्थित है। हम इसके विषय में कुछ भी नहीं जानते।

ऐसे अचिन्तनीय ब्रह्माण्ड के जो परमेश्वर हैं उनके साथ, यह कणों का कण, अणु का अणु, बोलता है, प्रेम करेगा, अर्थात् उनके राजसिंहासन पर उनके पार्श्व में जाकर बैठेगा। अनन्त आकाश में, नक्षत्र-नक्षत्र में, उनके जगत्-यज्ञ का होम-हुताशन, युग-युगान्तर से जो चल रहा है, मैं उसी यज्ञ-क्षेत्र की असीम जनता के एक प्रान्त में खड़ा होकर, किस दावे के जोर पर द्वारी से कहता हूँ कि यज्ञेश्वर के आसन पर मुझे स्थान देना ही होगा।

मनुष्य में उच्च होने की आकांक्षा की कोई सीमा नहीं, यह बात जानने योग्य है। आपने सुना है न, कि अलेक्ज़ेण्डर ने इसी भाव से भावित होकर कहा था कि एक पृथ्वी जय करके कुछ आनन्द नहीं मिला, यदि और भी एक पृथ्वी होती तो फिर जय-यात्रा को निकलता। दो जून जिसे अन्न नहीं जुटता, वह भी कुबेर के भण्डार का स्वप्न देखता है! मनुष्य की आकांक्षा किसी कल्पना को भी असम्भव कहकर नहीं मानती, ऐसे अनेक प्रमाण हैं।

मनुष्य जगदीश्वर के साथ प्रेम करना चाहता है, यह क्या उसकी अत्याकांक्षा की ही चरम उन्मत्तता नहीं है? उसके अहंकार का ही क्या एक अशान्त परिचय नहीं है?

किन्तु इसमें तो अहंकार का लक्षण नहीं है। उनके प्रेम के लिए

जिन्होंने अपने को होम दिया है, वह तो अपने को दीन मानकर, सब के पीछे खड़े होते हैं तथा जो ईश्वर के प्रेम के दरबार के दरबारी हैं, उनके चरणों की धूलि पा जाने पर अपने को धन्य मानते हैं। किसी क्षमता, किसी ऐश्वर्य के कंगाल नहीं रहते, सर्वस्व ही त्यागने को प्रस्तुत रहते हैं।

इसलिए इस जगत्-सृष्टि में, मेरे मन में यही एक सबसे आश्चर्य की बात उठती है कि मनुष्य उनका प्रेम चाहता है, एवं सकल प्रेमों की अपेक्षा सबसे बड़ा सत्य, सबसे बड़ा लाभ मानता है। क्यों चाहता है, क्योंकि मनुष्य को इसका अधिकार प्राप्त है। इस प्रेम के दावे को जिसने जन्म दिया है उन्हीं से प्रेम, इसीलिए अब भय और लज्जा किसकी ?

उन्होंने मुझे एक विशिष्ट 'मैं' बनाकर समस्त जगत् से स्वतन्त्र कर दिया है, यही मेरा सबसे बड़ा दावा है—समस्त सूर्य-चन्द्र और तारागण से बड़ा। सर्वत्र ही विश्व के भाराकर्षण का खिचाव है, मेरे इस स्वातन्त्र्य पर कोई जोर नहीं। यदि होता तो इसे वह धूलि-राशि के साथ मिलाकर एक कर देता। प्रकाण्ड जगत् का भार इस छोटे-से 'मैं' के ऊपर नहीं है, इसीलिए 'मैं' अपनी गौरव-रक्षा करता हुआ कैसा सिर तानकर चलता है ! पुराण के अनुसार जैसे काशी समस्त पृथ्वी से न्यारी है, वस्तुतः वह 'मैं' ही काशी है, 'मैं' जगत् के मध्य निवास करते हुए भी समस्त जगत् से बाहर है।

इसीलिए जगत् के साथ अपना वज़न करके अपने को क्षुद्र मानने से काम नहीं चलेगा, उसके साथ 'मैं' की तुलना नहीं हो सकती।

मैं तो एक विशेष 'मैं' हूँ। मुझ पर उसका शासन नहीं, उसे मुझसे विशेष आनन्द है। इस आनन्द के ऊपर ही मैं निर्भर हूँ। विश्व-नियम के ऊपर नहीं, इसीलिए इस 'मैं' का व्यापार एकदम अलौकिक है। इसीलिए इस परम आश्चर्यमय 'मैं के प्रति उपनिषद् कहते हैं—"द्वा सुपर्णा-सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते" अर्थात् यह "मैं" और 'वह' समान वक्ष की डाल पर दो पक्षियों की भाँति, दो सखा एक साथ

पास-पास बैठे हैं ।

उनके जगत् के राज्य में हमें मालगुजारी चुकानी पड़ती है । इस जल, स्थल, आकाश के, वातास के, अनेक प्रकार के टैक्स देने पड़ते हैं । जहाँ कुछ देना पड़े वहीं जान निकलती है, किन्तु, मेरा यह 'मैं' एकदम लखपती है, वहाँ भी अपने बन्धु का ही घर है न । मेरे साथ उनका यह तय हो चुका है कि तुम इच्छा से जो दो वही लूँगा, और यदि नहीं भी दो तो, जो-कुछ मुझे देना है उससे तुम्हें वञ्चित नहीं करूँगा ।

यदि ऐसा न होता तो इस जगत्-राज्य के अकेले राजा होकर उन्हें आनन्द ही क्या मिलता ? कहीं भी जिनके समान कोई नहीं, वे कितने भयंकर अकेलेपन का अनुभव करते हैं, कितना अनन्त अकेलापन है उनके लिए ! उन्होंने अपनी इच्छा से, केवल प्रेम के ही जोर में अपने एकाधिपत्य को एक जगह परित्याग किया है । वे मेरे इस 'मैं' के कुञ्जवन में विशेष प्रकार से उतरकर आये हैं, बन्धु होकर स्वयं ही बाँह गह ली है । और कह दिया है—"मेरे चन्द्र-सूर्य की कीमत के साथ तुम्हें कोई कीमत का हिसाब करना नहीं होगा, क्योंकि तौल के अनुसार तुम्हारी कीमत नहीं, तुम्हारी कीमत मेरे आनन्द में है, तुम्हारे साथ मेरा विशेष प्रेम है, इसीलिए तुम तुम हुए हो ।"

बस यहाँ मेरा इतना गौरव है कि केवल मैं ही उनको अस्वीकार कर सकता हूँ, और कह सकता हूँ, "मैं तुम्हें नहीं चाहता" । यही बात उनकी पृथ्वी अथवा जल से कहने पर वह सहन नहीं करेंगे, तुरन्त मुझे मारने दौड़ेंगे । किन्तु उनसे यदि कहूँ, "आपको तो मैं नहीं चाहता, मुझे पैसा चाहिए ।" ख्याति चाहिए' वह कहते हैं, "अच्छा ठीक है ।" और कहकर चुप बैठ जाते हैं ।

इस विषय में कभी एक दिन जब होश आता है कि मेरे आत्मा के निभृत निकेतन की चाबी तो मुनीम के पास नहीं है, टका-पैसा, धन-दौलत तो वहाँ किसी प्रकार भी पहुँच ही नहीं सकता, अन्तर रह ही जाता है । वह अकेला घर, जगत् के उन एक महान् अकेले को छोड़

और किसीसे, किसी प्रकार भी पूरा नहीं हो सकता। जिस दिन यह कह सकूँगा, "मुझे धन की आवश्यकता नहीं, ख्याति की भी नहीं, किसी की भी नहीं, केवल आपकी है," जिस दिन कह सकूँगा, "चन्द्र-सूर्यहीन मेरे इस सूने घर में तुम मेरे और मैं तुम्हारा" उसी दिन मेरी वर-शैया पर वर आकर बैठेगा, उसी दिन मेरा 'मैं' सार्थक होगा।

उस दिन एक विचित्र घटना यह घटेगी कि अपने को जितना ही दीन मानूँगा, उतनी ही बड़ी मात्रा में उनके प्रेम का अनुभव करूँगा। उनके प्रेम के ऐश्वर्य की उपलब्धि में उनके प्रेम को ही अनन्त मानूँगा। अपने को फिर बड़ा मानकर न रह सकूँगा। ज्ञान पाकर अपने को ज्ञानी कहने का गर्व होता है, किन्तु प्रेम पाकर, अपने को अधम कहकर और मानकर भी आनन्द होता है। पात्र जितना ही गम्भीर रूप में शून्य होता है, सुधारस से भरकर उतना ही अधिक पूर्ण होता है। इसलिए प्रेम जब लाभ करते हैं तब अपने को बड़ा करके जताने की कोई इच्छा ही नहीं होती, वरंच अपनी अत्यन्त दीनता, अपने को अत्यन्त सुख देने वाली बन जाती है, तब उनकी लीला के अन्तर्गत एक महान् विरोध की सार्थकता समझ में आती है, एवं उस विरोध को स्वीकार करके आनन्दपूर्वक कह सकता हूँ कि जगत् में 'मैं' जितना ही क्षुद्र, जितना ही दीन और दुर्बल अपने 'मैं' निकेतन में, उनके प्रेम के बल पर, 'मैं' उतना ही परिपूर्ण, उतना ही कृतार्थ। 'मैं' अनन्त भाव में दीन है, तथा दुर्बल है, इसीलिए उनके अनन्त प्रेम द्वारा धन्य हो गया है।

इच्छा

सवेरा होते ही हमने अपनी सांसारिक कथा का विचार आरम्भ कर दिया, क्योंकि संसार हमारा जो है। इस संसार का केन्द्र हमारी इच्छा है। मुझे क्या चाहिए और क्या नहीं, मैं किसे अपना बनाऊँगा, किसे छोड़ूँगा, इन्हीं बातों को लेकर ही तो हमारा संसार है।

हमें विश्वभुवन की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। हमारी

इच्छा से सूर्य नहीं निकलता, वायु नहीं बहती, अणु-परमाणु का मिलन और विच्छेद होकर सृष्टि का पालन नहीं होता। किन्तु अपनी इच्छा-शक्ति को मूल में रखकर जिस सृष्टि को हम घड़ रहे हैं, उसकी चिन्ता अपनी सबसे बड़ी भावना मानकर विचार करना पड़ता है, क्योंकि वह हमारी अपनी भावना है।

इसीलिए तो इतने बड़े विश्व-ब्रह्माण्ड के कारबार में हमारे अति छोटे संसार की अति छोटी बात भी हमारे मन को छोटी नहीं लगती। प्रभात की हमारी सामान्य-सी आयोजन-चेष्टा भी, प्रभात के सुमहत् सूर्योदय के सम्मुख लेशमात्र भी लज्जित नहीं होती, ऐसी क्या वस्तु है, जो अनायास ही उसे विस्मृत करके रह सकती है!

मुझे प्रतीत होता है कि दो इच्छाएँ परस्पर संलग्न होकर काम कर रही हैं। एक है विश्व-जगत् के भीतर की इच्छा, और दूसरी हमारे क्षुद्र जगत् के भीतर की इच्छा, जैसे महाराज तो राजत्व करते हैं, और उसी महान् राज्य में छोटे अधीनस्थ तालुकेदार भी अपना-अपना छोटा-सा राज्य लिये बैठे रहते हैं।

उनमें भी राज्य के ऐश्वर्य के समस्त लक्षण मौजूद हैं, क्योंकि उसी क्षुद्र छोटी-सी सीमा में उनकी इच्छा तथा उनका कर्तव्य विराजमान है।

हमारे अपने 'मैं' के जगत् में, हमें प्रत्येक को ईश्वर ने राजा बना दिया है। जो लोग रास्ते की धूल झाड़ते हैं वे लोग भी अपने 'मैं' अधिकार में स्वयं सर्वश्रेष्ठ हैं, इस बात की आलोचना पहले हो चुकी है। जो इच्छामय हैं, उन्होंने हमें, प्रत्येक को एक-एक करके इच्छा का तालुका दान में दिया है और दानपत्र में लिख दिया है "यावत्चन्द्रदिवाकरौ" (जब तक चाँद-सूरज हैं) हम इसका भोग कर सकेंगे।

अपनी इस चिरन्तन इच्छा के अधिकार को लेकर हम कभी-कभी अहंकार में उन्मत्त हो उठते हैं। हम कहते हैं, अपनी निजी इच्छा को छोड़, हम किसी की भी नहीं मानेंगे। इसीलिए सकल का लंघन करने के कारण ही जो इच्छा स्वाधीन होती है उसका हम स्पर्धा के साथ

अनुभव करना चाहते हैं ।

किन्तु इच्छा में और एक तत्त्व है । स्वाधीनता में उसको चरम सुख नहीं मिलता । शरीर जिस प्रकार शरीर को चाहता है, मन जिस प्रकार मन को चाहता है, वस्तु जिस प्रकार वस्तु को आकर्षित करती है, इच्छा उसी प्रकार इच्छा को न चाहे ऐसा नहीं हो सकता । अन्य इच्छाओं से सम्मिलित न हो पाने से, यह अकेली इच्छा अपनी सार्थकता अनुभव नहीं कर सकती । जहाँ केवल एकमात्र प्रयोजन की बात हो वहाँ पर जोर का प्रयोग काम करता है । बलपूर्वक खाना छीनकर खाने से भूख मिट जाती है, किन्तु जहाँ इच्छा प्रयोजनहीन है, वहाँ वह अपने विशुद्ध स्वरूप में और अहैतुक भाव में स्थित है, वहाँ जो वह चाहती है उसमें बल बिलकुल काम नहीं देता, क्योंकि वहाँ तो उसे इच्छा की ही चाह है । वहाँ कोई वस्तु, कोई उपकरण, कोई स्वाधीनता का गर्व, कोई क्षमता उसकी क्षुधा नहीं मिटा सकते, वहाँ तो उसे और एक इच्छा की ही चाह है । वहाँ, यदि वह कोई उपहार-सामग्री ग्रहण करे, तो उसे वह सामग्री कहकर ग्रहण नहीं करती, जिस व्यक्ति ने दान दिया है, उसी की इच्छा का निदर्शन (प्रतीक) मानकर ग्रहण करती है, उसकी इच्छा के दाम में ही उसके भी दाम हैं । माता की सेवा पुत्र के लिए मूल्यवान है । वह केवल सेवा के कारण ही तो मूल्यवान नहीं है, माता की इच्छा के कारण ही उसका इतना गौरव है, दास के दासत्व से हमारी इच्छा की आकांक्षा नहीं मिटती । वह तो बन्धु के इच्छाकृत आत्म-समर्पण के लिए ही पथ पर आँखें बिछाये हुए है ।

इस प्रकार जहाँ इच्छा अन्य इच्छा को चाहती है वहाँ फिर वह स्वाधीन नहीं रहती, क्योंकि उसे अपने-आपका त्याग करना पड़ता है । वह क्या है ? उसे हम कहते हैं इच्छा का विसर्जन । इच्छा की इस अधीनता के समान और कोई अधीनता नहीं है । दासतम दास को भी हम कार्य में प्रवृत्त कर सकते हैं, किन्तु उसे इच्छा-समर्पण के लिए बाध्य नहीं कर सकते ।

संसार में हमारी इच्छा ही तो मूलकर्ता है, वहाँ हमारा एक सर्व-प्रधान कार्य होता है, वह है अन्य की इच्छा के साथ अपनी इच्छा को सम्मिलित करना। इसका हम जितना ही आचरण कर पायेंगे उतना ही हमारी इच्छा का राज्य विस्तृत होता जायगा। हमारा संसार उतना ही बृहत् हो जायगा। वही गृहणी यथार्थ गृहणी है जो माता, पिता, भाई, बहन, स्वामी, पुत्र, दास, दासी, पड़ौसी, आदि सबकी इच्छा के साथ अपनी इच्छा को सुसंगत करके, अपने संसार को परिपूर्ण सामञ्जस्य में सुगठित कर सके। ऐसी गृहणी को सर्वदा ही अपनी इच्छा को मारना पड़ता है, त्याग करना पड़ता है, तब जाकर उसका इच्छाधिष्ठित राज्य सम्पूर्ण होता है। वह यदि सबकी सेवक न हो जाय तो कर्त्री नहीं हो सकती।

इसीलिए कह रहा था, हमारी इच्छा में स्वाधीनता का सबसे अधिक विशुद्ध स्वरूप है, और उसी इच्छा में अधीनता की सबसे अधिक विशुद्ध मूर्ति है। यही नहीं है कि इच्छा अहंकार में अपने को स्वाधीन कहकर प्रकाश करती हुई सार्थक होती हो, वह प्रेम में अपनी अधीनता स्वीकार करने में चरम सार्थकता लाभ करती है। इच्छा को उद्धत होकर अपनी घोषणा करने में उसकी विशेषता नहीं है, अपने को विसर्जन करने में ही उसकी परम शक्ति है, उसका चरम लक्ष्य निहित है।

इच्छा का यह स्वाभाविक धर्म है कि वह अन्य इच्छा को चाहती है, केवल जोर का आधार उसका आनन्द नहीं है। ईश्वर की इच्छा में भी वही धर्म हमें दिखाई पड़ता है। उन्हें इच्छा की चाह है। यह चाह सत्य हो जाय इसलिए उन्होंने हमारी इच्छा को हमारे ही हाथ में रखा है। विश्व-नियम के जाल में इसे एकदम बाँधकर नहीं रखा है। विश्व-साम्राज्य में हर जगह ही उनका ऐश्वर्य है, केवल एक ही वस्तु उन्होंने अपने लिए नहीं रखी है। वह है हमारी इच्छा। इसे वह बलपूर्वक नहीं लेते, माँग कर लेते हैं, मन लुभाकर लेते हैं। वही एक वस्तु है जो हम उन्हें सचमुच अर्पण कर सकते हैं। फूल यदि चढ़ायें, वह उन्हीं के हैं, जल

चढ़ायें, जल भी उन्हीं का है। केवल इच्छा यदि समर्पण करें तो इच्छा वास्तव में हमारी अपनी है।

अनन्त ब्रह्माण्ड के ईश्वर हमारी इस छोटी-सी इच्छा के लिए प्रतिदिन हमारे द्वार पर आते-जाते हैं, इसके नाना निदर्शन (प्रमाण) हैं। यहाँ उन्होंने अपना ऐश्वर्य मन्द किया है, क्योंकि यहाँ ही उनकी प्रेमलीला है। यहाँ ही अवतीर्ण होकर अपने प्रेम की सम्पदा प्रकाशित की है—हमारी भी इच्छा के साथ अपनी इच्छा संगत करके अपनी अनन्त इच्छा का चरम प्रकाश किया है, क्योंकि इच्छा को छोड़ इच्छा का प्रकाश और होगा कहाँ ? वह कहते हैं, "मुझे राजा का खजाना नहीं चाहिए, मुझे चाहिए प्रेम।" प्रभु, इस प्रेम-समर्पण के लिए ही तो आपने इतना बड़ा काण्ड रच रखा है। हमारे अन्तर में यह एक अद्‌भुत 'मैं' की लीला रचकर आप विराजमान हैं, और हमें एक इच्छा की सम्पत्ति प्रदान कर उसे ही पाने के लिए, हमारे पास हाथ पसारे खड़े हो।

सौन्दर्य

ईश्वर हैं 'सत्यम्'। उनके सत्य को स्वीकार करने के लिए हम बाध्य हैं। सत्य को थोड़ा-सा भी स्वीकार न करने से हमारी निष्कृति नहीं, इसीलिए हम अमोघ सत्य को जल में, स्थल में, आकाश में, सर्वत्र ही देखते हैं। किन्तु, वह केवल शुद्ध सत्य ही तो नहीं हैं, 'आनन्दरूपममृत्तं' हैं। वह आनन्दरूप और अमृतरूप भी हैं। उनका यह आनन्दरूप दिखाई कहाँ देता है ?

मैंने इससे पूर्व ही आभास दिया है कि आनन्द स्वभावतः मुक्त है। उस पर जोर नहीं चलता, हिसाब भी नहीं चलता। इसीलिए जिस दिन हम आनन्दोत्सव मनाते हैं उस दिन, प्रतिदिन के बाँधे हुए नियम शिथिल कर देते हैं, उस दिन स्वार्थ को शिथिल कर देते हैं, प्रयोजन को शिथिल कर देते हैं, अपने-पराये के भेद को शिथिल कर देते हैं, संसार के कठिन संकोच को शिथिल कर देते हैं। तभी तो घर में थोड़ा-सा

एक ऐसा खाली स्थान बन जाता है जहाँ आनन्द का प्रकाश अधिक होता है। सत्य बन्धन मानता है, आनन्द बन्धन नहीं मानता।

इसलिए विश्व-प्रकृति में सत्य की मूर्ति नियम में देखने को मिलती है, एवं आनन्द की मूर्ति सौन्दर्य में दिखाई देती है। इसीलिए सत्य के स्वरूप का परिचय हमारे पक्ष में अति आवश्यक है। आनन्द के रूप का परिचय प्राप्त न होने से भी काम चल जाता है। प्रभात में सूर्योदय होने पर प्रकाश होता है, यह जानना और इसे व्यवहार में लाना हमारे लिए नितान्त आवश्यक है, किन्तु प्रभात कितना सुन्दर, सुप्रशान्त है, यह न जानने से हमारे किसी कार्य में क्षति नहीं होती।

जल, स्थल तथा आकाश हमें नाना बन्धनों में बद्ध किये हैं, किन्तु इस जल, स्थल और आकाश के नाना वर्णों में, नाना गन्ध, गीत और सौन्दर्य में जो विचित्र विपुल आयोजन है वह हमें किसी प्रकार भी बाध्य नहीं करता, उसकी ओर ध्यान दिये बिना चले जाने पर हमें अरसिक कहकर गाली भी नहीं मिलती।

इसलिए हम देखते हैं कि जगत् के सत्य लोक में हम बद्ध हैं, सौन्दर्य-लोक में हम स्वाधीन हैं। सत्य को युक्ति द्वारा अखण्डनीय रूप में प्रमाणित कर सकते हैं, किन्तु सौन्दर्य को, स्वाधीन आनन्द को छोड़ और किसी प्रकार प्रमाणित करने की युक्ति नहीं। जो व्यक्ति अवहेलना करके कहे, 'भाड़ में जाय तुम्हारा सौन्दर्य,' तो भी महाविश्व की लक्ष्मी उसके सामने चुप कर जाती है। कोई आईन (विधान, कानून) नहीं, और कोई नहीं जिसके द्वारा सौन्दर्य को मानने के लिए बाध्य करा सके।

अतएव, जगत् में ईश्वर का यह परम विचित्र रहस्यमय सौन्दर्य का आयोजन हमसे कोई महसूल, कोई कर अदा नहीं करवाता, वह तो हमारी स्वाधीन इच्छा चाहता है, कहता है, 'मेरे और तुम्हारे बीच आनन्द का संचार हो, तुम स्वतः ही मुझे ग्रहण करो।'

इसीलिए मैंने कहा था, हमारी अन्तरात्मा के 'मैं' क्षेत्र के एक अलौकिक निकेतन में उस आनन्दमय का जो यातायात है, उसका इस

विशाल जगत् में कितना ही निदर्शन है। आकाश की नीलिमा में, वन की श्यामलता में, फूल की गन्ध में, सर्वत्र ही उनके पद-चिह्न की छाप पड़ी हुई है। वहाँ यदि वह राजवेश में आते तो मैं हाथ जोड़कर उन्हें मानता, किन्तु वह तो बन्धु के वेश में धीमी-धीमी चाल से आते हैं, बिलकुल अकेले आते हैं, उनके साथ उनके पदातिक (पैदल सैन्य) शासन-दण्ड लेकर, जय का डंका बजाते हुए नहीं आते, इसलिए हमारी पाप-निद्रा भंग ही होना नहीं चाहती, दरवाजा बन्द ही रहता है।

किन्तु ऐसा करने से तो काम चलेगा नहीं। शासन का जोर नहीं है इसलिए भाग्यहीन यदि प्रेम का अधिकार भी स्वेच्छा से स्वीकार न करे, तो जन्म-जन्म वह केवल दास, दासानुदास ही रहकर मारा-मारा फिरेगा। मानव-जन्म तो आनन्द का जन्म है, यह खबर उसे कभी मिलेगी ही नहीं। हे बन्धु! अन्तर के जिस निभृतमय आवास में चन्द्र-सूर्य की दृष्टि नहीं पहुँचती, जहाँ किसी अन्तरंग पुरुष के भी प्रवेश के लिए पथ नहीं, जहाँ केवल एकमात्र उनका ही आसन बिछा हुआ है, उसी का दरवाजा खोल दो, दीपक प्रज्वलित करके दिखाओ। जिस प्रकार प्रभात में, मैं सुस्पष्ट देख सकता हूँ कि उनका आलोक मुझे सर्वांग परिवेष्टन किये है, ठीक उसी प्रकार उनका आनन्द, उनकी इच्छा, उनका प्रेम, मेरे जीवन को सर्वत्र नीरन्ध्र निविड़ (अत्यन्त घनिष्ठ) भाव में परिवृत्त किये हुए हैं, ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव कर सकूँ। वह भी प्रण किये बैठे हैं कि अपनी आनन्द-मूर्ति किसी को जबरदस्ती नहीं दिखायेंगे। भले ही वह रोज-रोज फिर जायँ, भले ही जगत्-व्याप्त सौन्दर्य का उनका यह आयोजन प्रतिदिन हमारे लिए व्यर्थ हो जाय, तो भी वह लेशमात्र जोर नहीं देंगे। जिस दिन मुझमें प्रेम जाग्रत होगा, उस दिन फिर उनका प्रेम लेशमात्र भी गुप्त नहीं रह सकेगा। क्या मैं 'मैं' होकर इतने दिन, इतने दुःख में द्वार-द्वार मारा-मारा फिरा, उस दिन इस विरह-दुःख का रहस्य एक क्षण में खुल जायगा।

प्रार्थना का सत्य

कोई-कोई कहते हैं कि उपासना में प्रार्थना का कोई स्थान नहीं। उपासना तो केवल-मात्र ध्यान है, ईश्वर के स्वरूप का मन में उपलब्ध करना।

यह बात मैं मान लेता यदि जगत् में अपनी इच्छा का कोई प्रकाश न देख पाए। हम लोहे से, पत्थर से प्रार्थना नहीं करते, जिसकी इच्छा-वृत्ति होती है उसीके निकट अपनी प्रार्थना रखते हैं।

ईश्वर यदि केवल सत्य स्वरूप ही होते, केवल अव्यर्थ नियमों के रूप में ही उनका प्रकाश होता, तो उनसे प्रार्थना करने की कल्पना भी हममें उदित नहीं होती। किन्तु वह तो हैं 'आनन्दरूपममृतं, वह तो इच्छामय भी हैं, प्रेममय भी हैं, आनन्दमय भी हैं, इसीलिए केवल विज्ञान द्वारा उन्हें नहीं जाना जा सकता। इच्छा के द्वारा ही उनके इच्छा-स्वरूप, को उनके आनन्द-स्वरूप को जान सकते हैं।

पहले ही कह चुका हूँ कि जगत् में हमने उनकी इच्छा का निदर्शन पाया है सौन्दर्य में। यही सौन्दर्य हमारी इच्छा जाग्रत करता है एवं यह है भी इच्छा पर निर्भर, इसीलिए सौन्दर्य को प्रेम-क्षेत्र में उपकरण के रूप में प्रयोग करते हैं, प्रयोजन-क्षेत्र में नहीं। इसीलिए हमारी सजधज, संगीत, सौन्दर्य वहाँ ही है जहाँ इच्छा का इच्छा के साथ योग होता हो. आनन्द का आनन्द के साथ मिलन होता हो। जगदीश्वर ने अपने जगत् में अनावश्यक सौन्दर्य का इतना विपुल आयोजन किया है, इसीलिए हमारा हृदय स्वीकार करता है कि जगत् एक मिलन-क्षेत्र है, नहीं तो यहाँ की इतनी सजधज एकदम बाहुल्य (व्यर्थ) है।

जगत् में हृदय के लिए भी कुछ समझने का एक विषय है, इस बात को एकदम उड़ा देने से काम कैसे चलेगा? आलोक है इसलिए हमारे चक्षु हैं, एक ओर सत्य है इसलिए हमारे पास चैतन्य है, एक ओर ज्ञान है इसलिए बुद्धि है। इसी प्रकार से और क्या है, जिसका प्रतिस्वरूप हमारे अन्दर हृदय है? उपनिषद् ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है।

"रसो वै सः" वह रस हैं, वही आनन्द हैं ।

पहले ही आभास दे चुका हूँ, हम शक्ति द्वारा प्रयोजन साधन कर सकते हैं, युक्ति द्वारा ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु आनन्द के सम्बन्ध में शक्ति एवं युक्ति केवल द्वार-पर्यन्त आकर रुक जाती हैं । उन्हें बाहर ही खड़ा रहना पड़ता है, आनन्द के साथ तो एकान्त आन्तरिक सम्बन्ध होता है इच्छा का । आनन्द पर किसीका दबाव नहीं हो सकता । वहाँ तो केवल इच्छा, केवल अपनी खुशी ।

हमारे भीतर इस इच्छा का निकेतन है हृदय । हमारे इच्छामय हृदय की क्या शून्य में प्रतिष्ठा है, उसकी पुष्टि क्या मिथ्या से होती है ? उसका गम्य स्थान क्या व्यर्थता में है ? तब यह अद्भुत उपसर्ग (इच्छा, हृदय) आये कहाँ से ? किस उपाय से वह एक क्षण भी टिका हुआ है ? जगत् में क्या एकमात्र सब धोखा ही है ? और वह धोखा भी क्या हमारा हृदय ही है ?—कभी नहीं । हमारा यह इच्छा-रसमय हृदय जगद्व्यापी इच्छा-रस की नाड़ी के साथ बँधा हुआ है । वहीं से वह आनन्द-रस पीकर जी रहा है, न पीने से उसका प्राण निकल जायगा । वह अन्न, वस्त्र नहीं चाहता, विद्या-साध्य (विद्या-शक्ति) नहीं चाहता, चाहता है अमृत, चाहता है प्रेम । जो चाहता है तो वह इसीलिए चाहता है कि क्षुद्र रूप में संसार में और चरम रूप में उनमें (भगवान् में) विद्यमान है, नहीं तो किसी रुद्ध द्वार पर सिर पटककर मर जाने के लिए ही उसका जन्म नहीं हुआ है ।

अतएव, हृदय अपने को जानता है, इसीलिए निश्चय रूप से जानता है कि उसकी एक परिपूर्ण कृतार्थता उसके अन्तर में ही स्थित है । इच्छा केवल उसी की ओर हो यह बात नहीं, दूसरी ओर भी है; दूसरी ओर इच्छा न होती तो वह निमेष-काल के लिए भी इधर नहीं रह सकती थी । एक कणमात्र में भी न टिकी रहती, कि निःश्वास-प्रश्वास रूप प्राण-क्रिया भी चल सकती । इसीलिए उपनिषद् इतना जोर देकर कहते हैं, "कोह्येवान्यात् कः प्राणयात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् एष ह्ये-

वानन्दयति", कौन शरीर की चेष्टा करता और कौन जी सकता था, यदि आकाश में वह आनन्द न होता; वे ही आनन्ददाता हैं !

प्रार्थना एक इच्छा और दूसरी इच्छा के बीच दौत्य साधन करने को होती है। दो इच्छाओं के मध्यवर्ती विच्छेद के ऊपर व्याकुल वेश में यह प्रार्थना-दूती खड़ी है। इसीलिए असाधारण साहस के साथ वैष्णव भक्त कहता है कि जगत् के विचित्र सौन्दर्य के बीच भगवान् की वंशी जो नाना सुरों में बज रही है वह केवल हमारे लिए उनकी प्रार्थना है, हमारे हृदय को इसी अनिर्वचनीय संगीत के द्वारा वह पुकार रहे हैं। इसीलिए तो यह सौन्दर्य-संगीत हमारे हृदय की विरह-वेदना को जगा देता है। वह इच्छामय जहाँ इतने मधुर स्वर में हमारी इच्छा को पुकार रहे हैं वहाँ अपनी समस्त शक्ति को एकदम संवरण भी किये हैं। जिस प्रचण्ड शक्ति से उन्होंने सौर-जगत् को सूर्य के साथ अमोघ रूप में बाँधा है, वह जोर लेशमात्र भी यहाँ नहीं है। इसीलिए इतने करुण, इतने मधुर स्वर में, इतने नाना विचित्र रसों से भरी वंशी बज रही है, कि आह्वान का कोई अन्त नहीं है। उनकी ऐसी पुकार पर भी क्या हमारे मन की प्रार्थना नहीं जगेगी ? वह क्या उनके विरह के धूलि-आसन पर लोटकर रो नहीं उठेगी ? असत्य, अन्धकार एवं मृत्यु के निरानन्द निर्वासन से, अभिसार यात्रा के समय यह प्रार्थना-दूती ही क्या अपनी कम्पित दीप-शिखा को लेकर हमारा रास्ता दिखाती हुई आगे-आगे नहीं चलेगी ?

जितने दिन हमारे पास हृदय है, जितने दिन प्रेम-स्वरूप भगवान् अपने नाना सौन्दर्यों द्वारा इस जगत् को आनन्द निकेतन बनाकर सजाते रहेंगे, उतने ही दिन उनसे मिलन हुए बिना मनुष्य की वेदना दूर कैसे होगी ? उतने दिन ऐसा कौन सन्देह कठोर ज्ञानाभिमान है जो मनुष्य की प्रार्थना को अपमानित करके लौटा सके !

यह हमारी प्रार्थना विश्व-मानव के अन्तर की पंकशैया में से व्याकुल शतदल की भाँति समस्त जल-राशि के आवरण को ठेलकर आलोक

के अभिमुख होती है तथा अपना समस्त सौगन्ध्य एवं शिशिराश्रुसिक्त सौन्दर्य उद्घाटित करके कहती है, "असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मामृतं गमय", मानव हृदय की इस परिपूर्ण प्रार्थना के पूजोपहार को मोह कहकर, तिरस्कृत कर सकने की इतनी बड़ी निदारुण शुष्कता किसी की हो सकती है।

विधान

इच्छा, प्रेम और आनन्द की बात उठाते ही उसके विपरीत एक बात मन में आकर आघात करती है। बात यों है। तो इतना शासन-बन्धन क्यों है? जो चाहें वह क्यों नहीं मिलता? जो नहीं चाहें वह सिर पर आकर क्यों पड़ता है?

यहाँ मनुष्य ने तर्क द्वारा नहीं, केवल विश्वास के जोर पर इसका उत्तर देने की चेष्टा की है। कहता है, "स एव बन्धुर्जनिता स विधाता" अर्थात् जिन्होंने मुझे जन्म दिया है 'स एव बन्धु', वही तो मेरे बन्धु हैं। मुझमें यदि उनको आनन्द का प्रकाश न होता तो मेरी स्थिति ही न होती। फिर वह हैं विधाता। विधाता और दूसरा कोई नहीं है। जो जन्मदाता हैं, वही बन्धु और वही विधानकर्ता। इसलिए विधान जो भी हो, मूल में तो कोई भय नहीं है।

किन्तु विधान जैसी वस्तु को ऊटपटांग होने से काम नहीं चलेगा। आज एक प्रकार की, कल दूसरे प्रकार की, हमारे पक्ष में एक भाव, दूसरे के पक्ष में अन्य भाव, कोई स्थिरता ही न हो, यह तो विधान नहीं है। विधान तो विश्व-भर के लिए होता है।

इस विधान के अविच्छिन्न सूत्र में पृथ्वी की रेणु से लेकर नक्षत्र-लोक-पर्यन्त एक साथ गुँथे हुए हैं। अपनी सुख-सुविधा के लिए यदि कहें—भगवान् अपने विधान का सूत्र एक जगह से छिन्न कर दो, केवल एक स्थान पर और सबसे मेरे नियम में विशेष पार्थक्य उत्पन्न कर दो, इसका मतलब हुआ वास्तव में इस कीचड़ से पार होने में मेरे कपड़े पर

दाग लगता है, इसलिए ब्रह्माण्ड के मनिहार के एक सूत्र को तोड़कर समस्त सूर्य, तारा-मण्डल को मेरे रास्ते से हटाकर दूर फेंक दो।

विधान तो किसी एक व्यक्ति का नहीं होता, न किसी एक काल-खण्ड का है। इस विश्व-विधान के योग से ही हम समष्टि के साथ-साथ युक्त हैं एवं किसी काल में भी यह योग विछिन्न नहीं होता। उपनिषद् में कहा है, जो विश्व के प्रभु हैं वह "याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः।" उन्होंने अनादिकाल से शाश्वतकाल के लिए इस समस्त विश्व का यथार्थ रूप में विधान कर दिया है। इस विधान के मूल में है शाश्वतकाल, अर्थात् यह विधान अनादि और अनन्तकाल का विधान है, तत्पश्चात् यह विधान याथातथ्यतः विहित है; यह आद्योपान्त ही यथातथ्य है, कहीं भी छेद नहीं, असंगति नहीं। आधुनिक विज्ञान-शास्त्र ने विश्व-विधान के सम्बन्ध में इससे अधिक प्रशस्त एवं परिष्कृत भाषा में और कुछ नहीं कहा है। किन्तु यदि केवल ऐसा ही हो, यदि केवल अमोघ अचूक नियम के लौहसिंहासन पर वह केवल विधाता के रूप में ही विराजमान रहें, तो उस विधाता के सामने हम काठ, पत्थर, धूल और तिनके के समान हो जाते हैं। इस स्थिति में तो हम शृङ्खलावद्ध बन्दी ही होंगे। किन्तु वह केवल विधाता ही तो नहीं है, स एव बन्धु, वह बन्धु भी तो है। विधाता का प्रकाश तो विश्व के चर-अचर सबमें दिखाई पड़ता है, बन्धु का प्रकाश कहाँ है? बन्धु का प्रकाश तो नियम के क्षेत्र में नहीं होता। वह प्रकाश हमारे हृदय के अन्तर में प्रेम-क्षेत्र को छोड़कर और कहाँ होगा?

विधाता का कर्मक्षेत्र इस विश्व की प्रकृति के भीतर और बन्धु का आनन्द निकेतन हमारी जीवात्मा में है।

मनुष्य एक ओर से प्रकृति है, दूसरी ओर से आत्मा; एक ओर राजा का खजाना पूरा करता है, दूसरी ओर बन्धु के लिए डाली सजाता है। एक ओर सत्य की सहायता से मंगल की प्राप्ति करनी है और दूसरी ओर मंगल के द्वारा उसे सुन्दरता प्राप्त करनी है। ईश्वर की

इच्छा जहाँ नियम रूप में प्रकाश प्राप्त करती है वहाँ प्रकृति है, और ईश्वर की इच्छा जहाँ आनन्द रूप में प्रकाश प्राप्त करती है वहाँ है आत्मा। इस प्रकृति का धर्म है बन्धन, और आत्मा का धर्म है मुक्ति। यह सत्य और आनन्द, बन्धन और मुक्ति, उनके वाम तथा दक्षिण बाहु हैं। इन दोनों बाहुओं के पाश में ही उन्होंने मनुष्य को जकड़ रखा है।

जिस ओर मैं ईंट, काठ, वृक्ष या पत्थर के समान हूँ, उस साधारण दिशा में ईश्वर का सर्वव्यापी नियम किसी प्रकार भी मुझे साधारण से लेशमात्र भेद नहीं होने देता, परन्तु जहाँ विशेष भाव में स्थित हूँ उस स्वातन्त्र्य की दिशा में ईश्वर का विशेष आनन्द किसी प्रकार मुझे और सबके साथ मिश्रित होने नहीं देता। विधाता ने मुझे सब जैसा बनाया और बन्धु ने मुझे अपना निजी बनाया—जो सामग्री सर्वसाधारण की है वह है मेरी प्रकृति, और जो उनकी अपनी सामग्री है वह मेरा जीवात्मा।

तीन

हमारी प्रकृति में उनका नियम काम करता है और आत्मा में आनन्द। नियम द्वारा नियम के साथ और आनन्द द्वारा आनन्द के साथ हमारा योग सम्भव है।

इसीलिए जब मैं सर्वसाधारण में हूँ, जब मैं विश्व-प्रकृति में हूँ, जब मैं मानव-प्रकृति में हूँ, तब यदि मैं अपने को नियम के अनुगत न करूँ तो केवल व्यर्थ हो जाता हूँ एवं अशान्ति की सृष्टि करता हूँ। एक धूलि-कण से भी मैं भुलावा देकर काम नहीं ले सकता, उसका नियम मानने पर ही वह मेरा नियम मानता है।

इसलिए हमारी पहली शिक्षा है—प्रकृति के नियमों का ज्ञान एवं अपने को उन नियमों के अनुगत करने की शिक्षा। इसी शिक्षा द्वारा हम सत्य का परिचय पाते हैं।

इसी शिक्षा के परिणामस्वरूप जो हैं, वही हैं 'शान्तम्'। जहाँ भी नियम की भ्रष्टता हुई, जहाँ भी नियम का नियम के साथ योग नहीं हुआ, वहीं अशान्ति उत्पन्न होती है। और जहाँ परिपूर्ण योग हुआ कि 'शान्तम्' की परिपूर्ण उपलब्धि हुई।

प्रकृति में हमें ईश्वर का कौनसा रूप दिखाई देता है ?—उनका शान्त स्वरूप। उसे जो क्षुद्र करके देखते हैं उन्हें कठिनाई दिखाई पड़ती है, और जो उसे महान् करके देखते हैं उन्हें शान्ति दिखाई पड़ती है। यदि उसके नियम छिन्न होते रहते, यदि ये नियम शाश्वत एवं सत्य न होते, तो एक मुहूर्त में ही इस विपुल विश्व-शान्ति का विध्वंस होकर एक अर्थहीन, परिणामहीन, प्रलय का प्रचण्ड नृत्य आरम्भ हो जाता; यदि ऐसा होता तो विश्व में विरोध विजयी होकर अपने नख-दन्त द्वारा समस्त को छिन्न-भिन्न करके फेंक देता : किन्तु देखो, विचार करके देखो, सूर्य और नक्षत्रों की प्रबल उत्तेजना के बीच, अटल नियम के आसन पर एक महाशान्ति विराज रही है। सत्य का स्वरूप ही है 'शान्तम्'।

सत्य शान्तम् हैं इसीलिए हैं 'शिवम्'। शान्तम् हैं इसीलिए तो सकल विश्व को धारण करते हैं, रक्षा करते हैं, और सकल विश्व उनमें ध्रुव आश्रय प्राप्त करता है। हम भी जहाँ संयत नहीं रहते, अर्थात् जहाँ सत्य को नहीं जानते एवं सत्य द्वारा सत्य की रक्षा किये बिना आचरण करते हैं, वहाँ हमारे अन्तर में भी, बाहर भी, अशान्ति उत्पन्न होती रहती है, एवं यही अशान्ति अमंगल का कारण होती है। नियम का नियम के साथ विच्छेद ही अशिव है, अमंगल है।

जो शिव हैं उनमें ही 'अद्वैतम्' प्रकाशमान हैं। सत्य जहाँ शिवस्वरूप हैं वहाँ ही आनन्दमय तथा प्रेममय, वहाँ ही उनका सकल के साथ मिलन है। मंगल-साधना को छोड़ और मिलन शक्य नहीं, विरोध और विच्छेद का अपदेवता, अमंगल हैं।

एक ओर सत्य, दूसरी ओर आनन्द, मध्य में है मंगल। इसीलिए इस मंगल में होकर ही हम आनन्द-लोक पहुँच पाते हैं।

हमारे देश में तीन आश्रम थे—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ; वे ईश्वर के इन तीन स्वरूपों पर ही प्रतिष्ठित हैं। शान्तस्वरूप, शिवस्वरूप और अद्वैत स्वरूप।

ब्रह्मचर्य के द्वारा जीवन में शान्तस्वरूप लाभ करके गृहस्थ धर्म में रहकर शिवस्वरूप की उपलब्धि करना सुसम्भव होता है, नतुवा गृहस्थ अकल्याण का मूल बन जाता है। संसार में मंगल की प्रतिष्ठा करने से ही सकल स्वार्थवृत्ति सम्पूर्णतया पराहत होती है एवं यथार्थ मिलन धर्म किस प्रकार निर्मल आत्मविसर्जन के ऊपर निर्भर है, हम यह भी समझ पाते हैं। जब यह पूर्णतया समझ पाते हैं, तब ही अद्वैतम्, जो ऐक्य-रूपी परमात्मा हैं, उनके साथ हर प्रकार से बाधाहीन प्रेम का मिलन सम्भव होता है—आरम्भ में सत्य का परिचय, मध्य में मंगल का परिचय, परिणाम में आनन्द का परिचय, अर्थात् प्रथम ज्ञान, फिर कर्म फिर प्रेम।

इसीलिए जैसे हमारा ध्यान का मन्त्र है, "शान्तम् शिवम् अद्वैतम्" वैसे ही हमारी प्रार्थना का मन्त्र है "असतोमा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मामृतं गमय"। असत्य से सत्य में, पाप से पुण्य में, एवं आसक्ति से प्रेम में ले जाओ, तभी हे प्रकाश, तुम मेरे प्रकाश बनोगे, तभी हे रुद्र, मेरे जीवन से तुम प्रसन्न हो उठोगे।

सत्य में ही शेष (समाप्ति) नहीं है, मंगल में भी शेष नहीं, अद्वैत में ही शेष है। जगत्-प्रकृति में शेष नहीं, समाज-प्रकृति में भी शेष नहीं, शेष है परमात्मा में; यह है हमारे भारतवर्ष की वाणी (सन्देश) इस वाणी को हम जीवन में सार्थक कर सकें, यह हो हमारी प्रार्थना।

पार्थक्य

ईश्वर ने केवल मनुष्य को ही पार्थक्य दान किया है, और सब प्रकृति से मिलकर एक होकर रहते हैं, ऐसा कहने से काम कैसे चलेगा? प्रकृति के साथ भी उनका एक स्वातन्त्र्य है, नहीं तो प्रकृति के ऊपर

उनका कोई क्रिया का अधिकार न होता।

भेद यह है कि मनुष्य समझता है कि वह स्वतन्त्र है—केवल इतना ही नहीं, वह यह भी जानता है कि इस स्वातन्त्र्य में उसका अपमान नहीं, गौरव है। पिता जब वयःप्राप्त बेटे को अपनी धनराशि से एक दूसरी धनराशि निर्माण करा देते हैं तो इस पार्थक्य द्वारा उसे तिरस्कृत नहीं करते, वस्तुतः इस पार्थक्य में ही उनका एक विशेष स्नेह का प्रकाश मिलता है, एवं इस पार्थक्य के महान् गौरव को मनुष्य किसी प्रकार भी भूल नहीं सकता।

मनुष्य अपने इस स्वातन्त्र्य-गौरव के अधिकार को लेकर ही अपना व्यवहार करता है; प्रकृति में यह अहंकार नहीं, उसे पता ही नहीं कि उसे क्या प्राप्त है।

ईश्वर ने प्रकृति को किसके द्वारा पृथक् कर रखा है?—नियम द्वारा। नियम द्वारा यदि पृथक् न किये होते तो प्रकृति के साथ उनकी इच्छा का योग ही न रह सकता। एकाकार हो जाने पर इच्छा की गतिविधि का पथ ही नहीं रह जाता।

जो लोग शतरञ्ज के खेल में अपनी इच्छा का प्रयोग करना चाहते हैं वे पहले अपनी इच्छा पर नियन्त्रण करते हैं। किस प्रकार?—नियम की रचना करके, प्रत्येक मोहरे को नियम में बद्ध करके। यह नियम वस्तुतः मोहरे में नहीं होता, होता है खेलने वाले की इच्छा के भीतर। इच्छा स्वयं ही नियमों की स्थापना करके उन्हीं नियमों पर अपना प्रयोग करती रहती है, तभी खेल सम्भव होता है।

इस विश्व-जगत् में भगवान् ने जल का नियम, स्थल का नियम, वायु का नियम, प्रकाश का नियम, मन का नियम, नाना प्रकार के अनेक नियम विस्तृत कर दिए हैं। इन्हीं नियमों को हम सीमा पुकारते हैं। इस सीमा को प्रकृति कहीं से सिर पर ढोकर तो लाई नहीं। उनकी इच्छा ने ही अपने अन्दर इस नियम का, इस सीमा का स्थापन किया है, नहीं तो इच्छा बेकार हो जाती, कोई काम नहीं रहता। इसीलिए जो

असीम हैं वे सीमा के उद्‌गम-स्थान बन गए हैं—केवल इच्छा और आनन्द द्वारा। इसीलिए उपनिषद् में कहा है, "आनन्दाद् ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते"। इसीलिए कहा है, "आनन्दरूपममृतं यद् विभाति।" जो प्रकाशमान हैं उनका जो-कुछ रूप है वह आनन्द रूप है, अर्थात् मूर्तिमान इच्छा। इच्छा ने अपने को सीमा में बाँधा है, रूप में बाँधा है।

प्रकृति में ईश्वर ने जो नियम द्वारा, सीमा द्वारा पार्थक्य की सृष्टि कर दी है, वह यदि केवल पार्थक्य-मात्र ही होता तो जगत् समष्टि-रूप धारण नहीं कर सकता था। उस स्थिति में असंख्य विच्छिन्नता ऐसा विच्छिन्न रूप धारण करती कि केवलमात्र संख्या-सूत्र द्वारा भी उन्हें एकाकार में समझने के लिए कुछ भी न रह जाता।

अतएव, इसके भीतर और एक चीज है जो इस चिरन्तन पार्थक्य का सदा से अतिक्रमण करती है। क्या है ? वही वह है इच्छा-शक्ति। ईश्वर की शक्ति ने इस समस्त पार्थक्य के ऊपर शासन करके इसे एक अभिप्राय में बाँध दिया है। समस्त स्वतन्त्र नियमबद्ध शतरंज के मोहरों में एक उसी खिलाड़ी की शक्ति एक तात्पर्य-विशिष्ट खेल को ही अभिव्यक्त करती रहती है।

इसीलिए ऋषियों ने उन्हें 'कवि' कहकर पुकारा है। कवि किस प्रकार भाषा-स्वातन्त्र्य को, अपनी इच्छा के अधीन करके, अपनी शक्ति के अनुगत करके, सुन्दर छन्द-विन्यास द्वारा एक आश्चर्यमय भाव उद्भावित (प्रकट) कर देता है, उसी प्रकार वह भी "बहुधा शक्ति योगात् वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति," अर्थात् शक्ति को बहुरूप में चालित करके, बहु से युक्त करके, अनेक वर्णों के भीतर से एक निहित छिपा हुआ अर्थ निकालते रहते हैं, नहीं तो यह समस्त ही अर्थहीन हो जाता।

शक्तियोगात्—शक्ति-योग द्वारा। शक्ति एक योग है। उस योग के द्वारा ही ईश्वर सीमा द्वारा पृथक्कृत प्रकृति के संग युक्त होते हैं, और नियम की सीमा-रूप पार्थक्य में स्थित उनकी शक्ति, देश के साथ देशान्तर का, रूप के साथ रूपान्तर का, काल के साथ कालान्तर का

बहुविचित्र संयोग-साधन करके एक अपूर्व विश्व-काव्य सृजन कर रही है।

इस प्रकार जो असीम हैं उन्होंने सीमा द्वारा ही अपने को व्यक्त किया है, जो अकाल मूरत हैं उनका खण्डकाल द्वारा ही प्रकाश हो रहा है। इसी परम आश्चर्यमय रहस्य को विज्ञान-शास्त्र परिणामवाद कहता है। जो अपने-आपमें ही पर्याप्त हैं उन्होंने क्रम में रहकर अपनी इच्छा को विचित्र-रूप में मूर्तिमान कर दिखाया है—जगत् की रचना में, मानव समाज के इतिहास में।

प्रकृति में नियम की सीमा ही पार्थक्य है, और आत्मा में अहंकार की सीमा ही पार्थक्य है। यदि यह सीमा उन्होंने स्थापित न की होती, तो उनकी प्रेमलीला किसी प्रकार भी सम्भव न होती। जीवात्मा की स्वतन्त्रता द्वारा ही उनका प्रेम काम करता है। उनकी शक्ति का क्षेत्र है नियमबद्ध प्रकृति, और उनके प्रेम का क्षेत्र है अहंकारबद्ध जीवात्मा। इस अहंकार को जीवात्मा की सीमा समझकर उसका तिरस्कार करने से काम नहीं चलेगा। जीवात्मा के ही इस अहंकार में परमात्मा ने अपने आनन्द के बीच एक सीमा स्थापित की है, नहीं तो उनके आनन्द के लिए कोई काम ही नहीं रह जाता।

इस अहंकार में यदि केवल पार्थक्य ही सर्वप्रधान होता, तो आत्मा और आत्मा के बीच विरोध के समान दूसरा संघात भी न घटता। आत्मा का आत्मा के साथ किसी ओर भी संस्पर्श न रह पाता। किन्तु, उनका प्रेम तो समस्त आत्माओं को आत्मीय बनाने में संलग्न है। परस्पर योजना करके प्रत्येक स्वातन्त्र्य के निहितार्थ को जाग्रत करते रहते हैं, नहीं तो जीवात्मा का स्वातन्त्र्य भयंकर निरर्थक हो जाता।

यहाँ भी वही आश्चर्यमय रहस्य है। परिपूर्ण आनन्द अपूर्ण द्वारा ही अपनी आनन्द-लीला विकसित करता रहता है। बहुत से सुख-दुःख, विच्छेद और मिलन में होकर ही प्रकाश मन्द होते हुए भी इस प्रेम की अभिव्यक्ति निश्चय रूप से अग्रसर हो रही है। स्वार्थ तथा अभिमान के घात-प्रतिघात में कितना टेढ़ा-मेढ़ा पथ लेकर, कितने विस्तार में होकर,

छोटी-बड़ी कितनी आसक्ति-अनुरक्ति को विदीर्ण करके, जीवात्मा की प्रेम-नदी, प्रेम-समुद्र की ओर जाकर मिली है ! प्रेम का शतदल-पद्म अहंकार के वृत्त का आश्रय लेकर अपनी आत्मा से गृह में, गृह से समाज में, समाज से देश में, देश से मानव में, मानव से विश्वात्मा में और विश्वात्मा से परमात्मा में एक-एक करके पंखड़ी खोलता हुआ विकास-लीला समाधान कर रहा है ।

प्रकृति

हमने पहले कहा है कि प्रकृति ईश्वर की शक्ति का क्षेत्र है और जीवात्मा उनके प्रेम का क्षेत्र है । प्रकृति में उन्होंने शक्ति द्वारा अपने को 'प्रचार' किया है और जीवात्मा में उन्होंने प्रेम द्वारा अपने को 'दान' कर दिया है ।

अधिकांश मनुष्य इन दोनों का समतोल रखकर नहीं चल पाते । कोई तो प्राकृतिक साधना का प्रयोग करता है, तो कोई आध्यात्मिक ही । भिन्न-भिन्न जातियों में भी इस सम्बन्ध में भिन्नता दिखाई पड़ती है ।

प्रकृति के क्षेत्र में जो लोग साधना करते हैं उन्हें शक्ति प्राप्त होती है, वे ऐश्वर्यशाली होते हैं, वे राज्य—साम्राज्य का विस्तार करते हैं । वे अन्नपूर्णा का वरदान प्राप्त करके परिपुष्ट होते हैं । उन्हें सर्व प्रकार से बड़ा होने के लिए परस्पर संघर्ष करते-करते एक महान् वस्तु का लाभ होता है, अर्थात् उनमें जो श्रेष्ठ हैं उनका श्रेष्ठ लाभ है धर्मनीति ।

कारण है कि बड़े और शक्तिशाली होने के प्रयास में उनका अनेक के साथ मिलन होता है । इस मिलन के साधन पर ही शक्ति की सार्थकता निर्भर है । किन्तु, बड़ी श्रेणी में, स्थायी श्रेणी में, तथा सबसे अधिक सार्थक श्रेणी में, मिलने के प्रयास में एक ऐसे नियम को स्वीकार करना पड़ता है जो मंगल-नियम है, अर्थात् विश्व का नियम है, अर्थात् धर्मनीति है । इसी नियम को स्वीकार करने से समस्त विश्व अनुकूल हो जाता है, और अस्वीकार करने से समस्त विश्व के आघात सहन करने पड़ते हैं ।

इन आघातों के पड़ते-पड़ते किस समय कोई छिद्र निकल आए और आँखों के सामने भी न पड़े, परिणामस्वरूप अनेक दिन की उपार्जित कीर्ति देखते-देखते भूमिसात् हो जाती है ।

जो शक्ति के क्षेत्र में विशेष भाव से कार्य करते हैं, उनमें बड़े-बड़े साधन इस नियम का विशेषकर पालन करते हैं । वे जानते हैं कि नियम ही शक्ति का प्रतिष्ठा-स्थल है, वह ईश्वर के सम्बन्ध में जैसा है मनुष्य के सम्बन्ध में भी वैसा ही है । नियम का जहाँ उल्लंघन हुआ वहाँ ही शक्ति निराश्रित हुई । जिसके ऑफिस में नियम नहीं, वह कर्मी (कर्मचारी) अशक्त है । जिसके घर में नियम नहीं, वह गृही अशक्त है । जिस राष्ट्र के व्यापार में नियमोल्लंघन होता है, उसका शासन-तन्त्र अशक्त है । जिसकी बुद्धि ने विश्व के व्यापार में नियम को नहीं पहचाना, वह जीवन के हर विषय में अशक्त, अकृतार्थ तथा पराभूत है ।

इसलिए यथार्थ-शक्ति के साधक नियम को बुद्धि से स्वीकार करते हैं, विश्व में स्वीकार करते हैं, अपने कर्म में स्वीकार करते हैं । इसीलिए वे योजना बना सकते हैं, रचना कर सकते हैं, लाभ पहुँचा सकते हैं । इस रूप में वे जिस परिमाण से सत्यशाली होते हैं, उसी परिमाण में ऐश्वर्य-शाली भी हो जाते हैं ।

किन्तु इसमें मुश्किल यह है कि अनेक अवसरों पर वे इस धर्म-नीति को ही मनुष्य का शेष सम्बल (मूल आश्रय) समझ बैठते हैं । जिसकी सहायता से केवल-मात्र कर्म किया जाय, केवल शक्ति, केवल उन्नति का लाभ हो, उसी को वे चरम श्रेय समझते हैं । इसीलिए वैज्ञानिक सत्य को वे चरम सत्य समझते हैं, एवं सकल कर्मों का आश्रय होने से धर्मनीति को परम पदार्थ कहकर अनुभव करते हैं । किन्तु जो शक्ति-क्षेत्र में अपने समस्त लाभ को सीमा-बद्ध करके रखते हैं वे ऐश्वर्य को पाते हैं, ईश्वर को नहीं । कारण यह है कि ईश्वर ने वहाँ अपने को प्रच्छन्न रखकर अपने ऐश्वर्य का उद्घाटन किया है ।

इस अनन्त ऐश्वर्य-समुद्र को पार करके ईश्वर को प्राप्त करने की

साध्य (सामर्थ्य) किसी की है ? ऐश्वर्य का तो अन्त ही नहीं है, शक्ति का भी नहीं। इसीलिए उस पथ पर क्रमागत ही, अन्तहीन, एक से दूसरे की ओर जाना पड़ता है। इसीलिए मनुष्य इस रास्ते पर चलते-चलते कहता रहता है—ईश्वर नहीं है, केवल यही है और केवल यही।

ईश्वर के समान (अनुकूल) न होने से उनकी उपलब्धि कैसे होगी ? हम जितना ही रेलगाड़ी चलाएँ और तार दौड़ाएँ उतना ही ईश्वर से अनन्त दूर होते जाते हैं। यदि स्पर्धा करके हम उनके साथ प्रतियोगिता करने की चेष्टा करें तो हमारी चेष्टा हमारे अधिकारों का लंघन करके व्यासकाशी के समान अभिशाप एवं विश्वामित्र द्वारा स्रष्ट जगत् के समान विनाश को प्राप्त होंगी।

इसीलिए जगत् के धर्मसाधकों ने बारम्बार कहा है, कि ऐश्वर्य-पथ के पथिकों के लिए ईश्वर-दर्शन अत्यन्त दुःसाध्य है। चरमताहीन पथ में उनकी अन्तहीन चेष्टा उन्हें केवल भूल-भुलइया में घुमाए-घुमाए फिरेगी।

अतएव ईश्वर को बाहर अर्थात् उनके शक्ति-क्षेत्र में कहीं भी प्राप्त करना सम्भव नहीं है। वहाँ बालू के कण के भी अन्तराल में उनका वास है, इस बालू-कण को विशेष अतिक्रम कर सकने की सामर्थ्य किसी वैज्ञानिक अथवा किसी यान्त्रिक की नहीं है। इसीलिए, शक्ति के क्षेत्र में जो लोग ईश्वर के संग प्रतियोगिता करने की कोशिश करते हैं वे अर्जुन के समान छद्मवेशी महादेव पर मानों बाणों का वार करते हैं। वे बाण उन्हें स्पर्श भी नहीं करते, वहाँ हारने के सिवाय उपाय ही क्या है ?

शक्ति के क्षेत्र में हमें ईश्वर के दो रूप देखने को मिलते हैं—एक अन्नपूर्णा-मूर्ति; यह मूर्ति ऐश्वर्य द्वारा हमारी शक्ति को परिपुष्ट करती है। दूसरी है काली-कराली मूर्ति; यह हमारी सीमाबद्ध शक्ति का संहरण कर लेती है, हमें किसी और भी शक्ति की चरम सीमा पर पहुँचने नहीं देती—पैसे में, न ख्याति में, न अन्य किसी वासना के विषय में।

बड़े-बड़े राज्य-साम्राज्य धूलिसात् हो (धूल में मिल) जाते हैं। बड़े-बड़े ऐश्वर्य-भण्डार खाये हुए नारियल के खोखले के समान पड़े रह जाते हैं। इस संसार में प्राप्ति की मूर्ति खूब सुन्दर, उज्ज्वल तथा महिमान्वित, किन्तु खोने की, केवल विषाद परिपूर्ण ही नहीं भयंकर भी है। वह शून्यता से भी अधिक शून्यतर, कारण यह है कि पूर्णता का यहाँ अन्तर्धान हो गया।

किन्तु जो-कुछ भी हो, इस संसार में न पाना चरम है, न खोना। यहाँ पाने और खोने का एकमात्र आवर्तन चल रहा है। सुतरां, यह शक्ति का क्षेत्र मनुष्य की स्थिति का क्षेत्र नहीं है। इसके किसी भी प्रदेश में पहुँचकर चिर-काल के लिए नहीं कह सकते कि अब पहुँच गए।

चार....

प्राप्ति

शक्ति के क्षेत्र में जो कार्य करते हैं वे अनन्त उन्नति की बात करते हैं, अर्थात् अनन्त गति के ऊपर वे जोर देते हैं, अनन्त स्थिति पर नहीं। वे तो अनन्त चेष्टा करते रहने को कहते हैं, अनन्त लाभ की बात नहीं।

इसीलिए धर्मनीति ही उनका शेष सम्बल (मूल आश्रय) है। नीति है ले जाने वाली वस्तु, वह है पथ का पाथेय। जो पथ को ही सब-कुछ मानते हैं वे नीति को ही चरम रूप देते हैं, उन्हें घर का क्या सम्बल है इसकी चिन्ता ही नहीं, क्योंकि जिस घर में मनुष्य कभी पहुँचेगा ही नहीं, उस घर को मानो तो क्या और नहीं मानो तो क्या? जो उन्नति अनन्त उन्नति हो, उसे उन्नति न भी कहें तो हानि नहीं।

किन्तु शक्ति के भक्त कहते हैं—चलने में ही आनन्द है, क्योंकि उसमें शक्ति की क्रिया होती रहती है, प्राप्ति में शक्ति का कर्म शेष हो जाने पर निश्चेष्ट तामसिकता के गर्त में जा पड़ते हैं। वस्तुतः ऐश्वर्य-पदार्थ का गौरव ही यह है कि वह हमें किसी एक लाभ में पकड़कर नहीं रखता, वह हमें अग्रसर ही करता रहता है।

जब तक हमारे पास शक्ति रहती है तब तक ऐश्वर्य हमें टिकने नहीं देता, किन्तु देखने में आता है कि दुर्गति होने से पूर्व मनुष्य कहता रहता है—"यही तो मैं चाहता था और यही मैंने पाया।" उस समय वह पथिक धर्म का विसर्जन करके सञ्चयी-धर्म ग्रहण कर लेता है, अब और वह आगे की नहीं देखता, जो पा गया उसे किसी प्रकार अण्टी में लगाए, उसकी रक्षा करे, इसी बात पर विचार करता है।

किन्तु संसार का अर्थ तो है सदा चलते रहना और केवल चलाते ही रहना। या तो यहाँ चलते रहो, नहीं तो मरते रहो। यहाँ जिसने कहा कि मुझे यथेष्ट प्राप्ति हो गई और यथेष्ट बन्धुओं में वास भी मिल गया, वही डूबा।

इतिहास में बड़ी-बड़ी जातियों के बीच भी देखा गया है कि वे एक स्थान पर पहुँचकर कहते हैं, "हमें अब पूर्णता प्राप्त हुई, अब हम संचय करेंगे, रक्षा करेंगे। पुराना हिसाब चुकाकर अब भोग करेंगे।" फिर और किसी नवीन तत्त्व पर विश्वास नहीं करते और अपने इतने दिन के पथ के सम्बल धर्मनीति को दुर्बलता कहकर उपहास करते हैं और अपमानित करते हैं, और विचार करते हैं "इसका अब कोई प्रयोजन नहीं। अब तो मैं बली हूँ, विजयी हूँ तथा प्रतिष्ठा-प्राप्त हूँ।"

किन्तु प्रवाह पर जो लोग प्रतिष्ठा की भित्ति स्थापन करना चाहते हैं, उनकी क्या दशा होती है, वह किसी से अगोचर नहीं है। उसे डूबना ही पड़ता है। इसी प्रकार कितनी ही जातियाँ डूब गईं।

केवल उन्नति, केवल गति, परिणाम कहीं कुछ नहीं, ऐसी अद्भुत स्थिति की उत्पत्ति इसी कारण हुई है, क्योंकि मनुष्य का अनुभव है कि संसार में स्थिरता आते ही मौत आती है। इस नियम को जिसने अपनाया है वह स्थिति और लाभ को अस्वीकार करता है।

स्थितिहीन गति और लाभहीन चेष्टा ही यदि मनुष्य का भाग्य है तो उससे बढ़कर और कौनसा भयानक दुर्भाग्य होगा! यह बात ऐश्वर्य के गर्व में उन्मत्तान्ध के मुख से ही निकल सकी है, किन्तु यह हमारी अन्तरात्मा से सम्पूर्ण सम्मतिसहित नहीं निकल सकती।

उसका कारण है, एक स्थान हमारी प्राप्ति का चरम स्थल है—वह है जहाँ ईश्वर ने अपने को बन्धन में डाला है। वहाँ हमें वह प्राप्त होते हैं, क्योंकि वह स्वयं अपने को देना चाहते हैं, इसलिए।

उन्हें कहाँ पाते हैं? बाहर नहीं, प्रकृति में नहीं, विज्ञान-तत्त्व में नहीं, शक्ति में नहीं; पाते हैं जीवात्मा में। क्योंकि वहाँ उन्हें आनन्द की प्राप्ति

होती है, प्रेम मिलता है। वहाँ वह अपने को समर्पण करना ही चाहते हैं। यदि कोई बाधा है तो हमारी ओर से, उनकी ओर से नहीं।

इस प्रेम द्वारा पाने में तामसिकता नहीं, जड़ता नहीं यह लाभ चरम लाभ तो है ही, किन्तु पंचत्व-लाभ की तरह इसमें हमारी विनष्टि नहीं है। इसके कारण की हम पहले ही एक दिन आलोचना कर चुके हैं। शक्ति की प्राप्ति व्यापार में होने से शक्ति निश्चेष्ट होती है, किन्तु प्रेम से प्राप्त होने पर प्रेम निश्चेष्ट नहीं होता, वरञ्च उसकी चेष्टा और भी गम्भीर रूप में जाग्रत होती है।

इसीलिए प्रेम के क्षेत्र में ईश्वर हमें प्राप्त होते हैं, इस प्राप्ति के कारण वह हमारी निगाह में छोटे नहीं हो जाते। उनकी प्राप्ति का आनन्द निरन्तर प्रवाहित होता रहता है। वह प्राप्ति नित्य-नूतन होती रहती है।

मनुष्य में भी जब सत्य-प्रेम जाग्रत हो उठे, तो इस प्रेम के विषय को प्राप्त करके भी लाभ का अन्त नहीं होता। ऐसे स्थान पर ब्रह्म की बात क्या कहें? उसे उपनिषद् ने कहा है, "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कदाचन"। ब्रह्म का आनन्द, ब्रह्म का प्रेम, जिन्होंने पा लिया है उन्हें फिर किसी काल में भी भय प्राप्त नहीं होता।

अतएव, मनुष्य के लिए एक ऐसी प्राप्ति है, जिसके सम्बन्ध में चिर-काल की बात प्रयोग की जा सकती है।

भारतवर्ष ने इस प्राप्ति की ओर खूब ध्यान दिया था। इसीलिए भारत का हृदय मैत्रेयी के मुख द्वारा पुकार उठा, "येनाहं नामृता स्याम् किमहं तेन कुर्याम"? इसीलिए मृत्यु की दिशा से अमृत की ओर भारत-वर्ष ने अपनी आकांक्षा प्रेरित की थी।

इस ओर जिन्होंने प्रयत्न किया वे बाहर से देखने में तो बड़े लगते नहीं, उनके पास क्या ठाठबाट की सामग्री है? क्या ऐश्वर्य है? शक्ति के क्षेत्र में जो सफल होते हैं वे तो अपने को बड़ा बनाकर, और अध्यात्म-क्षेत्र में जो सफल होते हैं वे आत्म-त्याग करके सफल होते हैं। इसलिए जो

दीन हैं, वे धन्य हैं। जिन्होंने अहंकार करने को कुछ नहीं रखा वे धन्य हैं क्योंकि जहाँ पर भगवान् स्वयं नम्रतापूर्वक आते हैं, वहाँ तो जो स्वयं नत हो सकेगा, वही तो उन्हें पूर्ण भाव में प्राप्त कर सकेगा। इसीलिए हम प्रतिदिन प्रार्थना करते हैं। नमस्तेऽस्तु। जिस प्रकार से भी आपको नमस्कार कर सकूँ, और नतमस्तक हो सकूँ जिससे अपना कुछ भी अभिमान, कहीं भी, टिक न सके।

जगत् में तुमाराजा असीम प्रताप
हृदय के तुम हृदयनाथ, हृदय हरण रूप।
नीलाम्बर भी ज्योतिखचित चरण प्रान्त में प्रसारित,
सभय नियम पथ में, अनन्त लोक हैं फिरत।
निभृत हृदय मध्य कैसी प्रसन्न मुखच्छवि
प्रेम परिपूर्ण मधुर भाँति
भगत् हृदय तव करुण रस सतत बहत,
अरु दीन जन पर सतत करो अभय दान।

समग्र

प्रातःकाल में जिन्होंने हमें जगाया है उन्होंने हमें हर ओर से ही जाग्रत कर दिया। यह आलोक जो फूटा पड़ रहा है, वह हमारे कर्म के क्षेत्र को प्रकाश दे रहा है, ज्ञान के क्षेत्र को प्रकाश दे रहा है, और सौन्दर्य के क्षेत्र को भी प्रकाशित कर रहा है। इन भिन्न-भिन्न पथों के निमित्त उन्होंने कोई भिन्न-भिन्न दूत प्रेषित नहीं किये हैं, उनका एकमात्र दूत सभी पथों का दूत बनकर हास्य-मुख होकर हमारे सम्मुख अवतीर्ण हुआ है।

किन्तु हमारे बोध की प्रक्रिया ही यह है कि हम सत्य को एक मुहूर्त में समग्र करके नहीं देख सकते। पहले उसे खण्ड-खण्ड करके, तत्पश्चात् जोड़कर देखते हैं। इस उपाय से खण्ड के हिसाब में सत्य देखने से समग्र के हिसाब में भूल दिखाई पड़ती है। छवि (चित्र) में एक

परिप्रेक्षण तत्त्व है, तदनुसार दूर की वस्तु छोटी करके एवं निकट की बड़ी करके आँकनी पड़ती है। यदि ऐसा न हो तो छवि हमें सत्य प्रतीत नहीं होगी। किन्तु, समग्र सत्य के सामने निकट-दूर का प्रश्न ही नहीं, सब ही एक समान निकट हैं। इसीलिए निकट को बड़ा करके, और दूर को छोटा करके देखने से पूर्ति होती है, फिर समग्र सत्य के प्रकरण में उसका संशोधन कर लेना चाहिए।

मनुष्य जब समस्त को देखने की चेष्टा करता है और जब धुँधला-धुँधला देख पाता है तो प्रथम खण्ड-खण्ड करके देखता है, तत्पश्चात् सम स्तर में उसका मेल कर लेता है। इसलिए यदि केवल खंड को देखकर समग्र को सम्पूर्ण अस्वीकार करें, तो उसकी भयंकर जवाबदेही है, और यदि केवल समग्र को लक्ष्य करके खण्ड को लोप करके देखें तो भी ऐसी शून्यता उसके पक्ष में बिलकुल व्यर्थ है।

कितने दिन से हम प्राकृतिक क्षेत्र एवं आध्यात्मिक क्षेत्र को एक-दूसरे से स्वतन्त्र मानते आ रहे हैं। ऐसा न करने से उनका अलग-अलग सुस्पष्ट चित्र हमारे सामने प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। किन्तु प्रत्येक का रूप जब सुस्पष्ट भाव से जानकर निश्चित हो जाय, उस समय एक बड़ी भूल-संशोधन का समय सामने आ पड़ता है। उस समय फिर इन दोनों को यदि एक करके न देखें तो विपत्ति का संघटन होता है।

प्राकृतिक और आध्यात्मिक जहाँ परिपूर्ण सामञ्जस्य लाभ करते हैं, वहाँ से हमारा लक्ष्य एकान्त स्खलित नहीं हो जाना चाहिए। जहाँ सत्य में उभय की आत्मीयता है, वहाँ मिथ्या द्वारा आत्म-विच्छेद न कर लें। केवलमात्र भाषा, केवल तर्क, केवल मोह की प्राचीर उठाकर उन्हें सत्य पदार्थ मानने की भूल न कर बैठें।

पूर्व एवं पश्चिम दिशाएँ जिस प्रकार एक अखण्ड गोलाकार में विधृत हैं, प्राकृतिक तथा आध्यात्मिक भी उसी प्रकार एक अखण्डता द्वारा विधृत है। इनमें से एक का भी परिहार करने से हम समग्रता के सामने अपराधी ठहराये जायँगे, एवं उस अपराध का दण्ड भी अवश्यम्भावी है।

भारतवर्ष जिस परिमाण में आध्यात्मिकता की ओर विशेष झुका हुआ है और प्रकृति की ओर का पलड़ा हल्का किये हुए है, उसी परिमाण में उसे आज-पर्यन्त जुरमाना देना पड़ रहा है। यहाँ तक कि उसका सर्वस्व बिक जाने का उपक्रम हो गया है (की नौबत आ गई है)। आज भारत जो श्री-भ्रष्ट है, उसका यही कारण है। उसे एक-चक्षु हरिण की भाँति पता नहीं है कि जिस ओर उसकी दृष्टि नहीं होगी उसी ओर से व्याध का शर आकर आघात करेगा। प्रकृति की ओर से वह निश्चिन्त भाव में काणा रहा, इसलिए प्रकृति ने उसके घातक शर मारा है।

यदि यह सत्य है कि पाश्चात्य जाति प्राकृतिक क्षेत्र में सम्पूर्ण जय-लाभ करने के निमित्त एकदम उन्मत्त हो उठी है, तो यह भी निश्चय मानिए कि किसी दिन उसकी पराजय के लिए ब्रह्मास्त्र अन्य दिशा से आकर मर्मस्थल पर बैठेगा।

मूल में जिनका ऐक्य है, उस ऐक्य को मूल से विच्छिन्न कर देने पर वे केवल पृथक् ही हो जायँ, इतना ही नहीं, वे परस्पर-विरोधी हो उठते हैं। ऐक्य के सहज आकर्षण में जो आत्मीय रूप में रहते हैं, वे विच्छिन्नता द्वारा प्रलयंकारी संघात में आकृष्ट होते हैं।

अर्जुन तथा कर्ण थे सहोदर। आगे चलकर यदि कुन्ती का बन्धन उन्होंने नहीं तोड़ा होता तो परस्पर के योग से कितने प्रबल बली होते। मूल बन्धन की विस्मृति होने से ही वे यही कहते रहे, "या तो मैं मरूँगा या तुम।"

इसी प्रकार अपनी साधना की यदि अत्यन्त भाव में प्रकृति अथवा आत्मा की ओर स्थापना करें तो हमारी आन्तरिक प्रकृति तथा आत्मा में युद्ध छिड़ जायगा। तब प्रकृति कहेगी, 'आत्मा का नाश हो और मैं रहूँ', आत्मा कहेगी,'प्रकृति निःशेष हो जाय और एकमात्र मेरा आधिपत्य रहे।' तब प्रकृति के दल के लोग कर्म को प्रचंड और उपकरण को प्रकाण्ड कह-कर उठाने की चेष्टा करेंगे। इसमें फिर कोई दया-धर्म, विराम-विश्राम नहीं रहेगा। उस तरफ केवल आत्मा के दल के लोग प्रकृति की रसद एकदम

बन्द करके बैठ जायँगे, और कर्म का पाठ एकदम उठा देंगे, नाना प्रकार के उत्कट कौशलों द्वारा प्रकृति को एकदम निर्मूल करने की चेष्टा करेंगे। उन्हें पता नहीं है कि एक ही मूल पर उसका और आत्मा का कल्याण अवस्थित है।

इस प्रकार से जो दो परस्पर परमात्मीय तथा परम सहाय हैं उनमें मनुष्य विच्छेद उत्पन्न करके एक-दूसरे का परम शत्रु बना देता है। ऐसी निदारुण शत्रुता कहीं नहीं मिलेगी। कारण है कि दोनों पक्ष ही परम क्षमताशील हैं।

अतएव प्रकृति एवं आत्मा, मनुष्य के इन दो पक्षों को जैसे हमने स्वतन्त्र रूप में देखा है, वैसे ही जितनी शीघ्रता से सम्भव हो, इन दोनों की परिपूर्ण अखण्डता को सम्मिलित रूप में देखना आवश्यक है, जिससे हम इन दोनों अनन्त बन्धुओं के बन्धुत्व-सूत्र में अन्याय का फैलाव करके दोनों को कुपित न कर दें।

कर्म

हमारे देश का ज्ञानी सम्प्रदाय कर्म को बन्धन कहता है। इस बन्धन से सम्पूर्ण मुक्त होकर निष्क्रिय हो जाने को वे लोग मुक्ति कहते हैं। इसीलिए वे कर्म के क्षेत्र प्रकृति का ध्वंस करके निश्चिन्त होना चाहते हैं। इसीलिए वे ब्रह्म को निष्क्रिय बताते हैं, एवं जो कुछ जागतिक क्रिया है उसे माया कहकर नितान्त अस्वीकार करते हैं।

किन्तु कहा है—

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्याभिसंविशन्ति, तद् विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म।"

जिससे सबकी उत्पत्ति होती है, जिसके द्वारा जीवन धारण होता है, जिसमें सब प्रयाण तथा प्रवेश करते हैं, उसे जानने की इच्छा करो, वही ब्रह्म है। अतएव उपनिषद् के ब्रह्मवादी का मत है कि ब्रह्म ही समस्त क्रिया का आधार है। और यदि ऐसा है तो क्या वह इस सकल

कर्म द्वारा बद्ध है। एक तरफ कर्म, स्वतः ही हो रहा है, और ब्रह्म स्वतन्त्र है, इसमें परस्पर कोई योग नहीं, यह भी हम जिस प्रकार नहीं कह सकते, उसी प्रकार उनके कर्म ने मकड़ी के जाले के समान, तथा शामूक (घोंघा) के खोल के समान, उनको बन्धन में डाला है, कहने से काम नहीं चलता।

इसलिए फिर ब्रह्मवादी कहते हैं—

"आनन्दादध्येव खलु इमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।"

ब्रह्म आनन्दस्वरूप है, उस आनन्द से ही समस्त उत्पन्न होते हैं, जीवित रहते हैं, सचेष्ट एवं रूपान्तरित होते रहते हैं।

कर्म दो प्रकार से होता है—एक तो अभाव से, दूसरा प्राचुर्य से, अर्थात् प्रयोजन से अथवा आनन्द से।

प्रयोजन से या अभाव से हम जो भी कर्म करते हैं वही कर्म हमारे बन्धन का कारण है, आनन्द से जो करते हैं वह बन्धन का कारण नहीं हो सकता। वस्तुतः वही कर्म मुक्ति है।

इसलिए आनन्द का स्वभाव ही है क्रिया, आनन्द स्वतः ही अपने को विचित्र प्रकाश में मुक्ति-दान करता रहता है। इसीलिए अनन्त आनन्द का अनन्त प्रकाश है। ब्रह्म आनन्दस्वरूप है, उसका प्रमाण इसी अनिःशेष प्रकाश धर्म द्वारा मिल रहा है। वह अपनी क्रिया में ही आनन्द प्राप्त करते हैं इसलिए वह अपने कर्म में ही मुक्त स्वरूप हैं।

हमारा भी अनुभव है कि इस आनन्द-कर्म में ही हम मुक्त रहते हैं। हम अपने प्रियजनों का जो कार्य करते हैं वह हमें दासत्व में नहीं बाँधता। केवल बाँधता नहीं सो बात नहीं, वही कर्म हमारी मुक्ति का कारण है, क्योंकि आनन्द में निष्क्रियता उनका बन्धन तथा कर्म ही उनकी मुक्ति है।

तो कर्म-बन्धन कब होता है? जब वह अपने मूल आनन्द से विच्युत होता है, गिरता है। बन्धुजन का बन्धुत्व यदि हमें अगोचर रहे, केवल उसका

प्रयोजन मात्र हमारे समक्ष हो, तो वह बिना वेतन का प्राणपण कार्य उसके प्रति एक भयंकर अत्याचार का रूप हमें प्रतिभासित होगा।

किन्तु, वस्तुत: उसके प्रति अत्याचार होगा क्या ? यदि उसका कार्य बन्द कर दें। कारण है, कर्म की मुक्ति आनन्द में एवं आनन्द की मुक्ति कर्म में। समस्त कर्म का लक्ष्य आनन्द की ओर है, एवं आनन्द का लक्ष्य कर्म की ओर है। इसीलिए उपनिषद् ने हमें कर्म का निषेध नहीं किया। 'ईशोपनिषद्' में कहा है, मनुष्य कर्म में प्रवृत्त नहीं होगा—यह हो ही नहीं सकता। और इसीलिए पुनश्च कथन किया है कि जो केवल अविद्या में, अर्थात् संसार कर्म में रत हैं वे अन्धकार में पढ़े हैं और जो विद्या में अर्थात् केवल ब्रह्मज्ञान में रत हैं वे उनसे अधिक अन्धकार में हैं।

इस समस्या के मीमांसास्वरूप कहा है कि कर्म और ब्रह्मज्ञान दोनों का ही प्रयोजन है। "अविद्ययामृत्यु तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते। कर्म" के द्वारा मृत्यु में उत्तीर्ण होकर, विद्या के द्वारा जीव अमृत लाभ करता है।

ब्रह्महीन कर्म अन्धकार, एवं कर्महीन ब्रह्म उससे अधिक शून्य, क्योंकि उसे नास्तिकता भी कह सकते हैं। जिस आनन्दस्वरूप ब्रह्म से सब-कुछ हो रहा है, उसी ब्रह्म को इस समस्त से विवर्जित करके मानना समस्त का त्याग करना है और उसके साथ उसका भी त्याग करना है।

जो भी हो, आनन्द का धर्म यदि कर्म ही है, तो कर्म के द्वारा ही उस आनन्द-स्वरूप ब्रह्म के साथ हमारा योग (मेल) हो सकता है। 'गीता' में इसे ही कर्मयोग कहा है।

कर्मयोग का एक लौकिक रूप पृथ्वी पर हम पाते हैं। वह है पति-व्रता स्त्री की संसार-यात्रा। सती के समस्त संसार-कर्म के मूल में है, अपने स्वामी के प्रति प्रेम तथा स्वामी का आनन्द। इसीलिए सांसारिक कर्म को वह स्वामी का काम मानकर ही आनन्द बोध करती है। कोई क्रीत दासी भी इस प्रकार से काम नहीं कर सकती। यह कार्य यदि एकान्त, उसके निजी प्रयोजन का ही होता, तो उसका भार वहन करना उसके लिए दु:खसाध्य हो जाता। किन्तु, यह संसार-कर्म उसके

लिए कर्मयोग है। इस कर्म के द्वारा ही वह स्वामी के साथ एक विचित्र भाव में मिलन प्राप्त करती है।

हमारा कर्मक्षेत्र इस कर्मयोग का यदि तपोवन हो जाय तो कर्म हमारे पक्ष में बन्धन नहीं हो सकता। ऐसा यदि हो तो, सती स्त्री जिस प्रकार कर्म से उत्तीर्ण होकर प्रेम की प्राप्ति करती है, हम भी उसी प्रकार कर्म के द्वारा कर्म के संसार को पारकरके, मृत्युं तीर्त्वा अमृत-लाभ कर सकते हैं।

इसलिए गृहस्थियों के प्रति उपदेश है कि जो-जो कर्म करें उसे स्वयं के प्रति निवेदन न करें, क्योंकि अपने प्रति निवेदन करने से कर्म उन्हें नागपाश में बाँध लेगा और फिर ईर्ष्या-द्वेष, लोभ-क्षोभ के विशाल निःश्वास में वे जर्जरित होते रहेंगे। उन्हें चाहिए, "यद्यत्कर्म प्रकुर्वीत तद्ब्रह्मणि समर्पयेत्" जो-जो कर्म करें वह ब्रह्म के अर्पण करें। ऐसा करने से जिस प्रकार सती गृहिणी संसार के समस्त भोगों के अंश का परित्याग करती है और संसार के समस्त भार अशान्त यत्न करते हुए वहन करती है, इसका कारण यह है कि वह कर्म को स्वार्थ-साधन के रूप में नहीं देखती आनन्द-साधन के रूप में देखती है। हम भी उसी प्रकार, कर्म की आसक्ति दूर करके, कर्म की फलाकांक्षा विसर्जन करके, कर्म को विशुद्ध आनन्दमय बना सकें, एवं आनन्द, जो आकाश में स्थिर न होता, "को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्" कौन थोड़ी-सी भी चेष्टा करता, और कौन जीवन ही धारण करता, जगत् की समस्त चेष्टाओं के आकर (मूल स्थान) परमानन्द के संग अपनी सकल चेष्टाओं को युक्त हुआ जानकर हम किसी भी काल में, किसी से भी भय प्राप्त न करेंगे।

शान्ति

ज्ञान, प्रेम तथा शक्ति ये तीन धाराएँ जहाँ एकत्र होकर बहें वहीं आनन्द-तीर्थ है। जिस परिमाण में हममें ज्ञान, प्रेम व कर्म का मिलन होता है, उसी परिमाण में हमारे आनन्द की पूर्णता है। इसमें विच्छेद उत्पन्न होते ही पीड़ा का जन्म होता है।

इस मिलन की प्राप्ति के लिए किसी एक संक्षेप से उपाय के प्रलोभन में यदि हम धोखा दें तो अपने को ही धोखा देंगे। यदि सोचें कि द्वारी (द्वारपाल) की आँख बचाकर राजा से भेंट करेंगे, तो ड्योढ़ी ऐसे लांघनी पड़ेगी कि राजदर्शन ही दुःसाध्य हो जायँगे। यदि विचार करें कि नियम का वर्जन करके नियम से ऊपर उठ जायँगे, तो कुपित नियम के हाथ से हमें आत्यन्तिक दुःख उठाना पड़ेगा।

विधान को सम्पूर्णतया स्वीकार करने पर ही विधान में हमारा कर्तृत्व अधिकार जन्मता है। जो गृह का कर्ता होना चाहे उसे गृह के नियम और संयम सबसे अधिक मानने पड़ते हैं। उसी की स्वीकृति द्वारा उसे कर्तृत्व (मलिकाव) लाभ होता है।

इसीलिए कह रहा था कि हम संसार के मध्य रहकर ही संसार के ऊर्ध्व (ऊपर) हो सकते हैं, कर्म में रहकर ही हम कर्म से महान् हो सकते हैं। परित्याग करके या पलायन करके किसी प्रकार भी यह सम्भव नहीं है।

कारण यह है कि हम जिसे मुक्ति कहते हैं वह स्वभाव द्वारा प्राप्त होने पर ही सत्य होती है, अभाव द्वारा नहीं। पूर्णता द्वारा प्राप्ति से ही सार्थकता है, शून्यता द्वारा शून्य-फल का ही लाभ होता है। अतएव उन मुक्तस्वरूप ब्रह्म की ओर लक्ष्य रखो। वह 'ना' रूप में मुक्त नहीं हैं, 'हाँ' रूप में ही मुक्त हैं। वह ॐ (ओ३म्) हैं अर्थात् हाँ हैं।

इसीलिए ब्रह्मर्षि ने उन्हें निष्क्रिय नहीं कहा, अत्यन्त स्पष्ट भाषा में उन्हें सक्रिय ही कहा है। उन्होंने कहा है—

''पराऽस्य शक्ति विविधैवश्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबल क्रिया'' सुना है कि उनकी परमाशक्ति, उनकी विविधाशक्ति, तथा उनकी ज्ञानक्रिया एवं उनकी बलक्रिया स्वाभाविकी हैं।

ब्रह्म की क्रिया होती है स्वाभाविक, अर्थात् उनके स्वभाव में ही क्रिया का मूल है, बाहर नहीं। वह स्वयं ही करते हैं, कोई उनसे करवाता नहीं।

इसी प्रकार वह अपने कर्म में मुक्त हैं, क्योंकि उनका यह कर्म तो स्वाभाविक ही है। हममें भी कर्म की स्वाभाविकता है। हमारी शक्ति कर्म में उन्मुक्त होना चाहती है। केवल किसी बाह्य प्रयोजन के वश होकर नहीं, आन्तरिक स्फूर्तिवशात् (के वश होकर) ही।

इसी कारण ऐसे कर्म करने में ही हमारी स्वाभाविक मुक्ति है। कर्म द्वारा ही हम बाहर जाते हैं, प्रकाश पाते हैं। किन्तु जिससे मुक्ति मिलती है उसी से बन्धन भी हो सकता है। नौका को जिस रस्सी के द्वारा खींच सकते हैं उसके द्वारा बाँध भी सकते हैं। जब रस्सी उसे बाहर की ओर खींचती है तो वह चलती है, बँधे रहने से वह पड़ी रहती है।

कर्म जब हमें स्वार्थ की संकीर्णता में केवल लपेटकर रखता है तो भयंकर बन्धन हो जाता है, तब हमारी शक्ति उस पराशक्ति के विरुद्ध चलती है, उस विविधाशक्ति के विरुद्ध चलती है। वह, उस समय, भूमा की ओर नहीं चलती, बहु की ओर नहीं चलती, अपनी क्षुद्रता में आबद्ध रहती है। तब इस शक्ति से हमको मुक्ति नहीं मिलती, आनन्द नहीं मिलता, हमें वह विपरीत ही ले जाती है। जो व्यक्ति कर्महीन और आलसी है वही रुद्ध है। जो व्यक्ति क्षुद्रकर्मा, स्वार्थपर है, उसके लिए जगत्—संसार एक सश्रम कारावास है। वह स्वार्थ के कारागार में अहोरात्रि एक क्षुद्र परिधि के केन्द्र की प्रदक्षिणा करता हुआ घानी चला रहा है, एवं परिश्रम के फल को वह चिरदिन (सदा) की भाँति आयत्त (अधिकृत) करके रख सकेगा, ऐसी साध उसकी नहीं है, उसे यह फल परित्याग करना ही पड़ेगा, केवल परिश्रम ही उसका सार है।

अतएव कर्म को स्वार्थ की ओर से परमार्थ की ओर ले जाना ही मुक्ति है, कर्म-त्याग मुक्ति नहीं है। हम जो कुछ भी कर्म करें वह छोटा हो अथवा बड़ा हो, उसे परमात्मा की स्वाभाविकी विश्व-क्रिया के साथ योगयुक्त करके देखने से, वह कर्म फिर हमारे बन्धन का कारण नहीं हो सकेगा। वह कर्म, सत्य कर्म, मंगल कर्म, आनन्द का कर्म हो उठेगा।

प्राण

"आत्मक्रीड़ा आत्मरति क्रियावान् एष ब्रह्म विदां वरिष्ठः।"

ब्रह्मविदों में जो श्रेष्ठ हैं वह आत्मा में ही क्रीड़ा करते हैं, आत्मा में ही आनन्द पाते हैं तथा वह कर्मनिष्ठ भी होते हैं। उनके लिए केवल आनन्द ही नहीं किन्तु कर्म भी है।

इस श्लोक का प्रथमार्ध देखने में इसका अर्थ स्पष्टतर हो जाता है।

"प्राणोह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी।" जो प्राणरूप से सर्वभूतों में प्रकाशमान हैं, उन्हें जानता हुआ ज्ञानी उनका अतिक्रमण करके कुछ नहीं कहता।

प्राण में आनन्द एवं कर्म ये दो चीजें एकत्र होकर रह रही हैं। प्राण के सचेष्ट होने में ही उसका आनन्द है, और उसके आनन्द में ही उसकी सचेष्टता है।

अतएव, ब्रह्म ही यदि समस्त सृष्टि के प्राण-स्वरूप हैं, वही यदि सृष्टि में गति द्वारा आनन्द का और आनन्द द्वारा गति का संचार करते हैं, तो जो ब्रह्मवादी हैं वे ब्रह्म को लेकर केवल आनन्द का ही भोग तो नहीं करेंगे, कर्म भी तो करेंगे न।

वे तो ब्रह्मवादी हैं। ब्रह्म को केवल जानते ही नहीं, ब्रह्म के विषय में बताते भी हैं।

कुछ कहे बिना उनके आनन्द का बाँध कैसे टिकेगा? विश्व के प्राण-स्वरूप ब्रह्म को प्राण में होकर वे 'भवते नाति वादी' अर्थात् ब्रह्म से वर्जित कुछ भी कहना नहीं पसन्द करते, केवल ब्रह्म ही की कथा कहना चाहते हैं।

मनुष्य ब्रह्म को कई प्रकार से बताता है। जिस प्रकार सितार का तार राग बताता है, अपनी समस्त गति द्वारा, स्पन्दन द्वारा, क्रिया द्वारा बताता है। सर्वतो भावेराग का प्रकाश करके वह अपनी सार्थकता साधन करता है।

ब्रह्म अपने को किस प्रकार बताते हैं ? अपनी क्रिया द्वारा इस अनन्त आकाश को आलोक तथा आकार से परिपूर्ण करके, स्पन्दित करके, झंकृत करके बता रहे हैं। "आनन्दरूपममृतं यद् विभाति।" अपने कर्म में ही आनन्द-धारा का प्रवाह करते हैं, अपना अमृत संगीत सुना रहे हैं। उनका आनन्द एवं उनका कर्म एक साथ ही एकाकार होकर द्यु लोक व भूलोक में विकीर्ण हुआ पड़ा है।

ब्रह्मवादी भी जब ब्रह्म को बतायेंगे तो कैसे व्यक्त करेंगे ? कर्म के द्वारा ही बताना पड़ेगा, क्रियावान् ही होना पड़ेगा। किन्तु वह कर्म, कैसा कर्म, वही न, जिस कर्म के द्वारा वे प्रकाश पाते हैं "आत्मक्रीड़, आत्म रतिः।" परमात्मा में ही उनकी क्रीड़ा, परमात्मा में ही उनका आनन्द। जिस कर्म से वे प्रकाश पाते हैं वह कर्म स्वार्थ-साधन में नहीं, निजी गौरव-विस्तार में नहीं। वे 'नातिवादी' जो हैं। वे परमात्मा के सिवाय और किसी को अपने कार्य में प्रकाशित ही कैसे कर सकते हैं !

वे 'ब्रह्म-विदां वरिष्ठः' इसीलिये हैं। उनके जीवन के प्रत्येक कार्य में नाना भाषा, नाना रूप में यही संगीत ध्वनित होता है, "शान्तम्, शिवम्, अद्वैतम्।" जगत्-क्रिया के साथ उनकी जीवन-क्रिया एक छन्द तथा एक रागिनी में निकल रही है। अन्तर में जो आत्म-क्रीड़ा है, जो परमात्मा के संग क्रीड़ा है, बाह्य में, वही जीवन का कर्म होकर प्रकट हो रही है। अन्तर का वह आनन्द बाह्य कर्म में उच्छ्वसित हो रहा है, बाहर का वह कर्म अन्तर के उसी आनन्द में बारम्बार लौटता है। इस प्रकार से अन्तर और बाहर में आनन्द तथा कर्म का सुन्दर अपूर्व आवर्तन चल रहा है, और इसी आवर्तन के वेग में नित नवीन मंगल लोकों की सृष्टि हो रही है। इसी आवर्तन के वेग में ज्योति उद्दीप्त हो रही है, तथा प्रेम उत्सारित होकर प्रकाश पा रहा है।

इस प्रकार जो चराचर निखिल विश्व में प्राणरूप में, अर्थात् एक ही काल में आनन्द व कर्म रूप में, प्रकाशमान हैं, उस प्राण को ब्रह्मविद् अपने प्राणों द्वारा प्रकाश करते हैं।

इसलिए मेरी प्रार्थना है "हे प्राणस्वरूप, मेरे सितार में कहीं मोरचा न लग जाय, कहीं धूल न जम जाय। विश्व-प्राण के स्पन्दनाभिघात से वह दिन-रात बजता ही रहे, कर्म-संगीत में बजता रहे, तुम्हारे ही नाम पर बजता रहे। इसके प्रबल आघात से यदि बीच में टूट भी जाय, तो भी अच्छा; किन्तु शिथिल न हो जाय, मलिन न हो जाय, व्यर्थ न हो जाय। क्रम-क्रम उसका स्वर प्रबल होता रहे, गम्भीर होता रहे, तथा समस्त अस्पष्टता परिहार करके सत्य हो उठे, प्रकृति में व्याप्त एवं मानवात्मा में प्रतिध्वनित हो जाय। हे आवि, तुम्हारे आविर्भाव द्वारा वह धन्य हो उठे!"

जगत् में मुक्ति

भारतवर्ष में एक समय अद्वैतवाद ने कर्म को अज्ञान और अविद्या की कोटि में निर्वासित करके अत्यन्त विशुद्ध होने की चेष्टा की थी। कहते थे—ब्रह्म जब निष्क्रिय है तो ब्रह्म की प्राप्ति के लिए कर्म का समूल छेदन करना आवश्यक है।

इस अद्वैतवाद की धारा जब कालान्तर में द्वैतवाद की नाना शाखामयी नदी में परिणत हुई, तब ब्रह्म और अविद्या के विषय में दुविधा उत्पन्न हो गई।

द्वैतवादियों ने तब जगत्के मूल में दो तत्त्व स्वीकार कर लिये—प्रकृति तथा पुरुष।

अर्थात् ब्रह्म को उन्होंने निष्क्रिय तथा निर्गुण कहकर एक तरफ कर दिया, एवं शक्ति को जगत्-क्रिया के मूल में मानो एक स्वतन्त्र सत्ता के रूप में स्वीकार कर लिया। इस रूप से ब्रह्म कर्म द्वारा बद्ध नहीं है यह भी मान लिया, और कर्म कुछ भी नहीं है यह भी नहीं कह सके। शक्ति और शक्ति के कार्य से शक्तिमान को एक खूब अधिक बड़ा-सा पद देकर उनके साथ एकदम समस्त सम्बन्ध परित्याग कर दिया। केवल इतना ही नहीं, यह परास्त हो गया और छोटा हो गया—यह कथन अनेक

रूपकों द्वारा प्रचार करने लगे। यह घटना जो घटी इसके मूल में एक सत्य है।

मुक्ति में एक ही काल में एक निर्गुण और एक सगुण रूप दिखाई पड़ता है। वह एक साथ ही विराजमान हैं। हम उन्हें अपने-आपमें ही समझ सकते हैं। इस विषय की आलोचना करने की चेष्टा करें।

जगत् में एक अखण्ड नियम हमने अभी तक आविष्कार नहीं किया। तब विचार हुआ, जगत् पर किसी एक अथवा अनेक शक्तियों की कृपा है, किन्तु विधान नहीं है। जब तक जो खुशी हो वह हो सकता है, अर्थात् जो-कुछ हो रहा है वह इतना इकतरफा हो रहा है कि हमारी ओर से उधर जाने का रास्ता ही बन्द है, सारा रास्ता ही है उसकी ओर से हमारी ओर, हमारे लिए तो केवल भिक्षा का रास्ता ही खुला है।

ऐसी अवस्था में मनुष्य को दूसरों का हाथ पकड़कर चलना होता है। अग्नि से प्रार्थना करनी पड़ती है 'तुम दया करके प्रज्ज्वलित हो जाओ', वायु से हाथ जोड़ कर कहना पड़ता है, 'तुम दया करके वहन करो', सूर्य से भी अर्चना करनी पड़ती है, 'यदि तुम कृपा करके उदय न हो तो हमारी रात्रि ही समाप्त न हो'।

भय किसी प्रकार भी दूर नहीं होता। "अव्यवस्थित चित्तस्य प्रसादोऽपिभयंकरः।" जहाँ कोई व्यवस्था नहीं, वहाँ प्रसन्नता में भी मन निश्चिन्त नहीं रहता। कारण यह है कि इस प्रसाद पर भी हमारा अपना अधिकार नहीं, वह बिलकुल ही इकतरफा वस्तु है।

अथच, जिसके साथ इतना बड़ा कारबार, उसके साथ मनुष्य अपना एक निजी योग-पथ निकाले बिना कैसे रहेगा? किन्तु उसमें भी यदि कोई नियम न स्थिर करे तो उसके साथ योग का भी कोई नियम नहीं रहेगा।

ऐसी अवस्था में जो कोई मनुष्य उसे जिस प्रकार से भी जादू-टोना बताये वह उसीसे अटका रहना चाहता है, वह जादू-टोना मिथ्या है यह भी उसे समझाना असम्भव है, क्योंकि समझाने की कोशिश करने पर भी नियम की दुहाई देकर ही तो समझाया जायगा। कर्म से

ही तो मनुष्य मन्त्र-तन्त्र, तागा-तावीज एवं अर्थहीन विचित्र बाह्य प्रक्रिया लेकर अस्थिर हुआ घूमता फिरता है।

जगत् में इस प्रकार से रहना ऐसा है जैसे ठीक किसी दूसरे के घर में रहना हो, वह भी ऐसे पराये की तरह कि असत्य कल्पना का पुतला बनकर ही। और कदाचित् बिना बुलाए पहुँच गए, किन्तु अन्न मिले या न मिले। और जब चाहे हुकम हो जाय, आज ही, अभी, घर छोड़कर जाना होगा।

इस प्रकार जगत् में परान्नभोजी तथा परावसथशयी होकर रहने में मनुष्य पीड़ित तथा अपमानित होता है। वह अपने को बद्ध भी समझता है और दीन भी समझता हुआ शोकग्रस्त रहता है।

इससे मुक्ति कब मिलती है ? उससे भागकर नहीं, क्योंकि भागकर जायँगे कहाँ ? मरने का पथ भी तो रुका पड़ा है।

ज्ञान जब इस विश्व-जगत् में अखण्ड नियम का आविष्कार करता है, जब यह अनुभव करता है कि कार्य और कारण में कोई विच्छेद नहीं, तब मुक्ति प्राप्त होती है।

क्योंकि ज्ञान तब ज्ञान को ही देखता है। ऐसी कुछ प्रतीति होती है, जिसके साथ उसका योग है, जो कुछ अपना ही है। वह उसका अपना ही, जो आलोक, सर्वत्र वही आलोक है। और तो क्या, सर्वत्र ही वह आलोक अखण्डता के रूप में विद्यमान न होता तो वह स्वयं ही कहाँ टिकता ?

इतने दिन में ज्ञान द्वारा मुक्ति प्राप्त हुई। उसे और कोई तो बांधा नहीं रही। उसने कहा, "ओह ! प्राण बचे, यह तो हमारा ही घर है, हमारी ही पैतृक सम्पत्ति है। अब तो मुझे संकुचित व अपमानित होकर रहने की आवश्यकता नहीं है। इतने दिन स्वप्न देख रहा था कि किसी पागलखाने में हूँ। आज स्वप्न टूटने पर देखता हूँ, सिरहाने पिता बैठे हैं, सब-कुछ अपना ही है।'

यह हुई ज्ञान द्वारा मुक्ति। किसी बाहरी मदद से नहीं, अपनी ही

कल्पना द्वारा ।

किन्तु इस मुक्ति में ज्ञान चुपचाप नहीं बैठा रहता ।

मन्त्र-तन्त्र, तागा-तावीज की सांकल छिन्न-भिन्न करके मुक्ति के क्षेत्र में अपनी शक्ति का प्रयोग करता है ।

जब हम आत्मीयता का परिचय पाते हैं तो खाली परिचय के ऊपर निर्भर होकर ही चुप करके बैठे नहीं रहते, तब तो आत्मीय के साथ आत्मीयता का आदान-प्रदान करने को उद्यत हो जाते हैं ।

ज्ञान जब जगत् में ज्ञान का परिचय पाता है तब उसके कार्य में सहयोग देने को प्रवृत्त हो जाता है । पूर्व (पहले) की तुलना में उसका कार्य अब बहुत अधिक बढ़ जाता है, क्योंकि मुक्ति के क्षेत्र में शक्ति का अधिकार बहुत विस्तृत हो जाता है । तब ज्ञान के साथ ज्ञान के योग में जाग्रत हुई शक्ति वहुधा होकर प्रसारित होती रहती है ।

तब ही अनुभव होता है कि ज्ञान, विज्ञान के बीच अपने को उपलब्ध करके फिर चुप नहीं बैठ सकता । तब शक्ति-योग में कर्म द्वारा निज को सार्थक करता है ।

पहले तो अज्ञान से मुक्ति में, ज्ञान अपने को प्राप्त करता है, फिर अपने को दान करना उसका कार्य हो जाता है । कर्म द्वारा वह स्वयं को दान करता है, स्वयं की सृष्टि करता है अर्थात् सर्जन करता है । अर्थात् जिस शक्ति को परघर के बन्दी के समान केवल बद्ध करके रखे हुए था, उसी शक्ति को आत्मीय स्थान में असंदिग्ध भाव में त्याग करके सांस लेता है ।

अतएव देखने में आता है कि मुक्ति के साथ-साथ कर्म की वृद्धि भी होती है ह्रास नहीं । किन्तु कर्म तो अधीनता है, यह मानना ही होगा । कर्म को सत्य का अनुगामी होना ही होगा । नियम के अनुगत होना ही होगा, नहीं तो वह कर्म ही न हो सकेगा ।

तो क्या किया जाय ? निन्दा करो चाहे कुछ करो, हमारी आन्तरिक शक्ति सत्य के अधीन होना ही चाहती है । यही उसकी प्रार्थना है ।

इसीलिए महादेव के प्रसाद की प्रार्थी, पार्वती के समान उसने तपस्या की है।

ज्ञान जिस दिन पुरोहित बनकर हमारी शक्ति के साथ सत्य का परिणय साधन करा देता है, तभी हमारी शक्ति सती होती है, तभी उसकी वन्ध्या दशा दूर हो जाती है। वह सत्य के अधीन होने से ही सत्य के घर में कर्तव्य लाभ कर पाती है।

अतएव, केवल मुक्ति द्वारा साफल्य नहीं मिलता, उससे भी परे की वस्तु है अधीनता। दान द्वारा जिस प्रकार अर्जन है, उसी प्रकार अधीनता द्वारा मुक्ति भी सम्पूर्ण सार्थक होती है। इसीलिए द्वैत शास्त्र निर्गुण ब्रह्म के ऊपर सगुण भगवान् की घोषणा करता है। अपने प्रेम, ज्ञान तथा शक्ति, इन तीनों को पूर्ण भाव में स्वतन्त्र करने को ही तो मुक्ति कहेंगे। निर्गुण ब्रह्म में उनका कोई स्थान नहीं।

समाज में मुक्ति

मनुष्य के पास केवल जगत्-प्रकृति नहीं है, समाज-प्रकृति नाम का भी और एक आश्रय है। इस समाज के साथ मनुष्य का कौनसा सम्बन्ध सत्य है, यह विषय विचारणीय है, क्योंकि इस सम्बन्ध में ही मनुष्य समाज में मुक्ति लाभ करता है, मिथ्या को वह जब तक सम्मान देगा तब तक वह बद्ध ही रहेगा।

हमने अनेक बार कहा है और विचार भी किया है, कि प्रयोजन के तकाजे से मनुष्य समाज में बद्ध हुआ है। हमको एकत्र दल बनाकर बहुत सुविधा है। राजा हमारा न्याय करता है, पुलिस हमारे लिए पहरा देती है, पौर-परिषद् (म्युनिसिपैलिटी) हमारे रास्तों की सफाई कराती है, मैनचेस्टर हमारे लिए कपड़े तैयार करता है एवं ज्ञान, लाभ, प्रभृति और अनेक बड़े-बड़े उद्देश्यों की पूर्ति भी ऐसे ही उपायों द्वारा सहज में ही हो जाती है। अतएव मनुष्य-समाज, प्रत्येक समाजस्थ के स्वार्थ-साधन का प्रकृष्ट उपाय है।

इस प्रयोजन के कारण ही मनुष्य समाज में आबद्ध हुआ। इसी बात को यदि अंतर में सत्य अनुभव करें, तो समाज को मानव-हृदय का कारागार कहना पड़ेगा। समाज को एक प्रकाण्ड इंजिनवाला कारखाना कहना पड़ेगा, क्षुधानल-प्रदीप्त प्रयोजन ही उस कल का कोयला जुगाता है।

जो हतभागा इस प्रकार अत्यन्त प्रयोजन वाला होकर संसार में केवल श्रमजीवी होकर ही मरता है, उसे तो कृपा का पात्र होने में सन्देह नहीं। संसार की यह बन्दीशाला मूर्ति देखकर ही तो सन्यासी विद्रोह कर उठता है। वह कह उठता है, "प्रयोजन की ताड़ना से मैं क्या समाज रूपी बन्दीगृह में पत्थर कूटता हुआ मरूँगा ? कभी नहीं। जानता हूँ कि मैं प्रयोजन से कहीं महान् हूँ। मैनचेस्टर मेरे कपड़े की व्यवस्था करेगा—क्या दरकार है ? मैं कपड़ा त्यागकर वन चला जाऊँगा। वाणिज्य का जहाज देश-विदेश से मुझे खाद्य ला देगा। आवश्यकता नहीं है, मैं वन में कन्द-मूल खाकर रह जाऊँगा।"

किन्तु, वन जाकर भी यदि प्रयोजन हमारे पीछे-पीछे लगा रहकर नाना आकार में प्रताड़ना करे, तो इतनी बड़ी स्पर्धायुक्त भाषा हमारे मुख से शोभा नहीं देती।

तब संसार में हमारी मुक्ति का स्थान कहाँ है ? प्रेम में। अभी ज्ञात हो जायगा कि प्रयोजन ही केवल मानव-समाज के मूल में नहीं है, प्रेम ही इसका निगूढ़ तथा चरम आश्रय है, तब ही एक मुहूर्त में हम बन्धन-मुक्त हो जायँगे। तभी बोल उठेंगे, "प्रेम ! आह रक्षा हो गई, अब कुछ कहना नहीं, क्योंकि प्रेम तो हमारी अपनी सम्पत्ति है। यह तो मुझे बाहर से प्रताड़ित करके बाध्य नहीं करता। प्रेम ही यदि मानव-समाज का तत्त्व है तो वह मेरा ही तत्त्व है। अतएव प्रेम द्वारा एक मुहूर्त में प्रयोजन के संसार से मुक्त होकर आनन्द के संसार में उत्तीर्ण हो गया, जैसे कोई एक पलक में स्वप्न भंग हो जाय।"

यह हुई मुक्ति की बात। इसके पश्चात् ? इसके पश्चात् अधीनता।

प्रेम मुक्ति प्राप्त करते ही मुक्ति-क्षेत्र में अपनी शक्ति चरितार्थ करने के लिए व्यस्त हो पड़ता है। उसका कार्य पूर्व की तुलना में कहीं अधिक हो उठता है। तब वह पृथ्वी के दीन और दरिद्र का भी दास तथा मूढ़ और अधम का भी सेवक। यह है मुक्ति का परिणाम।

जो मुक्त है उसे तो कोई उजर नहीं होता। वह तो कह नहीं सकेगा मेरा आॅफिस है, मेरा अध्यक्ष है, बाहरी कोई दबाब है। कर्म की जहाँ कहीं से पुकार पड़े वहाँ के लिये 'ना' कहने की सामर्थ्य नहीं। मुक्ति का इतना बड़ा उत्तरदायित्व है। आनन्द जितना दायित्व भी और किसी का है?

यदि कहूँ कि मनुष्य मुक्ति चाहता है, तो कहना मिथ्या है। मनुष्य की मुक्ति से कहीं अधिक चाहना है। मनुष्य अधीन ही होना चाहता है। जिसके अधीन होकर अधीनता का कोई अन्त ही न मिले उसके ही अधीन होने के लिए क्रन्दन करता रहता है। वह कहता है, "हे परम प्रेम, तुम तो मेरे अधीन हो, मैं तुम्हारे अधीन कब होऊँगा! अधीनता के साथ अधीनता का पूर्ण मिलन होगा कब! जहाँ 'मैं' उद्धत, गर्वित, स्वतन्त्र, वहाँ ही 'मैं' पीड़ित और व्यर्थ हो जाता है। हे नाथ! मुझे अधीर करके, नत करके बचाइये। जब तक मैंने इस मिथ्या को अत्यन्त करके जाना कि मैं ही 'मैं' हूँ और इससे अधिक बड़ा 'मैं' और नहीं है, तब तक मैंने क्या-क्या चक्कर काटे हैं। अपने धन का, अपने मन का, बोझा लिये मरता रहा। जब भी स्वप्न टूटें तभी समझ सकता हूँ कि तुम ही परम 'मैं' हो। मेरे 'मैं' हो, उसी के जोर पर यह मैं हूँ, तभी एक मुहूर्त में मुक्ति प्राप्त कर लूँगा।" किन्तु खाली मुक्ति-लाभ ही नहीं है, उसके पश्चात् अधीनता भी है। परम् 'मैं' को समस्त अहंकार का अभिमान तिलांजलि देकर एकदम अनन्त परिपूर्ण अधीनता का परमानन्द प्राप्त होता है।

मत

आत्मा जिस शरीर में आश्रय लेता है वही उसे त्यागना पड़ता है, क्योंकि आत्मा शरीर से बड़ा है। यदि कोई शरीर-विशेष उस आत्मा को बराबर धारण किये रह सकता, तो, हमें यह पता ही न चलता कि आत्मा शरीर के बीच रहता हुआ भी शरीर को अतिक्रमण करता है। इसी कारणवश हम मृत्यु द्वारा आत्मा के महत्त्व से अवगत होते हैं। आत्मा इस ह्रास-वृद्धि-मरणशील शरीर में अपने को व्यक्त करता है। उसका यह प्रकाश बाधा-प्राप्त है, सम्पूर्ण नहीं। इसीलिए शरीर को ही जो आत्मा समझते हैं उन्हें सम्पूर्ण सत्य विदित नहीं है।

मनुष्य का सत्य-ज्ञान एक-एक मत का आश्रय लेकर अपने को प्रकाश करने की चेष्टा करता है। किन्तु वह मतवाद सत्य का शरीर है, इसलिए वास्तव में एक हिसाब में सत्य से कहीं छोटा एवं असम्पूर्ण है।

इसलिए सत्य को बारम्बार मतदेह परिवर्तन करना पड़ता है। बृहत् सत्य उस असम्पूर्ण मतदेह की समस्त शक्ति को निःशेष कर देता है, जीर्ण कर देता है, वृद्ध कर देता है। अवशेष में जब वह किसी प्रकार भी शान्त न हो, और नाना प्रकार से अप्रयोजनीय बाधास्वरूप होता रहे, तब उसकी मृत्यु का समय आता है, तब नाना प्रकार के विकार और व्याधि उत्पन्न होते रहते हैं और अन्त को मृत्यु हो जाती है।

आत्मा तो कोई एक विशेष शरीर नहीं है, तथा समस्त विशेष शरीरों को अतिक्रमण करता है, यह बात हमें जिस प्रकार ग्रहण कर लेना आवश्यक है, एवं उसकी उपलब्धि होने पर जिस प्रकार विकार व मृत्यु की कल्पना से हम भयभीत व पीड़ित नहीं होते, उसी भाँति मनुष्य जिस महत् सत्य को नाना देश, नाना काल, नाना रूप में प्रकाश करने की चेष्टा करता है, एक बार उसे उसकी मतदेह से स्वतन्त्र कराकर सत्यात्मा को स्वीकार कराना हमारे पक्ष में अत्यन्त ही आवश्यक है। ऐसा होने पर, सत्य का अमृतस्वरूप जान लेने पर ही हमको आनन्द,

प्राप्त होता है।

नहीं तो केवल मत और वाक्य को लेकर ही विवाद करके हम अधीर होते रहते हैं, एवं अपने मत की स्थापना और अन्य के मत का खण्डन करते रहेंगे। यह अहंकार सुतीव्र हो जाने पर जगत् में पीड़ा की सृष्टि करता है। इस तरह विवाद के समय मत प्रबल होकर जितना ही दूर सत्य को फेंक देता है, विरोध का विषय भी उतना ही तीव्रतर हो उठता है। इसी कारण मत का अत्याचार जितना निष्ठुर है, मत की उन्मत्तता जितनी उद्दाम है, उतना और कुछ नहीं। इसीलिए सत्य हमें धैर्य प्रदान करता है, किन्तु मत धैर्य का हरण।

दृष्टान्त-स्वरूप हम कह सकते हैं—अद्वैतवाद व द्वैतवाद को लेकर जब हम विवाद करते हैं तो मत को लेकर ही, सत्य को लेकर नहीं। परिणाम स्वरूप हम सत्य को आच्छन्न करके, विस्मृत करके, एक ओर क्षति-ग्रस्त होते हैं और दूसरी ओर विरोध करके दुःख उठाते हैं।

हम लोगों में जो अपने को द्वैतवादी होने की घोषणा करते हैं, वे अद्वैतवाद में विभीषिका की कल्पना करते हैं, वहाँ मत से रुष्ट होकर सत्य तक को निर्वासित करना चाहते हैं।

जिन्होंने अद्वैतम् सत्य की प्राप्ति कर ली है उनकी इस प्राप्ति में प्रवेश करो। उनकी बात में यदि कोई ऐसी चीज हो जिससे तुम्हें दुःख हो, उसकी ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं।

'मायावाद' नाम सुनते ही असहिष्णु होने की आवश्यकता क्या है? मिथ्या क्या नहीं है? अपने में क्या उसका कोई परिचय नहीं मिलता? सत्य क्या हमारे पास एकदम उन्मुक्त दशा में है? हम उसको क्या कुछ और नहीं समझे बैठे हैं? काष्ठ को दग्ध करके जिस प्रकार अग्नि प्रज्ज्वलित होती है, उसी प्रकार हम अपने अज्ञान को, अविद्या को, माया को दग्ध करके ही क्या सत्य ज्ञान को प्रज्ज्वलित नहीं करते? हमारे पक्ष में माया का ईंधन ज्ञान की ज्योति-लाभ के निमित्त प्रयोजनपूर्ण हो सकता है, किन्तु यह मिथ्यात्व क्या ब्रह्म में है?

भूत, भविष्यत् और वर्तमान् अनन्त में एकदम पर्यवसित हो गया है, और हमारे अन्दर यह परिवर्तन खण्ड भाव में परम्परा से चला आ रहा है, कहीं उसकी पर्याप्ति नहीं। एक स्थान पर यदि ब्रह्म में कोई परिसमाप्ति न हो, तो हम इस खण्ड काल की क्रिया को असमाप्त समझते हैं। इसे असमाप्त आख्यान कहने का कोई तात्पर्य भी नहीं रहता।

यह खण्ड काल की असमाप्ति एक ओर अनन्त को प्रकाश भी करती है और एक ओर आच्छन्न भी। जिस ओर वह आच्छन्न करती है उसे क्या कहें ? उसे माया ही तो कहेंगे न ? मिथ्या ही कहेंगे न ? तो मिथ्या शब्द का स्थान कहाँ है ?

खण्ड काल की समस्त खण्डता, समस्त क्रमिकता के आक्रमण से क्षण-भर के लिए भी विमुक्त होकर अनन्त परिसमाप्ति के निर्विकार, निरञ्जन अतल स्पर्श के मध्य अपने को निःशेष में निमज्जित करके, उस शुद्ध, शान्त, गम्भीर अद्वैत रससमुद्र में निविड़ आनन्द की निश्चल स्थिति जिन्होंने प्राप्त की है, उन्हें मैं भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ। मैं उनके साथ किसी बात को लेकर वाद-प्रतिवाद नहीं करना चाहता।

क्योंकि, मैं तो अनुभव करता हूँ कि मिथ्या के बोझ से मेरा जीवन क्लान्त है। मैं देख रहा हूँ, जिस 'मैं' नाम के पदार्थ को ठीक समझकर निश्चिन्त बैठा हूँ, उसी का थाली-लोटा, उसी के स्थावर-अस्थावर बोझे को सत्य पदार्थ समझकर भ्रमपूर्ण सारा जीवन व्यतीत करता हूँ—कितना ही दुःख पाऊँ, उसे किसी प्रकार भी दूर नहीं कर सकता। अथच, अन्तरात्मा में एक ध्वनि उठती है, 'वह जो समस्त मिथ्या है, वह समस्त तुम को त्याग करना होगा। मिथ्या के झोले को सत्य मानकर वहन करने से तो तुम्हारा कल्याण नहीं होगा। उससे तो तुम्हारी 'महती विनष्टिः' ही है।'

अपने अहंकार को, अपने देह को, रुपये-पैसे को, ख्याति-प्रतिपत्ति (मान) को एकान्त सत्य समझकर और जानकर अस्थिर हुआ घूमता हूँ, यदि यही क्रम रहा तो मिथ्या की सीमा कहाँ मिलेगी ? बुद्धि के मूल

में जिस भ्रम के रहने से हम अपने-आपको भूले हुए हैं, वही भ्रम क्या समस्त जगत् के सम्बन्ध में हमें नहीं भुलाये हुए है ? वही भ्रम क्या हमारे जगत् के केन्द्र-स्थल में अपने 'मैं' को संस्थापन करके मरीचिका-रचना नहीं कर रहा है ? इसीलिए इच्छा है कि किसी-न-किसी प्रकार इस मकड़ी के जाले को एकदम छिन्न-भिन्न और परिष्कार करके उस परमात्मा के, उस परम 'मैं' के, उस एकमात्र 'मैं' के मध्य, अहंकार के समस्त आवरण से विवर्जित होकर अवगाहन (समा जाऊँ) करूँ—भाव-मुक्त होकर, वासना-मुक्त होकर मलिनता-मुक्त होकर, एक ही बार में सुब्रहत् परित्राण लाभ कर लूँ ।

यह इच्छा अन्तर में है । यह वैराग्य समस्त उपकरणों के धन्धों के बीच भी पथ-भ्रष्ट बालक के समान ठहर-ठहरकर रो उठता है । तो अब मैं किस मुँह से मायावाद को गाली दूँगा ? हमारे मन में एक श्मशान-वासी जो वास कर रहा है, वह और कुछ नहीं जानता, वह केवल यही जानता है—"एकमेवाद्वितीयम् ।"

निर्विशेष

संसार को प्रकाश-अन्धकार, अच्छा-बुरा, जन्म-मृत्यु, प्रभृति-द्वन्द्व का निकेतन, अत्यन्त पुरातन काल से हम मानते आए हैं । इस द्वन्द्व द्वारा समस्त खण्डित आकर्षणशक्ति, विकर्षणशक्ति, केन्द्रानुगशक्ति, केन्द्रातिग-शक्ति आदि की केवल विरुद्धता रहने से ही सृष्टि चलती रहती है ।

किन्तु, यदि यह विरुद्धता ही एकान्त सत्य होती, तो जगत् में हम युद्ध-ही-युद्ध देखते, शान्ति कहीं भी दिखाई न देती । अथच, स्पष्ट ही दिखाई दे रहा है कि द्वन्द्व-युद्ध के ऊपर अखण्ड शान्ति विराजमान है । इसका कारण यह है कि विरोध संसार में ही है, ब्रह्म में नहीं ।

हम तर्क के जोर पर सरल रेखा को अनन्त काल तक सीधा खींच-कर ले जा सकते हैं । हम सोचते हैं, अन्धकार को सीधा खींचते रहें तो अनन्त काल तक उसकी भी स्थिति रहेगी । कारण है कि अन्धकार

में एक विशिष्टता है जिसका अवसान कुत्रापि (कहीं भी) नहीं होता।

तर्क में ही ऐसी सरल रेखा रह सकती है, सत्य में नहीं। सत्य में लाइन गोल हो जाती है। अन्धकार को खींचते हुए धीरे-धीरे टेढ़ापन आकर एक जगह वह प्रकाश इसी तरह भ्रम को ठेलते-ठेलते गोल हो पड़ता है। सुख को सरल लाइन में खींचते-खींचते वह दुःख में टेढ़ा आकर खड़ा हो जाता है। एक जगह संशोधन की रेखा पर अपने-आप आ पड़ते हैं।

इसका एकमात्र कारण यह है कि अनन्त में विरुद्धता का पक्षपात नहीं है। अखण्ड आकाश के गोलक में पूर्व दिशा का पूर्वत्व निर्दिष्ट नहीं है। पश्चिम का पश्चिमत्व नहीं, पूर्व-पश्चिम के बीच कोई विरोध नहीं, कोई विच्छेद भी नहीं है। पूर्व-पश्चिम का विशेषत्व तो इस खण्ड 'मैं' के विशेषत्व के आश्रय पर ही टिका हुआ है।

वह वस्तु, जो ब्रह्म के स्वरूप में है और नहीं भी है, उसका क्या नाम रख सकते हैं? वेदान्त ने उसे माया नाम दिया है, अर्थात् ब्रह्म तो सत्य और यह सत्य नहीं। यह माया है। जब भी इसे ब्रह्म के साथ-साथ देखने का प्रयत्न करें तभी उसका लोप। एक साथ दोनों को देखना अशक्य है। ब्रह्म की ओर से उसे देखने पर ही यह समस्त अखण्ड गोलक अनन्त भाव में परिसमाप्त हो जाता है। हमारी ओर से देखने पर विरोध में, प्रभेद में, बहु में, विचित्र विशेषता में, विभक्त हो जाता है।

इसलिए जो उस अखण्ड अद्वैत की साधना करते हैं, वे ब्रह्म को विशेषता से मुक्त करके एक विशुद्ध भाव में अनुभव करते हैं। ब्रह्म को वे निर्विशेष जानते हैं, एवं इस निर्विशेष की उपलब्धि को ही वे ज्ञान का चरम लक्ष्य बनाते हैं।

इसी अद्वैत की जो विराट् साधना है, उसी में छोटी-बड़ी अनेक मात्राओं में मनुष्य प्रवृत्त है। इसे ही मनुष्य मुक्ति कहता है। 'एपिल' फल के पतन को मनुष्य एक समय स्वतन्त्र और विशेष घटना ही मानता

था। बाद को उसे एक विश्वव्यापी अतिविशेष के साथ युक्त करके ज्ञान का बन्धन मुक्त कर दिया। ऐसा करने से मनुष्य ने ज्ञान की सार्थकता प्राप्त की।

मनुष्य जब अहंकार को एकान्त-विशेष करके मानता है, तब वह अपने उस 'मैं' को लेकर सकल दुष्कर्म कर सकता है। मनुष्य का धर्म-बोध उसे नित्यप्रति शिक्षा देता है। तुम्हारा 'मैं' ही एकान्त नहीं है। अपने 'मैं' को समाज के 'मैं' में मुक्त करो, अर्थात् अपने विशेषत्व को अतिविशेष के अभिमुख करो। इस अतिविशेष के अभिमुख होकर यदि विशेषत्व को लेकर न चले, तो संसार निदारुण विशिष्ट मूर्ति धारण करके हमारी गर्दन दबाकर बैठ जायगा, उसके समस्त पदार्थ एकान्त बोझ बन उठेंगे। धन उस समय अत्यन्त एकान्त होकर बन्धन का इतना विरोधी दिखाई पड़ता है कि धन का बोझ हम किसी प्रकार भी उतार नहीं सकेंगे।

इस बन्धन, इस बोझ से, मुक्ति दिलाने के लिए मनुष्य में बड़े-बड़े भाव, मंगल-भाव, धर्म-भाव कितने ही प्रकार से कार्य करते हैं। बड़े के बीच, छोटे विशेषत्व प्रभृति अपनी ऐकान्तिकता त्याग देते हैं, इसीलिए बड़े के मध्य छोटे का दौरात्म्य कम पड़ जाने से, मनुष्य बड़े भाव के आनन्द में छोटे का बन्धन, धन का बन्धन, ख्याति का बन्धन तोड़ सकता है।

इसीलिए हम देखते हैं कि निर्विशेष के अभिमुख होकर ही मनुष्य की समस्त उच्च आकांक्षा, समस्त उन्नति की चेष्टा काम करती है।

अद्वैतवाद, मायावाद, वैराग्यवाद ने मनुष्य के इस भाव को, इस सत्य को समुज्ज्वल रूप में देखा है। सुतराम्, मनुष्य को अद्वैतवाद ने एक बृहत् सम्पद् दान की है। नाना अव्यक्त, अर्ध-व्यक्त भाव में जो सत्य कार्य कर रहा था, उसके समस्त आवरण को दूर हटाकर उसका सम्पूर्ण परिचय कराया है।

किन्तु, जहाँ कहीं भी हो, विशिष्टता नाम का एक पदार्थ आता है,

उसे मिथ्या ही कहें, माया ही कहें, उसका एक प्रबल वेग होता है। यह वेग उसे प्राप्त होता है कहाँ से ?

ब्रह्म छोड़कर क्या और किसी शक्ति ने—उसे शैतान कहो या और कुछ नाम धरो—बाहर से जोर देकर इस माया का आरोप किया है ? यह तो किसी प्रकार विचार में नहीं आता।

उपनिषद् ने इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया है, "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।" ब्रह्म के आनन्द से ही यह सब-कुछ हो रहा है। उनकी इच्छा, उनका आनन्द, कोई बाहरी जोर नहीं।

इस प्रकार विशेष का पथ पार करके निर्विशेष में, आनन्द में, जैसे ही मनुष्य पहुँचता है, वैसे ही वह लाइन घूमकर फिर विशेष की ओर लौट आती है। किन्तु तब इस समस्त विशेष को आनन्द में ही देख पाते हैं और फिर वह हमें बद्ध करने में असमर्थ हो जाता है। कर्म फिर आनन्द का कर्म होकर, फलाकांक्षा त्यागकर शेष रह जाता है, और संसार भी फिर आनन्दमय हो उठता है, फिर कर्म ही चरम नहीं रहता, संसार भी चरम नहीं, केवल आनन्द ही उस दशा में चरम होता है।

इस प्रकार से मुक्ति हमें योग में लाती है और वैराग्य हमें प्रेम-पथ पर लाकर खड़ा कर देता है।

द्रौ

"स पर्यगाच्छुक्रमकायम-व्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याताथ्यतो अर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।"

उपनिषद् के इस मन्त्र की मैं अनेक दिनों से अवज्ञा करता आ रहा हूँ। नाना कारणवश यह मन्त्र अनुपयुक्त एवं अद्‌भुत्-सा प्रतीत होता था।

बाल्यकाल से हम इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार से सुनते आए हैं—वह सर्वव्यापी, निर्मल, निरवयव, शिरा व व्रणरहित, शुद्ध अपाप-विद्ध, सर्वदर्शी, मन के नियन्ता, सबसे श्रेष्ठ तथा स्वप्रकाश, वह सदा सर्वदा

प्रजादि के लिए यथोपयुक्त सकल अर्थ का विधान करते आए हैं।

ईश्वर के नाम तथा रूप की तालिका नाना स्थान में सुनते-सुनते हम अभ्यस्त हो गए हैं। अब इसकी आवृत्ति करना इतना सहज हो गया है कि इसके लिए और कोई चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं, इसलिए जो भी सुनते हैं उसकी कोई चिन्ता का उद्रेक नहीं होता।

बाल्यकाल में उल्लिखित मन्त्र को मैंने चिन्तन करके ग्रहण नहीं किया, वरञ्च मेरे चिन्तन करने में एक विद्रोह था। प्रथम तो इसके व्याकरण तथा रचना-प्रणाली में एक बड़ा शैथिल्य प्रतीत हुआ। वह सर्वव्यापक हैं, इस बात को एक क्रियापद द्वारा प्रकट किया है, यथा 'स पर्यगात्'। तत्पश्चात् उनकी अन्य संज्ञा 'शुक्रम्', 'अकायम्', प्रभृति विशेषणों द्वारा व्यक्त की है। और द्वितीयत: 'शुक्रम्, अकायम्' इत्यादि क्लीव (नपुंसक) लिंग रखे हैं और तुरन्त ही फिर 'कविर्मनीषी' प्रभृति पुल्लिंग विशेषण प्रयोग किये हैं। तृतीयत: ब्रह्म का शरीर नहीं है, यहाँ तक तो सह्य है, किन्तु अशरीर के व्रण नहीं, स्नायु नहीं, कहने से एक तो बाहुल्य हुआ, तथा प्रसंग को अत्यन्त निम्न स्तर पर लाना है, इन सब कारणवश हमारी उपासना के मन्त्र ने मुझे दीर्घकाल तक पीड़ित किया है।

जब अन्तःकरण भाव को ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत न हो, तो श्रद्धाहीन श्रोता के लिए केवल वाक्य समस्त अर्थ का उद्घाटन नहीं कर सकता। अध्यात्म मन्त्र को साहित्य-समालोचक के कान ने जब सुना तो साहित्य के अनुसार भी उसका ठीक-ठीक विचार नहीं कर पाया।

उससे मैं अनुतप्त नहीं हूँ, वरञ्च आनन्दित ही हूँ। मूल्यवान वस्तु को प्राप्त करना तभी सौभाग्य है, जब उसका मूल्य समझने की शक्ति कुछ परिमाण में प्राप्त हो जाय। किसी वस्तु को यथार्थ अभाव के पूर्व ही पा जाने से, प्राप्ति के आनन्द तथा सफलता से वंचित होना पड़ता है।

पहले मैं समझ नहीं सका कि मन्त्र के दो चरणों में दो क्रियापद प्रधान स्थान पर अधिकार किये बैठे हैं। एक तो 'पर्यगात्'—वह सर्वगत

हैं, वह सर्वत्र हैं। दूसरा है 'व्यदधात्'—उन्होंने यह सब ही किया है। इस मन्त्र के एक अर्द्ध में वह हैं और दूसरे में उन्होंने सबकी सृष्टि की है।

जहाँ वह हैं वह विशेषण पद है नपुंसक लिंग, जहाँ सृजन किया है वहाँ पुल्लिग विशेषण है। अतएव वाक्य-बाहुल्य न करके केवल व्याकरण से इंगित करके इस मन्त्र ने एक गम्भीर सार्थकता प्राप्त की है।

वह सर्वत्र हैं, क्योंकि वह मुक्त हैं, उन्हें कहीं भी कोई बाधा नहीं। न है शरीर की बाधा, न है पाप की बाधा। वह हैं, इस ध्यान को सम्पूर्ण ग्रहण करने के लिए उनका मुक्त विशुद्ध स्वरूप मन में उज्ज्वल करके देखना पड़ेगा। वह कहीं किसी से भी बद्ध नहीं हैं, यही सर्वव्यापी का लक्षण है।

जिसके शरीर है वह तो सर्वत्र नहीं हो सकता। केवल यही नहीं कि वह सर्वत्र निर्विकार दशा में नहीं रह सकता, क्योंकि शरीर का धर्म ही है विकार। उनके शरीर नहीं, इसीलिए वह निर्विकार हैं, अव्रण हैं। जिसके शरीर है वह व्यक्ति स्नायु आदि के साहाय्य से अपना प्रयोजन साधन करता है, इस प्रकार का साहाय्य उसके लिए तो सम्पूर्ण आवश्यक ही है। शरीर नहीं है, इसीलिए उन्हें अव्रण तथा अस्नाविर विशेषणों द्वारा व्यक्त किया गया है। उनकी शारीरिक सीमा नहीं, इसलिए विकार नहीं, एवं खण्ड-भाव से खण्ड उपकरणों द्वारा उन्हें कोई कर्म नहीं करना पड़ता। वह हैं 'शुद्धम् अपापविद्धं', किसी प्रकार की पाप-प्रवृत्ति उन्हें एक ओर खींचकर, एक ओर बाँधकर नहीं रख सकती। इसलिए वह सर्वत्र ही सम्पूर्ण समान हैं। यह हुआ 'स पर्यगात्'।

उसके बाद 'स व्यदधात्', जिस प्रकार अनन्त देश में वह 'पर्यगात्', उसी प्रकार अनन्त काल में वह व्यदधात्। 'व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः' नित्यकाल से विधान कर रहे हैं और नित्यकाल के लिए विधान कर रहे हैं। वह विधान किंचित्मात्र भी अव्यवस्थित अथवा उच्छृङ्खल नहीं है। याथातथ्योऽर्थान् व्यदधात्। जहाँ का जो भी अर्थ ठीक हो उसे बिलकुल यथातथ्य रूप में विधान करते हैं। उसमें लेशमात्र व्यत्यय होने का स्थान नहीं।

इसका जो विधान करते हैं उनका स्वरूप क्या है ? वह कवि हैं। इस स्थल पर कवि शब्द का प्रतिशब्द-स्वरूप सर्वदर्शी कहने से ठीक नहीं बैठेगा, क्योंकि, यहाँ तो वह केवल देखते ही नहीं, करते भी हैं। कवि केवल देखते, जानते ही नहीं, प्रकाश भी करते हैं। वह कवि हैं अर्थात् उनका आनन्द एक सुशृङ्खल सुषमा में सुविहित छन्द में स्वयं को प्रकाश कर रहा है, उनका जगत्-महाकाव्य ही इसका साक्षी है। जगत्-प्रकृति में वह कवि है और मनुष्य की मन-प्रकृति में वह अधीश्वर हैं। विश्व-मानव का मन अपने-आप किसी-न-किसी तरह एक काण्ड सम्पादन करता है। इतना ही नहीं, यह उसे निगूढ़ भाव में नियन्त्रित करके क्षुद्र से भूमा की ओर, स्वार्थ से परमार्थ की ओर लिये जा रहा है। वह ही हैं 'परिभूः'। क्या तो जगत्-प्रकृति, क्या मनुष्य का मन, सर्वत्र ही उनका प्रभुत्व। किन्तु उनका कवित्व तथा प्रभुत्व किसी बाहरी शक्ति द्वारा नियमित नहीं है, वह 'स्वयम्भू' हैं। वह अपने ही द्वारा अपने-आपको प्रकाशित करते हैं। इसलिए उनके कर्म को, उनके विधान को, किसी देश व किसी काल में भी बाधा देने वाला कोई नहीं। एवं इसी कारणवश शाश्वत काल में उनका विधान बना रहता है और वह विधान भी यथातथ्य रूप से।

हमारे स्वभाव में भी इसी प्रकार भाववाच्य तथा कर्मवाच्य दो प्रकार के वाच्य (कथनीय वस्तु) हैं। हम भी ऐसा ही करें। हमारा भाव जितना ही बाधामुक्त और सम्पूर्ण होगा, हमारा कर्म भी उतना ही सुन्दर और यथातथ्य हो जायगा। हमारे भाव की पूर्णता किसमें है ? पाप-शून्य विशुद्धता में। वैराग्य द्वारा आसक्ति बन्धन से मुक्त होओ, पवित्र होओ, निर्विकार होओ। इस ब्रह्मचर्य की साधना में तुम्हारा भाव जितना सम्पूर्ण होता रहेगा, और जितना ही तुम अपने बाधामुक्त निष्पाप चित्त द्वारा सर्वत्र व्याप्त होते रहोगे, जितना ही सबमें प्रवेश का अधिकार प्राप्त करते रहोगे, उतना ही तुम संसार को काव्य के रूप में समझ पाओगे, बाहर और अन्तर में प्रभुत्व लाभ कर पाओगे। अर्थात् आत्मा का स्वयम्भुत्व सुस्पष्ट हो जायगा, और अनुभव करोगे कि तुम्हारे

भीतर एक मुक्ति का अधिष्ठान है ।

एक ही अनन्त चक्र में भाव एवं कर्म किस प्रकार मिलित हुए हैं, भाव से कर्म स्वतः ही अपने स्वयम्भू-आनन्द में किस प्रकार सौन्दर्य तथ ऐश्वर्य में बहुमुखी हो उठा है, विशुद्ध निर्विशेष, विचित्र विशेष के बीच किस प्रकार से स्थित है, जो स्वयं अकाय हैं उन्होंने कायारूपी काव्य रचना की है, जो अपापविद्ध हैं वह पाप-पुण्यमय मन के अधिपति होकर बैठे हैं। कहीं भी इसका कोई अपवाद नहीं मिलता । उपनिषद् के एक छोटे-से मन्त्र में यह समस्त बात कही गई है ।

विश्वव्यापी

यो देवोऽग्नौ योऽप्सु योविश्वं भुवनमाविवेश ।
य औषधीषु यो बनस्पतिषु तस्मै देवायनमोनमः ॥

जो देवता अग्नि में, जो जल में, जो विश्व-भुवन में प्रविष्ट होकर रहते हैं जो औषधियों में, जो वनस्पति में हैं, उन देवता को बारम्बार नमस्कार । ईश्वर सर्वत्र हैं इस वाक्य के हम अत्यन्त अभ्यस्त हो गए हैं । इसलिए यह मन्त्र हमें अनावश्यक-सा प्रतीत होता है, अर्थात् इस मन्त्र के विषय में हमारे मन में कोई चिन्तन जाग्रत नहीं होता ।

अथच वह बात भी सत्य है कि हम ईश्वर के सर्व-व्यापित्व सम्बन्ध में कितना भी निश्चित क्यों न रहें, "तस्मै देवाय नमोनमः" यह हमारी अभिज्ञता का सूचक नहीं है, हम उस देवता का सच्चा अभिवादन ही नहीं कर पाते । ईश्वर सर्वव्यापी हैं यह केवल हमारी सुनी बात है और सुनी बात पुरातन हो जाती है, मृत हो जाती है । यह भी हमारे लिए मृत हो गई ।

किन्तु जिन्होंने इस बात को कान से सुनकर ही नहीं कहा—जो मन्त्रद्रष्टा हैं, जिन्होंने मन्त्र को देखा है, तब कहा है—उनकी प्रत्यक्ष उपलब्धि की वाणी अन्यमनस्क होकर नहीं सुन सकते । इस वाक्य में कितना सत्य है उसे हमें सम्पूर्ण चेतन-भाव में ग्रहण करना चाहिए ।

जिस वस्तु का हम नित्य व्यवहार करते हैं, जिससे हमारे प्रयोजन-

साधन होते हैं, उसके तात्पर्य हमें अत्यन्त संकीर्ण मालूम होने लगते हैं। स्वार्थ केवल अपने-आप ही क्षुद्र नहीं है, जिसके प्रति वह हस्तक्षेप करता है, उसे भी क्षुद्र बनाकर छोड़ता है। यहाँ तक कि जिस मनुष्य को हम विशेष भाव से प्रयोजन में लगा लें वह हमारे लिए अपना मानवत्व भी परिहार करके विशेष यन्त्र में शामिल हो जाता है। लेखक या बाबू अपने ऑफ़िस में उसके अध्यक्ष के लिए प्रधान यन्त्र है, सैनिक राजा के लिए यन्त्र हैं और किसान जो हमारे अन्न का संस्थान करते हैं, उन्हें हम सजीव हल ही समझते हैं। किसी देश का अधिपति यदि इस बात को आत्यन्तिक रूप देकर ही जाने, तो जिस देश से उसे नाना प्रकार की सुविधाएँ मिलती हैं उस देश की सुविधाओं को वह कठिन जड़ आवरण में वेष्ठित करके ही देख पाता है। प्रयोजन के सम्बन्ध में अतीत जो-कुछ है उसे वह नहीं देख पाता।

जगत् को हम एक अत्यन्त व्यवहार की सामग्री ही समझते हैं। इसलिए हम उसके जल, थल, वायुमण्डल आदि की अवज्ञा करते रहते हैं, उन्हें हम अहंकारवश अपना भृत्य समझते हैं, इस प्रकार से जगत् हमारे लिए एक मन्त्र-मात्र हो जाता है।

इस अवज्ञा के फलस्वरूप हम अपने को वंचित करते हैं। जिसे हम महान् रूप में लाभ कर सकते थे, उसे छोटे रूप में ही पाते हैं, जिसके द्वारा हमारा चित्त भी परितृप्त होता, उससे केवल पेट ही भरता है।

जिन्होंने जल, स्थल, वायुमण्डल को केवल दैनिक व्यवहार द्वारा जीर्ण-संकीर्ण नहीं समझा; जिन्होंने नित्य नवीन दृष्टि द्वारा उज्ज्वल जाग्रत चैतन्य द्वारा विश्व को, अपने अन्तर में समादृत अतिथि के समान ग्रहण किया है, एवं चराचर संसार के मध्य हाथ जोड़ते हुए खड़े होकर उच्चारण किया है—

यो देवोऽग्नो योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश।
य ओषधीषु वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमोनमः॥

उनसे उच्चारित इस सजीव मन्त्र को जीवन में ग्रहण करके,

ईश्वर सर्वव्यापी हैं, इस ज्ञान को सर्वत्र सार्थक करो। जो सर्वत्र प्रत्यक्ष हैं उनके प्रति तुम्हारी भक्ति सर्वत्र उच्छ्वसित हो उठे।

अपनी बोध-शक्ति को और अलस करके मत रखो, दृष्टि के पीछे समस्त चित्त की प्रेरणा करो। दक्षिण, वाम, अधः, उर्ध्व, सम्मुख, पश्चात्, चेतना द्वारा चेतना का स्पर्श-लाभ करो। तुम्हारे अन्तर में जो धी-शक्ति अहोरात्रि विकीर्ण हो रही है, उस धी-शक्ति के योग से 'भूः भुवः स्वः' लोकों में सर्वव्यापी धी का ध्यान धरो, अपनी तुच्छता द्वारा अग्नि और जल को तुच्छ मत कर डालो। यह समस्त आश्चर्यमय है, समस्त परिपूर्ण है। "नमो नमः नमो नमः।" सर्वत्र ही माथा नम जाय, हृदय नम्र हो जाय एवं आत्मीयता प्रसारित हो जाय। जिसे बिना-मूल्य पाते हो उसे सचेतन साधना का मूल्य देकर प्राप्त करो, जो अजस्र, अक्षय सम्पदा बाहर है, उसे अन्तर में ग्रहण करके धन्य हो जाओ। "य औषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः।" इसके पूर्व चरण में है, जोकि अग्नि में, जल में, विश्व-भुवन में प्रविष्ट होकर रहते हैं। दूसरे में हैं, जो औषधियों में, वनस्पति में हैं, उन्हें बारम्बर नमस्कार।

सहसा विचार उठ सकता है कि प्रथम चरण से ही तो मन्तव्य निःशेषित हो चुका है। वह विश्व-भुवन में स्थित हैं, फिर क्यों औषधि, वनस्पति के समान क्षुद्र नाम लेकर वाक्य शेष किया गया ?

वास्तव में मनुष्य के लिए तो यही शेष है। ईश्वर विश्व-भुवन में स्थित हैं यह कहना कठिन नहीं, हम अनायास ही यह कहते रहते हैं। यह कह देने के पश्चात् हमें उसकी उपलब्धि को अत्यन्त सत्य करके दिखाने का प्रयोजन नहीं रहता। किन्तु फिर भी ऋषि कहते हैं "वह इन औषधियों में, वनस्पति में विद्यमान हैं।" वे ऋषि थे मन्त्रद्रष्टा। उन्होंने इस मन्त्र को केवल मनन द्वारा नहीं प्राप्त किया, उन्होंने इसके दर्शन भी किये। वे तपोवन की तरु-लताओं में किस परिपूर्ण चेतना में उनके दर्शन करते थे। जिस नदी के जल में वे स्नान करते थे, वे कैसा पवित्र था स्नान, कैसा सत्य था वह—जो फल वह भक्षण करते थे उसके

स्वाद में कैसा अमृत का स्वाद था ! उनके सामने प्रभात का सूर्योदय गभीर कैसा गम्भीर, कैसा अवरूप (अत्यन्त विचित्र), प्राणमय, चैतन्यमय सूर्योदय ! उसका विचार करने से ही हृदय पुलकित हो उठता है।

वह विश्व-भुवन में हैं यह कहकर उन्हें सहज में विदा कर देने से काम नहीं चलता। भगवन् मैं, कब कह सकूंगा, वे औषधि में हैं, वनस्पति में हैं ?

मृत्यु का प्रकाश

आज पितृदेव की बरसी है।

उन्होंने ७ पौष को ही धर्मदीक्षा ग्रहण की थी। शान्ति निकेतन आश्रम में हम लोग उनके दीक्षा-दिवस का वार्षिकोत्सव मनाते आ रहे हैं। जिस दीक्षा को उन्होंने ७ पौष में ग्रहण किया, माघषष्ठी को मृत्यु-दिवस में उसे सम्पूर्ण करके अपने महत् जीवन-व्रत का उद्यापन करके प्रस्थान कर गए।

शिखा से शिखा प्रज्ज्वलित होती है। उनके परिपूर्ण जीवन से हमें भी अग्नि लेनी होगी। इसलिए ७ पौष यदि उनका दीक्षा-दिवस है, तो ६ माघ हमारा दीक्षा दिवस होगा। उनके जीवन की समाप्ति हमें दीक्षा दे रही है, जीवन की दीक्षा दे रही है।

जीवन-व्रत एक अति कठिन व्रत है। इस व्रत का क्षेत्र अति बृहत् है। मन्त्र इसका अति दुर्लभ है, कर्म इसका अति विचित्र है, त्याग इसका अति दुस्साध्य है। जिनका इस दीर्घ जीवन के सुख-दुःख में, सम्पद में, विपद में, मान में, अपमान में, एक मन्त्र किसी दिन विस्मृत नहीं होता, जो अपने लक्ष्य से एक दिन भी विचलित नहीं होते, जिनके जीवन में यह प्रार्थना सत्य हो उठी थी "माहं ब्रह्म निरा कुर्याम्, मामा ब्रह्म निराकरोत्। अनिराकरणमस्तु"—ब्रह्म ने मेरा त्याग नहीं किया, मैं भी कभी उनका त्याग न करूँ, किसी प्रकार भी उनका परित्याग न हो। उनसे ही आज हम विक्षिप्त जीवन के एक परम लक्ष्य की सार्थकता दान करने का मन्त्र ग्रहण करें।

परिपक्व होकर फल जिस प्रकार वृन्तच्युत होकर अपना सम्पूर्ण दान करता है, उसी प्रकार वह मृत्यु द्वारा अपना दान कर गए हैं। ऐसी सम्पूर्ण प्राप्ति मृत्यु के भीतर होकर ही मिल सकती है। जीवन जिन नाना सीमाओं द्वारा अपने को वेष्ठित करके रक्षा करता है, वह सीमा कुछ-न-कुछ बाधा-रचना करती ही है।

मृत्यु द्वारा उन महापुरुष ने अपने जीवन को सम्पूर्ण भाव में उत्सर्ग किया है, उसकी समस्त बाधा दूर हो गई, इस जीवन से हमें कोई सांसारिक प्रयोजन नहीं, कोई लौकिक व सामयिक सम्बन्ध की क्षुद्रता भी नहीं। उसके साथ केवल एकमात्र योग हो गया है, वह है अमृत का योग। इस अमृत को मृत्यु ही प्रकाश करती है।

मृत्यु ने आज उनके जीवन को हमारे प्रत्येक के निकट लाकर रख दिया है, प्रत्येक के अन्तर में पहुँचा दिया है। अब यदि हम प्रस्तुत होकर उसे ग्रहण करें, तो उनके जीवन के साथ हमारे जीवन के रासायनिक सम्मिलन में कोई व्याघात (बाधा) नहीं है। उनके पार्थिव जीवन का उत्सर्ग आज ब्रह्म में सम्पूर्ण हुआ है, इसीलिए तो आज वह हमारे सबके हो गए। वन की फूल-पूजा अवसान होने पर, प्रसादी फूल बनकर विशेष रूप में सबकी सामग्री हो गए। आज उस फूल की पूजा का पुण्य सम्पूर्ण हो गया, आज उस फूल में उसके देवता का आशीर्वाद मूर्तिमान हुआ है। उस पवित्र निर्माल्य को हम मस्तक पर धारण करके चले जायँगे, इसलिए उनके मृत्यु-दिवस का उत्सव है। विश्वपावन मृत्यु ने आज स्वयं उस महत् जीवन को हमारे सम्मुख उद्घाटन करके खड़ा कर दिया है—आज का दिन हमारे लिए व्यर्थ नहीं होगा।

एक दिन जब ७ पौष को उन्होंने अकेले ही अमृत-जीवन की दीक्षा ग्रहण की थी, उस दिन का सम्वाद बहुत कम लोगों को मिला था। ६ माघ को मृत्यु जब यवनिका उद्घाटन करके सामने आई तो कुछ भी प्रच्छन्न नहीं रहा। उनकी वह एकाकी दीक्षा आज हम सब मिलकर ग्रहण करने के अधिकारी हो गए। उसी अधिकार को हम सार्थक करें।

पाँच....

नव युगीन उत्सव

अपनी असम्पूर्णता से सम्पूर्ण सत्य को आविष्कार करने में कुछ समय लगता है। हम यथार्थ में हैं, हम क्या करते हैं, उसका परिणाम क्या है, उसका तात्पर्य क्या है? इन सबका स्पष्ट बोध सहज कार्य नहीं है।

बालक अपने को घर का बच्चा ही समझता है। वह घर के सम्बन्ध को ही चरम सम्बन्ध मानता है। उसे ज्ञात नहीं है कि वह घर से कहीं बड़ा है। उसे पता नहीं है कि मानव-जीवन में सबसे बड़ा सम्बन्ध घर से बाहर का ही है।

वह मनुष्य है, इसलिए समस्त मानव-समाज की सम्पत्ति है। यदि वह फलस्वरूप है तो माता-पिता उसके केवल वृन्त-मात्र ही हैं, किन्तु समस्त मानव-वृक्ष के साथ जड़ से लेकर डाल पर्यन्त उसका मज्जागत योग है।

किन्तु, वह एक मनुष्य है। एकान्त भाव में घर का ही नहीं है, यह बात शिशु अनेक दिन-पर्यन्त नहीं जानता। तब भी एक दिन उसे यह ज्ञात हो जायगा कि घर, उसे घर में ही सम्पूर्णतया आत्मसात् करने के लिए पालन नहीं कर रहा है, वह उसे मानव-समाज के कल्याण के लिए ही पोषण दे रहा है।

हम आज कोई पंचाशवत्सर से ऊर्ध्व (ऊपर) इस ११ माघ का उत्सव मनाते आ रहे हैं। हम क्या करते हैं, यह उत्सव किसका उत्सव है, यह समझ लेने का अब समय हो गया, अब और विलम्ब करने से

काम नहीं बनेगा ।

हमने सोचा कि यह ब्रह्म समाज का उत्सव है । उस समाज-समुदाय के लोग अपनी वर्ष-भर की क्लान्ति तथा अवसाद को उत्सव के आनन्द में विर्सजन कर लेंगे । अपने क्षयग्रस्त जीवन की क्षति पूर्ण कर लेंगे, प्रतिदिन की सञ्चित मलिनता धौत कर लेंगे, महोत्सव के क्षेत्र में चिर-नवीनता के अमृतमय उत्सव का जलपान करेंगे एवं उसमें ही स्नान करके नवजीवन में सद्योजात शिशु के समान प्रफुल्ल हो उठेंगे ।

यह लाभ, यह आनन्द यदि ब्रह्म समाज उत्सव से उठा सकें तो यह सम्प्रदाय धन्य है, किन्तु इतने ही से हम उत्सव का पूर्ण परिचय-लाभ नहीं कर सकते । हमारा यह उत्सव ब्रह्म समाज से कहीं बड़ा है, इतना, कि इसे यदि भारतवर्ष का उत्सव कहें तो भी छोटा ही रहेगा ।

मैं तो कहता हूँ कि हमारा यह उत्सव मानव-मात्र का उत्सव है। यदि यह बात आज हम सम्पूर्ण प्रत्यय के साथ न कह सकें तो चित्त का संकोच दूर नहीं हो सकेगा और इस उत्सव का ऐश्वर्य-भंडार भी हमारे लिए सम्पूर्ण उन्मुक्त नहीं हो सकेगा, हमें यह ठीक-ठीक परिचय भी नहीं होगा कि हम किसलिए इस यज्ञ में आहूत हुए थे ।

अपने उत्सव को हम ब्रह्मोत्सव कहेंगे किन्तु ब्राह्मोत्सव नहीं, यह संकल्प मन में लेकर मैं आया हूँ । जो सत्य हैं, उनके प्रकाश में आज इस उत्सव को समस्त पृथ्वी पर प्रसारित करके देखेंगे, यह जो हमारा प्रांगण है वह आज पृथ्वी का महाप्रांगण है । इसमें क्षुद्रता नहीं है ।

भारतवर्ष ने अपने तपोवन में खड़े होकर एक दिन यह बात कही थी—

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा
आ ये दिव्य धामानितस्थुः
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं
आदित्य वर्णं तमसः परस्तात् ।

हे अमृत के पुत्रो, तुम सब जो दिव्य धाम में हो, सुनो ! मैंने

ज्योतिर्मय, अन्धकार से परे, उस महान् पुरुष को जान लिया है।

दीपक अपने प्रकाश को केवल अपने ही में छिपाकर नहीं रख सकता। महान्तं पुरुषं, महान् पुरुष को, महत् सत्य को, जिन्होंने पाया है वे तो फिर द्वार बन्द करके नहीं बैठ सकते। एक मुहूर्त में, एकदम विश्व-लोक के बीच आकर स्थित हो जाते हैं, नित्य अपने ही कण्ठ से महावाणी की घोषणा करते रहते हैं, वे दिव्य धाम को ही अपने चारों ओर प्रसारित देखते हैं, और जिस मनुष्य पर भी दृष्टिपात करते हैं वह मनुष्य चाहे मूर्ख हो, चाहे पंडित हो, राज-चक्रवर्ती हो अथवा दीन हो, दरिद्र हो, उसे अमृतपुत्र कहकर ही परिचय करते हैं।

जिस दिन भारतवर्ष के तपोवन में, अनन्त के ज्ञान का जन्म हुआ उस दिन भारतवर्ष ने अपने को दिव्यधाम जानकर माना, उस दिन उन्होंने अमृत-पुत्रों की सभा में यह अमृत-मन्त्र का उच्चारण किया। उन्होंने कहा—

"यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्व भूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥"

जो सर्वभूत को परमात्मा में एवं परमात्मा को सर्वभूत में देखते हैं वे फिर किसी से भी घृणा नहीं करते।

भारतवर्ष ने कहा, "ते सवर्गं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति" जो सर्वव्यापी हैं, उन्हें सर्वत्र प्राप्त करके योग-युक्त धीर पुरुष सर्व में ही प्रवेश करते हैं।

उस दिन भारतवर्ष निखिल लोकों के बीच खड़ा था, उसने जल, स्थल, आकाश को परिपूर्ण रूप में देखा था। 'उर्ध्वपूर्णमधः पूर्णं' देखा था। उस दिन उसका सारा अन्धकार उद्घाटित हो चुका था। उन्होंने कहा, "वेदाहं"। मैंने जाना है, मैंने पाया है।

वह दिन था भारतवर्ष के उत्सव का दिन, क्योंकि उस दिन ही भारतवर्ष ने अपने अमृत यज्ञ में, सारी मानव-जाति को, अमृतपुत्र कहकर आह्वान किया था। उसमें घृणा नहीं थी, अहंकार नहीं था। वह

परमात्मा से योग करके सबमें ही प्रवेश कर गए। स दिन उनकी आमन्त्रण-ध्वनि जगत् में किसी के लिए संकुचित नहीं हुई, उनका ब्रह्म-मन्त्र विश्व-संगीत के साथ एक तान में मिलकर नित्यकाल में प्रतिध्वनित हो गया था। वह था उनके उत्सव का दिन।

फिर विधाता को ही मालूम है, कहाँ से पाप प्रवेश कर गया। विश्व के लोकों का द्वार चारों ओर से बन्द होने लगा, निर्वापित हुए (बुझे हुए) प्रदीप के समान भारतवर्ष अपने में आप ही अवरुद्ध हो गया। प्रबल स्रोतस्विनी जब मरु-प्रदेश में आती है, तब जिस प्रकार, देखते-देखते, पद-पद पर, बालुका के ढेर पैदा होकर उस समुद्र-यामिनी धारा की गति रोध कर देते हैं और बहुत से छोटे-छोटे जलाशयों में विभक्त कर देते हैं। जो धारा दूर-दूरान्तर प्रदेशों की प्राणदायिनी थी, जो देश-देशान्तर को सम्पद् वहन करके चलती थी, जो अश्रान्त धारा की कल-ध्वनि जगत्-संगीत के तानपूरे के समान पर्वत-शिखर से यहाँ समुद्र-पर्यन्त निरन्तर बजती रहती थी, उसी विश्वकल्याण-प्रदायिनी धारा को केवल खण्ड-रूप में एक-एक क्षुद्र ग्राम की सामग्री समझकर, वह खण्डता अपने पूर्वकालीन ऐक्य को विस्मृत करके अब विश्व-नृत्य में सहयोग नहीं देती विश्व-गीत-सभा में अब कोई उसका स्थान नहीं है, उसी प्रकार निखिल मानवता के साथ भारतवर्ष के सम्बन्ध की पुण्य-धारा सहस्र साम्प्रदायिक बालुका के ढेरों में विभक्त होकर गतिहीन हो गई है। हाय! अब वह विश्व-वाणी कहाँ गई? कहाँ है वह विश्व-प्राण का तरंगदोला (उत्पत्ति-स्थान)? रुद्ध जल से जिस प्रकार केवल भयभीत-से होते हैं, वह अल्पमात्र अशुचिता से कलुषित हो जाता है, और इसीलिए वह जिस प्रकार पान तथा स्नान के निषेध द्वारा अपने चारों ओर एक आड़ खड़ी कर देता है, उसी प्रकार आज बद्ध भारतवर्ष ने केवल कलुष की आशंका से बाहर के बृहत् संस्रव को, सर्वतोभावेन दूर रखने के लिए निषेध की प्राचीर खड़ी करके, सूर्य-लोक एवं वायुमण्डल-पर्यन्त तिरस्कृत कर दिए हैं। केवल विभाग और केवल

बाधा। विश्व की जनता गुरु से जो दीक्षा ले तो वह दीक्षा-मन्त्र ही कहाँ है, वह दीक्षा का अवारित मन्दिर भी कहाँ है? वह आह्वान वाणी कहाँ है जो एक दिन चारों ओर यह कहती हुई ध्वनित होती थी—

"यथाप: प्रवतायन्ति यथामासा अहर्जरम्
एवं मां ब्रह्मचारिणो धात आयन्त सर्वत: स्वाहा।"

जल जिस प्रकार स्वभावत: निम्न देश की ओर गमन करता है, सभी मास जिस प्रकार स्वभावत: सम्वत्सर की ओर ही दौड़ते रहते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मचारीगण मेरे निकट आएँ। स्वाहा।

किन्तु उस स्वभाव का पथ तो आज रुद्ध है। धर्म-ज्ञान और समाज उसका सिंहद्वार बन्द करके बैठे हैं, केवल अन्त:पुर में यातायात के लिए खिड़की के रास्ते में व्यवहार-मात्र चल रहा है।

सत्य व सम्पद् के दारिद्रय बिना ऐसी दुर्गति कभी भी नहीं होती। जो कह सके हैं "वेदाहं," मैंने जाना है, उन्हें प्रकट होना ही पड़ेगा, उन्हें घोषित ही करना होगा, "श्रण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा:"

इस प्रकार के दैन्य के निविड़ अन्धकार के बीच समस्त द्वार और खिड़की बन्द करके जब सो रहा था, उस समय एक प्रात:कालीन पक्षी के कण्ठ से हमारे रुद्ध घर में विश्व के नित्य संगीत का सुर आ पहुँचा। जिसके साथ लोक-लोकान्तर व युग-युगान्तर ने अपना स्वर मिलाया, जिसके स्वर में पृथ्वी की धूलि के संग, सूर्य तथा तारागण आत्मीयता के आनन्द में झंकृत हो उठे, वही सुर एक दिन सुनाई पड़ा। फिर जैसे किसी ने कहा, "वेदाहमेतं" मैंने उन्हें जाना है। किसे जाना है? 'आदित्यवर्णं' ज्योतिर्मय को जाना है, जिसे कोई छिपाकर नहीं रख सकता। ज्योतिर्मय क्यों? उन्हें तो हम अपनी गृह-सामग्री में देख नहीं पाते, नहीं, तुम अपने अन्धकार द्वारा उन्हें अपने घर में दबाकर नहीं रख पाते। उन्हें देख पाता हूँ, "तमस: परस्तात्" तुम्हारे समस्त रुद्ध अन्धकार के परपार भी। जिसे तुमने अपने सम्प्रदाय के बीच पकड़ रखा है, और पीछे से वहाँ कोई प्रवेश न कर जाय इसलिए द्वार

बन्द कर दिया, यह है अंधकार। निखिल मानव वहाँ से लौट-लौट जाते हैं, सूर्य व चन्द्र वहाँ दृष्टिपात नहीं कर पाते। वहाँ ज्ञान के स्थान में शास्त्र का वाक्य, भक्ति के स्थान में पूजा की पद्धति, कर्म के स्थान में अभ्यस्त आचार। उस द्वार पर एक भयंकर राक्षस 'ना' बैठा है, वह कहता रहता है,"नहीं-नहीं, यहाँ नहीं, दूर जाओ, दूर होओ।" वह कहता है, "कान बन्द करो, कहीं मन्त्र कान में न चला जाय, हटकर बैठो, कहीं छू न जाय, दरवाजा न खोलना कहीं तुम्हारी दृष्टि न पड़ जाय।" इतनी 'ना-ना' करके तुमने जिस अन्धकार को ढांपकर रखा है मैं उसी अन्धकार की बात नहीं करता। किन्तु, 'वेदाहमेतं'। मैंने तो उन्हें जाना है जो निखिल विश्व के हैं, और जिन्हें जान लेने पर किसी को छिपाकर रखना सम्भव नहीं है, किसी से घृणा करना सम्भव नहीं है। जिन्हें जान लेने पर, निम्न देश जिस प्रकार जल को स्वभावतः ही आह्वान करता है, सम्वत्सर जिस प्रकार सभी मासों को स्वभावतः आह्वान करते हैं, उसी प्रकार स्वभावतः सभी को अबाध आह्वान करने का अधिकार जिनसे जन्मता है, उन्हीं को जाना है।

घरवाले क्रुद्ध होकर भीतर से गर्जन करके बोलेंगे, "दूर करो, दूर करो, इसको एकदम दूर हटाओ। यह तो हमारे घर की सामग्री नहीं है, यह तो हमारे नियमों को भंग करेगा।"

नहीं, यह तुम्हारे घर के अनुकूल नहीं है, तुम्हारे नियमों से भी बाध्य नहीं है। किन्तु नहीं हटा सकोगे आकाश के आलोक को शरीर-भर का जोर लगाकर भी नहीं हटा सकोगे। उसका विरोध करते हुए भी उसे स्वीकार करना पड़ेगा। प्रभात हो गया।

प्रभात हो गया, हमारा उत्सव यह बात बता रहा है। हमारा यह उत्सव घरेलू उत्सव नहीं है, ब्राह्म समाज का उत्सव नहीं है। मानव-चित्त-गगन में जिस प्रभात का उदय हो रहा है यह उसी सुमहत् प्रभात का उत्सव है।

बहु युग पूर्व उस प्रभात उत्सव का यह पवित्र गम्भीर मन्त्र इस

भारत-भूमि के तपोवन में ध्वनित हुआ था, "एकमेवाद्वितीयम्"। अद्वितीय, और एक पृथ्वी के पूर्व दिगन्त में फिर किसी जाग्रत महापुरुष ने रात्रि के परपार से लाकर शुद्ध आकाश में उस मन्त्र का स्पन्दन संचार कर दिया, एकमेवाद्वितीयम्—अद्वितीय एक।

इस प्रभात के मन्त्र ने उदय-शिखर के ऊपर खड़े होकर जता दिया कि एक सूर्य का उदय हो रहा है, अब छोटे-मोटे असंख्य प्रदीप बुझा दो। यह मन्त्र किसी एक घर की सम्पत्ति नहीं है, यह प्रभात किसी एक देश का ही प्रभात नहीं है। हे पश्चिम, तुम भी सुनो, तुम जाग्रत होओ। 'श्रण्वन्तु विश्वे।' हे सकल विश्ववासियो, सुनो ! पूर्व गगन में एक वाणी प्रतिध्वनित हुई है। 'वेदाहमेतम्'। मैं जान सका हूँ। 'तमसः परस्तात्'। अन्धकार के परपार से मैं जान सका हूँ। जिस प्रकार निशावसनीय आकाश उदयोन्मुख आदित्य के आसन्न आविर्भाव को जान लेता है, उसी प्रकार 'वेदाहम् पुरुषं महान्तं आदित्य वर्णं तमसः परस्तात्।'

इस नूतन युग में, पृथिवी के मानव-चित्त में, जिस प्रभात का उदय हो रहा है, उसी नव प्रभात की वार्ता इस बंगला देश में आज अस्सी वर्ष हुए पहले-पहल आकर उपस्थित हुई। उस समय पृथ्वी पर देश-देश का विरोध धर्म-धर्म का संग्राम था, उस समय शास्त्र-वाक्य एवं बाह्य प्रथा के लौह-सिंहासन का सर्वोच्च अधिकार था। इस भेद-बुद्धि के प्राचीर से रुद्ध अन्धकार के बीच राजा राममोहन ने जब उस एक अद्वितीय की ज्योति जाग्रत की, तो उन्होंने देखा कि जिस भारतवर्ष में आज हिन्दू, मुसलमान तथा ईसाई धर्मानुयायी एकत्र व समागत हुए हैं, उसी भारतवर्ष में इन विचित्र अतिथियों को एक सभा में बिठाने के लिए बहुपूर्व युग में ही आयोजन हो चुका है। मानव-सभ्यता जब देश-विदेश में नवीन विकास की शाखा-प्रशाखा में व्याप्त हुई चली जाती थी, तब यह भारतवर्ष बारम्बार इस मन्त्र का जप करता था, एक-एक-एक। उन्होंने कहा, "इह चेत् अवेदीत् अथ सत्यमस्ति।" जब मनुष्य इस एक का ही परिचय पाता है तो सत्य होता है। "न चेत् इह अवेदीत् महतीविनष्टिः"। इस एक को नहीं

जानने से उसकी महती विनष्टि है। अभी तक संसार में जितना मिथ्यात्व का प्रादुर्भाव हुआ है वह सब केवल इस महान् एक की उपलब्धि के अभाव में। जितनी क्षुद्रता, निष्फलता, दौर्बल्य, वह सब इस एक की ही विच्युति से। जितने महापुरुषों का आविर्भाव होता है वह उस एक के प्रचार करने से। जितने महाविश्व के आगमन होते हैं वह भी इस एक के उद्धार के लिए।

जबकि घोरतर विभाग, विरोध व विक्षिप्तता के दुर्दिनों में कहीं से इस बंगाल देश में अप्रत्याशित, अमानवीय रूप में यह विश्वव्यापी एक का मन्त्र 'एकमेवाद्वितीयम्' द्विधाविहीन, सुस्पष्ट स्तर में उच्चारित हो पड़ा, तो यह बात निश्चय है कि समस्त मानव-चित्त में कहीं से एक निगूढ़ जागरण का वेग संचारित हुआ है, इस देश बंगाल में उसका प्रथम संवाद ध्वनित हो उठा।

हमारे देश में आज के दिन एक विराट् मानव का आगमन हुआ है। यहाँ हमारे पास राज्य नहीं, वाणिज्य नहीं, गौरव नहीं, पृथ्वी पर हम सबके सामने नतमस्तक हैं। हमारे इसी दरिद्र घर की अपमानित शून्यता के बीच एक विराट् मानव का अभ्युदय हुआ। वह आज हमसे कर ग्रहण करने आए हैं। सकल मानवता के सामने हम उसे नित्यकाल की डाली में सजाकर प्रस्तुत कर सकें ऐसा एक राजदुर्लभ अर्घ्य हमारे पास संग्रह हो गया है, नहीं तो हमें यह सौभाग्य प्राप्त न होता। हमारा यह उत्सर्ग (त्याग) किसी वटवृक्ष के नीचे नहीं, घर के दालान में नहीं, ग्राम के मण्डप में नहीं, यह तो है विश्व के प्रांगण में। यहाँ ही वह प्राप्त हो सकेगा, समझकर ही विश्व-मानव ने अपने दूत को भेज दिया था, वह हमें मन्त्र दे गए हैं, "एकमाद्वितीयम्" और कह गए हैं, इसे मन में रखो, सकल वैचित्र्य के बीच उस एक अद्वितीय को याद रखो। सकल विरोध के बीच उस अद्वितीय एक को पकड़े रखो।

उस मन्त्र के दर्शन के पश्चात् तो हमें निद्रा आती नहीं दिखाई देती। 'एक' ने हमें स्पर्श कर दिया, अब हम निश्चिन्त नहीं बैठ सकते। 'हम

अब घर छोड़कर, दल छोड़कर, ग्राम छोड़कर, विश्व-पथ के 'पथिक हो जायँगे' सोचकर चंचल हो उठे हैं।

इस पथ का पाथेय भी है यह पहले मालूम न था, किन्तु अब देखता हूँ कि इसका कोई अभाव नहीं है। घर में और बाहर, जो अनैक्य द्वारा नितान्त विच्छिन्न हैं, उन्हें ही समस्त मानव-जाति में 'एक' का प्रचार करने की आज्ञा प्राप्त हुई है। एक ही जगह सब सम्बल (भण्डार) है, इसीलिए ही ऐसी आज्ञा दी गई।

तत्पश्चात् आना-जाना लगा ही हुआ है, एक के बाद एक दूत आता जाता है। इस देश में एक ऐसी वाणी (ईश्वर-प्रेरित सम्वाद) आई है जो पूर्व तथा पश्चिम को एक दिव्य धाम की ओर आह्वान करेगी, जो एक के आलोक में अमृत के पुत्रों को अमृत का परिचय कराकर मिला देगी। राममोहन राय के आगमन के पश्चात् हमारे देश की चिन्ता, वाक्य तथा कर्म, पूर्णतया न जानते हुए भी, एक चिरन्तन के अभिमुख होकर प्रगतिशील हैं कि हम एक, किसी एक स्थान पर नित्य की प्राप्ति एवं प्रकाश पायेंगे, ऐसा एक गम्भीर आवेग हमारे अन्तराल में ज्वार के प्रथम धक्के के समान स्फीत हो उठा है। हम अनुभव करते हैं जिससे कि समाज के साथ समाज, विज्ञान के साथ विज्ञान, धर्म के साथ धर्म, एक परम तीर्थ में, एक सागर के संगम में स्नान कर सके, उसका ही रहस्य हम आविष्कार करेंगे। यह कार्य भीतर-भीतर आरम्भ भी हो गया मालूम होता है, हमारा देश जो पृथ्वी का एक प्राचीन गुरुकुल था उसके द्वार जैसे अभी खुल जायँगे हमें ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि कुछ काल पूर्व जहाँ एकदम निःशब्द वातावरण था वहाँ अब कण्ठ-स्वर सुनाई पड़ रहा है। और अब दिखाई पड़ रहा है कि वातायन (मुख्य द्वार) पर कोई-कोई मनुष्य कभी-कभी आकर खड़ा हो जाता है, उनकी आकृति देखकर पहचान मिलता है कि वे किसी मुक्त देश के वासी हैं, वे निखिल मानव के आत्मीय हैं। पृथ्वी-तल पर समय-समय पर जितने भी महा-पुरुष भिन्न-भिन्न देशों में अवतीर्ण हुए हैं, जैसे याज्ञवल्क्य, विश्वामित्र,

बुद्ध, खीष्ट, मुहम्मद आदि, सबको ही उन्होंने ब्रह्म की संज्ञा दी है, वे मृत वाक्य और मृत आचार के गोरस्थान (कबरस्तान) में प्राचीर (दीवार) बनाकर निवास नहीं करते, उनका वाक्य प्रतिध्वनित नहीं है, कार्य में किसी का अनुकरण नहीं है, गति में अनुवृत्ति नहीं है, वह मानव-आत्मा के माहात्म्य संगीत को अभी विश्व के देश-देशान्तरों के राजपथों में ध्वनित कर देंगे। इस महासंगीत के पालुपद को हमारे गुरु बता गए हैं, "एकमेवाद्वितीयम्"। 'गान की सकल विचित्र तान इसी पालुपद पर लानी पड़ेगी, "एकमेवाद्वितीयम्"।

हमको अब छिपकर रहने की जगह नहीं है। अब तो हमें मैदान में ही आना होगा, ब्रह्म के आलोक में सबके सामने। विश्व के विधाता से परिचय-पत्र लेकर समुदय (अखिल) मनुष्य-जाति के पास आकर खड़ा होना पड़ेगा। वह परिचय-पत्र देकर उन्होंने अपने दूत को हमारे पास भेज दिया है। हमारा परिचय क्या है ? हमारा परिचय यह है कि हम वह हैं जो नहीं कहते कि ईश्वर एक विशेष स्थान पर विशेष स्वर्ग में प्रतिष्ठित है। हम वह हैं जो कहते हैं, "एकोवशी सर्वभूतान्तरात्मा।" वह प्रभु ही सब भूतों की अन्तरात्मा है। हम वह हैं जो नहीं कहते कि किसी बाह्य प्रक्रिया द्वारा ईश्वर जाना जाता है अथवा किसी शास्त्र-विशेष में ईश्वर का ज्ञान लोगों के लिए आबद्ध है। हम कहते हैं, "हृदा मनीषा मनसाभिक् ज्ञप्तः।" हृदय-स्थित संशय-रहित बुद्धि द्वारा ही उन्हें जाना जा सकता है। हम वह हैं जो ईश्वर को किसी विशेष जाति द्वारा विशेष लभ्य नहीं मानते। हम कहते हैं वह—"अवर्णः—एवं वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति।" सब वर्णों का ही प्रयोजन विधान करते हैं, किसी भी वर्ण को वञ्चित नहीं करते। हम वह हैं जिन्होंने इस वाणी (सन्देश) की घोषणा का भार लिया है। एक ! एक ! अद्वितीय एक ! तो हम किसी स्थानीय धर्म एवं सामयिक लोकाचार में किस प्रकार बँधे रह सकते हैं। हम तो उस 'एक' के आलोक में सबसे सम्मिलित होकर प्रकाश पायेंगे। हमारा उत्सव उसी

प्रकार का उत्सव है, उसी विश्वलोक में प्रकाश का उत्सव है, यह याद रखना है। इस उत्सव में उस प्रभात की प्रथम रश्मि का पात हुआ है जो प्रभात महादिन के अभ्युदय की सूचना देता है।

वह महादिन आ गया और ठीक से अभी आया भी नहीं। अनागत महाभविष्य में उसकी मूर्ति देख पा रहा हूँ। उसमें जो सत्य विराजमान है वह ऐसा तो सत्य है नहीं, जिसे हम एकदम उठाकर अपने सम्प्रदाय के लोहे के सन्दूक में दस्तावेजों के साथ ताला लगाकर बन्द करके बैठें और कहें यह, हमारे ब्रह्म-समाज का है, ब्रह्म-सम्प्रदाय का है, नहीं। हमने पूर्ण प्राप्ति नहीं की, हम किस लिए इस उत्सव को प्रतिवर्ष मनाते आ रहे हैं, इसका पूर्ण आशय अभी समझ नहीं सके। हमने स्थिर किया था, आज के दिन कभी ब्रह्म-समाज की स्थापना हुई थी, हम ब्राह्म लोग इसीलिए उत्सव करते हैं। बात इतनी क्षुद्र नहीं है। "एषदेवोविश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः"। वह महान् आत्मा, वह विश्व-कर्मा देवता जो सर्वदा जनों के हृदय में सन्निविष्ट हैं, वह भी आज वर्तमान युग के जगत् में धर्म-समन्वय, जाति-समन्वय का आह्वान इस अख्यात बंगला देश के द्वार में होकर प्रेरणा कर रहे हैं। इसीलिए कहते हैं, हम धन्य हैं, धन्य हैं और धन्य हैं। इस विचित्र इतिहास के आनन्द को हम माघोत्सव में जाग्रत करते हैं। इस महत्सत्य में हमें आज उद्बोधित होना पड़ेगा, विधाता की इस महती कृपा का गम्भीर दायित्व आज हमें ग्रहण करना पड़ेगा। बुद्धि को प्रशस्त करो, हृदय को प्रसारित करो, अपने को दरिद्र मत समझो, दुर्बल मत मानो। तपस्या में प्रवृत्त हो जाओ, दुःख को वरण करो, क्षुद्र समाज में आराम तथा भोग-प्राप्ति के लिए ज्ञान को मृतप्राय एवं कर्म को यन्त्रवत् मत कर डालो। सत्य को सबसे ऊर्ध्व स्वीकार करो एवं ब्रह्म के आनन्द में जीवन परिपूर्ण करके अभय प्रतिष्ठा का लाभ करो।

हे जनगण हृदयासन सन्निविष्ट विश्वकर्मा, आप हम लोगों द्वारा अपने किस महत् कर्म की रचना करा रहे हैं? हे महान् आत्मा, यह अब

भी हम सम्पूर्णतया समझ न सके। आपकी भगवद्‌शक्ति हमारी बुद्धि को कहाँ स्पर्श करती है, आपकी सृष्टि-लीला हमें कहाँ चला रही है, यह सब अभी तक हमें स्पष्टतया ज्ञात नहीं हुआ। जगत् में हमारा गौरवान्वित भाग्य किस दिगन्तराल में हमारी प्रतीक्षा कर रहा है, वह भी अभी समझ में नहीं आता, इसीलिए हमारी चेष्टा क्षण-क्षण में विक्षिप्त हो जाती है, हमारी दैन्य बुद्धि का अन्धकार दूर नहीं होता, सत्य उज्ज्वल होकर प्रकाशमान नहीं होता, हमारे लिए दुःख और त्याग का महत्त्व भी अभी सामने नहीं आया। सभी तो अभी तक क्षुद्र दिखाई पड़ रहा है; स्वार्थ, आराम, अभ्यास एवं लोकभय से बड़ा कुछ भी आँखों के सामने दिखाई नहीं देता। मुझे यह कहने का बल नहीं मिल रहा है कि समस्त संसार भी यदि मेरे विरुद्ध हो तो मेरे पक्ष में आप हैं, क्योंकि आपका संकल्प मेरे द्वारा सिद्ध होता है, मेरे बीच आपकी जय होगी। हे परमात्मन्, इस आत्म-विश्वास के आशाहीन अन्धकार में से, इस जीवन-यात्रा में नास्तिकता के निदारुण कर्तव्य से, हमारा उद्धार कीजिए, उद्धार कीजिए, हमें सचेतन कीजिए। आपके जिस अभिप्राय को हम वहन करते हैं उसके महत्त्व की उपलब्धि कराइए, आपके आदेश से हम जगत् में नवयुग का सिंहद्वार उद्‌घाटन करने के लिए यात्रा जो कर रहे हैं, उस पथ के लक्ष्य को कहीं हम साम्प्रदायिक मूढ़तावश पथमध्ये विस्मृत (रास्ते में भूलकर) होकर ही न बैठे रह जायँ। इस जगत् में आपके विचित्र आनन्दरूप में, एक अपरूप अरूप को मैं नमस्कार करता हूँ, नाना देश, नाना काल में, आपके नाना विधान के बीच एक शाश्वत विधान को मैं नतमस्तक होकर स्वीकार करता हूँ। भय दूर हो, अश्रद्धा दूर हो, अहंकार दूर हो। आपसे विच्छिन्न कुछ भी नहीं है, समस्त ही आपकी एक अमोघ शक्ति द्वारा विधृत है एवं एक मंगल संकल्प के विश्वव्यापी आकर्षण द्वारा चालित है, यह तथ्य निस्संशय जानते हुए, सर्वत्र भक्ति को प्रसारित करते हुए नतमस्तक और करबद्ध होकर आपके उस निगूढ़ संकल्प के दर्शन की चेष्टा करता रहूँ। आपका

वह संकल्प किसी देश से बद्ध नहीं है, किसी काल में खण्डित नहीं है, पण्डित उसको घर बैठे रचना भी नहीं कर सकते, राजा उसे किसी कृत्रिम नियम में जकड़ भी नहीं सकते। यह तथ्य निश्चित जानकर एवं उस महासंकल्प के साथ अपना समुदय संकल्प स्वेच्छापूर्वक सम्मिलित करके आपकी राजधानी के राजपथ पर यात्रा करने निकले हैं, आशा के आलोक से हमारा आकाश प्लावित हो जाय, हृदय बोलता रहे, "आनन्दं परमानन्दं" एवं हमारा यह देश आपकी वेदी के ऊपर एक बार फिर खड़ा होकर मानव-समाज के समस्त भेद-विभेद से ऊपर उठकर यह वाणी प्रचार कर दे—

"श्रण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा
आ ये दिव्य धामानि तस्थुः
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
ओं एकमेवाद्वितीयम्।"

भावुकता और पवित्रता

हमारे हृदय में भाव-रस के प्रति एक लोभ रहता है। हम काव्य से, शिल्प-कला से, गल्प-गान के अभिनय से, नाना प्रकार व उपाय करके भाव-रस सम्भोग करने के लिए अनेक आयोजन करते रहते हैं।

अनेक बार हम उपासना को भी उसी प्रकार भाव की तृप्ति के स्वरूप में अवलम्बन करने की इच्छा करते हैं। कुछ क्षण के लिए एक विशेष रस भोग करके हम सोचते हैं कि हमें कुछ लाभ हो गया। क्रमशः इस भोग का अभ्यास एक नशा बन जाता है। मनुष्य अन्यान्य रस लाभ करने के लिए जिस प्रकार नाना आयोजन करता है, नाना पुरुषों की नियुक्ति करता है, नाना पुण्य द्रव्य विस्तृत करता है, इस रस के अभ्यस्त नशे के लिए भी उसी प्रकार नाना आयोजन करता है। जो भली प्रकार बोल सकते हैं, उस प्रकार के लोगों को संग्रह करके, रसो-

ट्रेक करने के लिए नियमित वक्तृता आदि की व्यवस्था की जाती है। भगवत् रस नियमित रूप से मिलता रहे इसलिए अनेक दुकान खुल पड़ती हैं।

इस प्रकार भाव की प्राप्ति को ही प्राप्ति समझकर भूल करना मनुष्य की दुर्बलता का एक लक्षण है। संसार में नाना प्रकार से हमें उसका परिचय मिलता है। ऐसे मनुष्य मिलते हैं जो सहज में ही गद्‌गद हो उठते हैं, सहज में ही गले मिलकर भाई पुकार सकते हैं। जिनकी दया सहज में ही प्रकाशित होती है, अश्रु सहज में ही निस्सारित हो पड़ते हैं एवं उसी प्रकार भाव के अनुभव को व भाव के प्रकाश को वे फल-लाभ में गणना करते हैं। इसलिए बस वहीं तक ठहरकर, और आगे नहीं बढ़ते।

इस भाव के रस को मैं निरर्थक नहीं समझता। किन्तु यदि इसको लक्ष्य समझने की भूल करूँ तो यह चीज केवल निरर्थक ही नहीं, अनिष्टकर भी हो सकती है। मनुष्य सहज ही इस भाव को लक्ष्य मानने की भूल कर बैठता है क्योंकि इसमें एक नशा है।

ईश्वर की आराधना और उपासना के बीच प्राप्ति के दो पन्थ हैं। वृक्ष दो प्रकार से खाद्य संग्रह करता है। प्रथम अपने पल्लवों द्वारा वायु तथा प्रकाश से अपने लिए पुष्टि ग्रहण करता है, और दूसरे अपनी जड़ों द्वारा अपना खाद्य आकर्षण कर लेता है।

कभी वृष्टि होती है, कभी धूप पड़ती है, कभी शीतकर वायु चलती है, कभी वसन्त की हवा बहती है। पल्लव चञ्चल होकर उन्हीं से जो प्राप्त करना है प्राप्त करते हैं। तत्पश्चात् सूखकर झड़ जाते हैं, फिर नई पत्तियाँ निकलती हैं।

किन्तु जड़ों में चंचलता नहीं। वे तो नियत व स्तब्ध होकर, दृढ़ होकर, गम्भीरता में अपने को विकीर्ण करके, अपना नियत खाद्य अपनी एकान्त चेष्टा द्वारा ग्रहण करते रहते हैं।

हमारी भी पल्लव व जड़ की भाँति दो दिशाएँ हैं। हमें अपना

आध्यात्मिक खाद्य इन्हीं दोनों दिशाओं से लेना होगा ।

जड़ों की ओर वाली प्राप्ति ही प्रधान है। यह दिशा चरित्र की दिशा है, भाव की नहीं। उपासना में चरित्र द्वारा जो हम ग्रहण करते हैं, वही हमारा प्रधान खाद्य है। वहाँ चाञ्चल्य नहीं, वहाँ वैचित्र्य का अन्वेषण नहीं। वहाँ हम शान्त होते हैं, शुद्ध होते हैं और ईश्वर में प्रतिष्ठित होते हैं। उस स्थान का कार्य बड़ा अलक्ष्य और बड़ा गम्भीर है। वह भीतर-भीतर प्राण व शक्ति का संचार करता है, किन्तु भावाभिव्यक्ति द्वारा अपने को व्यक्त नहीं करता। वह धारण करता है, पोषण करता है एवं गुप्त रहता है।

इसी चरित्र को, जो शक्ति द्वारा प्राणों का विस्तार करता है, निष्ठा कहते हैं। वह अश्रुपूर्ण भाव का आवेग नहीं, वह है निष्ठा, वह मुड़ना नहीं जानता, जिसे ग्रहण कर लिया, कर लिया, केवल गम्भीर से गम्भीरतर में ले जाकर छोड़ता है। वह शुद्धाचारिणी, स्नात, पवित्र सेविका की भाँति, सबसे नीचे, हाथ जोड़कर, भगवान् के पैरों के पास स्थापित है और वहीं स्थित है।

हृदय का कितना परिवर्तन! आज जिससे तृप्ति, कल उसी से वितृष्णा। उसमें ज्वार-भाटा चलता है, कभी उसमें उल्लास तो कभी अवसाद। वृक्ष के पल्लव के समान उसका आज नूतन विकास हुआ है, अतीत जीर्ण हो गया। यह पल्लवित चञ्चल हृदय नवीन-नवीन भाव संस्पर्श के लिए व्याकुल होकर स्पन्दित है।

किन्तु मूल के साथ, चरित्र के साथ, यदि उसका अविचलित, अविच्छिन्न योग न रहे, तो ये सकल भाव-संस्पर्श उसके लिए आघात व विनाश का कारण हो जाते हैं। वृक्ष की जड़ काट देने पर सूर्य का ताप उसे सुखा डालता है, वृष्टि का जल उसे सड़ा डालता है।

हमारे चरित्र की निष्ठा यदि यथेष्ट परिमाण में स्वाद लेना बन्द कर दे, तो भाव के भोग से हमारी पुष्टि का साधन बन्द हो जाता है, केवल विकृति का जन्म होता रहता है। दुर्बल तथा क्षीण चित्त के लिए

भाव का खाद्य कुपथ्य हो उठता है।

चरित्र के मूल से प्रत्यह पवित्रता लाभ करने से ही भावुकता भी हमें सहायता पहुँचा सकती है। भाव-रस को ढूँढ़ते फिरने की आवश्यकता नहीं है। संसार में भाव का विचित्र प्रवाह अपने-आप ही नाना दिशाओं से आकर पड़ रहा है। साधना की सामग्री तो पवित्रता ही है। उसकी बाहर से कोई वृष्टि नहीं होती, उसे तो अपने अन्तर से ही आकर्षण करना पड़ता है। यह पवित्रता ही हमारी मूल की वस्तु है और भावुकता पल्लव वाली।

प्रतिदिन अपनी उपासना में हमें सुगम्भीर तथा निस्तब्ध-भाव में उसी पवित्रता को ग्रहण करने के लक्ष्य से, अपनी चेतना को उद्बोधित करते रहना चाहिए। इससे अधिक कुछ नहीं, हम प्रतिदिन प्रभात में उस 'शुद्धं अपापविद्धं' के सम्मुख खड़े होकर उनका आशीर्वाद ग्रहण करेंगे। उनके सामने नतमस्तक होकर प्रणाम करके कहेंगे, आपकी चरण-धूलि लेकर मेरा ललाट निर्मल हो गया। आज मैंने समस्त दिन की जीवन-यात्रा का पाथेय सञ्चित कर लिया। प्रातःकाल आपके सम्मुख जो खड़ा हुआ हूँ, आपको जो प्रणाम करता हूँ, आपकी पद-धूलि मस्तक पर लगाकर समस्त दिन के कर्मों में, निर्मल तथा सतेज भाव में उसका परिचय देता रहूँगा।

अन्तर-बाहर

हम मनुष्यों ने मनुष्यों के बीच ही जन्म लिया है। मनुष्यों के साथ नाना प्रकार से मिलने के लिए, उनके साथ नाना प्रकार के आवश्यकीय व आनन्दमय आदान-प्रदान करने के लिए हमारी अनेक प्रवृत्तियाँ होती हैं।

हम जब तक इस लोकालय में निवास करते हैं, तब तक मनुष्य के संसर्ग में उत्तेजित होकर उन समस्त प्रवृत्तियों को नाना दिशाओं में, नाना प्रकार से प्रयोग करते रहते हैं। कितना मिलने-जुलने में, कितना निमन्त्रण-आमन्त्रण में, कितना खेल-तमाशे में हम व्याप्त रहते हैं

जिसकी कि कोई सीमा नहीं !

मनुष्य के प्रति मनुष्य के स्वाभाविक प्रेमवशात् ही हमारा चाञ्चल्य तथा उद्यम प्रकाशित नहीं होता। समाज एवं प्रेम का एक ही लोक नहीं है। बहुत बार उनमें विपरीतता मिलती है। अनेक बार देखने को मिलता है कि सामाजिक व्यक्ति के मन में गम्भीर प्रेम अथवा दया को स्थान नहीं है। समाज हमें व्यापृत (काम में लगाये) रखता है, नाना प्रकार के सामाजिक आलाप, सामाजिक कार्य, सामाजिक आमोद की रचना करके हमारे मन के उद्यम को आकर्षित कर लेता है। इस मन को किस काम में लगाकर किस प्रकार शान्त करें, इसकी फिर चिन्ता जाती रहती है। लोक और लौकिकता की विचित्र कृत्रिम लहर में वह स्वतः प्रवाहित हो जाता है।

जो व्यक्ति अमितव्ययी है वह संसार का दुःख दूर करने के लिए दान करके अपने को निर्धन बनाता है यह बात नहीं है, किन्तु वह व्यय करने की प्रवृत्ति को संवरण नहीं कर पाता। नाना प्रकार से खर्च करके उसका उद्यम मुक्त होकर खेलने में आनन्द पाता है।

समाज में हमारी सामाजिकता बहुलांश में इसी भाव से अपनी शक्ति खर्च करती रहती है, वह समाज के व्यक्तियों के प्रति विशेष प्रीतिवश होकर नहीं, किन्तु अपने को खर्च कर डालने की एक प्रवृत्ति के वश होकर।

चर्चा द्वारा यह प्रवृत्ति किस प्रकार अपरिचित रूप में बढ़ जाती है यह यूरोप के समाज-विलासी जीवन को देखने से समझा जा सकता है; सुबह से शाम तक उन्हें विश्राम नहीं मिलता—उत्तेजना पर उत्तेजना का आयोजन होता रहता है, कहीं शिकार, कहीं नाच, कहीं खेल, कहीं भोज, कहीं घुड़दौड़, इन्हीं सबमें उन्मत्त। उनका जीवन कोई लक्ष्य स्थिर करके वहन नहीं हो रहा है, केवल दिन के पीछे दिन और रात्रि के पीछे रात्रि, इसी उन्माद रूपी राशि-चक्र में घूम रहे हैं।

हमारी जीवनी शक्ति में इतना अधिक वेग नहीं है यह सोचकर हम

इतनी दूर तक नहीं पहुँचते; किन्तु हम भी समस्त दिन, अपेक्षाकृत मृदुभाव से, समाज के बाँधे हुए पथ पर, केवलमात्र, मन की शक्ति खर्च करने के लिए उसे खर्च करते रहते हैं। मन को मुक्ति दिलाने का और शक्ति को व्यय करने का हमें और कोई उपाय नहीं मालूम।

दान और व्यय में बड़ा भेद है। हम मनुष्य के निमित्त जो दान करते हैं वह एक ओर खर्च है तो दूसरी ओर मंगल से पूर्ण, किन्तु जो हम मनुष्य की स्वार्थ-पूर्ति के लिए व्यय करते हैं वह केवलमात्र खर्च है। उनमें प्रतीत होता है कि हमारा गम्भीरतर चित्त केवल दीनता को प्राप्त होता रहता है, प्रचुरता को नहीं। उसकी शक्ति का ह्रास होता है, उसमें क्लान्ति आती है, अवसाद आता है। अपनी रिक्तता तथा व्यर्थता की धिक्कार को भूलने के लिए केवल नूतन कृत्रिमता की रचना करते रहना पड़ता है। स्थगित होते ही उसके प्राण निकल जाते हैं।

इसलिए जो साधक हैं, उनके लिए परमार्थ-लाभ के लिए अपनी शक्ति का रक्षण आवश्यक है, वे कई बार पहाड़-पर्वत, निर्जन में लोकालय से कहीं दूर चले जाते हैं। शक्ति के निरन्तर अजस्र अपव्यय को वे बचाना चाहते हैं।

किन्तु, बाहर की इस निर्जनता को, पर्वत-गुहा को कहाँ ढूँढ़ते फिरें उसकी सुविधा तो हमेशा नहीं होती, एवं मनुष्य को सदा के लिए त्याग करना भी मनुष्य-धर्म नहीं है।

यह निर्जनता, पर्वत-गुहा, समुद्र-तीर हमारे साथ-साथ ही रहते हैं, हमारे अन्तर में ही निवास करते हैं। यदि न रहते तो निर्जनता में, पर्वत-गुहा में, समुद्र-तीर पर उसे पाते नहीं।

इस अन्तर के निभृत आश्रम के साथ हमें परिचय-साधन करना पड़ेगा। हम बाहर की वस्तु को ही अत्यन्त महान् समझते हैं, अन्तर से हमारा यातायात प्रायः है ही नहीं, इसीलिए हमारे जीवन का गौरव नष्ट हो गया। अर्थात् हम अपनी समस्त शक्ति को बाहर ही प्रतिदिन

निःशेष करते हुए भिखारी बने जा रहे हैं। बाह्य संस्रव परिहार करना ही उसका प्रतिकार नहीं है, क्योंकि मनुष्य को छोड़कर मनुष्य का चला जाना रोग से चिकित्सा को गुरुतर मानना है। इसका यथार्थ प्रतिकार है भीतरी ओर भी अपनी प्रतिष्ठा प्राप्त करके अन्तर तथा बाह्य में अपना सामञ्जस्य स्थापन करना। ऐसा करने से ही जीवन सहज में, उन्मत्त अपव्यय से अपनी रक्षा कर सकेगा।

नहीं तो एक दल धर्मलुब्ध लोगों का देखने में आता है, वे अपनी वार्ता, हास्य, उद्यम को ही केवल मान-दण्ड मानकर हिसाबी कृपण की भाँति अपने को हीन करते हैं। वे अपने बजट को जहाँ तक भी कम करना सम्भव हो, वहाँ तक कम करके निजी मनुष्यता को केवल शुष्क, कृश, आनन्दहीन करने को ही सिद्धि का लक्षण मानते हैं।

किन्तु इससे तो बनेगा नहीं। जो कुछ भी हो, मनुष्य को सम्पूर्ण तथा सहज बनना होगा, उद्दाम भाव से बेहिसाबी होने से काम नहीं बनता, और कृपण भाव में हिसाबी होने से भी नहीं बनता।

एकमात्र मध्यम पथ प्राप्त करने का उपाय है, बाहर के लोकालय में रहते हुए ही, अन्तर के निभृत निकेतन में अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा करना। हमारे लिए केवल बाहर की दिशा ही नहीं है—अन्तर में भी हमारा एक मूल आश्रय है जो बारम्बार अपने सकल आलापों में, अपने-अपने कार्यों में अनुभव करना होगा। इस निभृत अन्तःस्थित पथ को इतना सरल बनना पड़ेगा, कि जब कभी घोरतर काम-काज की कोलाहल में भी चाहें तो, तुरन्त वहाँ घूम आना कुछ कठिन न हो।

हमारा वह अन्तःस्थ महल हमारे जनतापूर्ण, कलरव-मुखर कार्यक्षेत्र के बीच भी सदा एक अवकाश धारण किये रहता है, वेष्टन किये रहता है, यह अवकाश केवल शून्यता नहीं है। वह तो स्नेह, प्रेम, कल्याण, आनन्द से परिपूर्ण है। वही है यह अवकाश, जिसके द्वारा उपनिषद् जगत् के समस्त जो-कुछ को आच्छन्न किये हुए देखने के लिए कहता है। "ईशावास्यमिदं सर्वम् यत्किंच जगत्यां जगत्।" समस्त कार्यों को वेष्टन

करके, समस्त मानव को वेष्टन करके, सर्वत्र वह परिपूर्ण अवकाश स्थित हैं; वह ही परस्पर का योग-साधन कराते हैं एवं परस्पर का संघात भी निवारण कराते हैं। उन्हीं का निभृत चित्त में, निर्जन अवकाश के रूप में, निरन्तर प्राप्त करने का अभ्यास करो, शान्ति में, मंगल में, प्रेम में, निविड़ भाव से परिपूर्ण अवकाश के रूप में, उन्हें सर्वदा ही हृदय के अन्तर में स्थित जानो। जब तुम हँसते हो, काम करते हो, तब भी वहाँ जाने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए। बाहर की ओर का ही एकदम आश्रय लेकर अपने समस्त सब-कुछ को निःशेष करके उंडेल न देना। अन्तर में उस प्रगाढ़, अमृतमय अवकाश की उपलब्धि करते रहने से फिर यह संसार संकटमय नहीं लगेगा, विषयों का विष फिर जमा होने नहीं पाएगा, वायु दूषित नहीं होगी, आलोक मलिन नहीं होगा, ताप से समस्त मन तप्त होने नहीं पाएगा।

"चिन्तन करो उनका जो अन्तर में हैं विराजमान, अन्य कथा छोड़।
उनकी साधना बिना, कैसे संसार के संकट को दें हम तोड़॥"

तीर्थ

आज फिर कहता हूँ, "भावो तारे अन्तरे जे विराजे"—चिन्तन कर उनका जो हृदय में हैं विराजमान; इसे प्रतिदिन ही कहने की आवश्यकता है। हमारे अन्तराल में जो चिर आश्रय हैं, यह बात कहने का प्रयोजन क्या कभी समाप्त होगा?

बात पुरानी पड़कर म्लान भी हो गई। उसका मार्मिक अर्थ क्रमशः हमारे लिए जीर्ण हो चला है, अब हम उसे अनावश्यक कहकर परिहार करने लगे।

किन्तु प्रयोजन कहाँ दूर हुआ?

संसार में हम अपने बाहर से ही सुपरिचित हैं, इसलिए बाहर को ही हमारा मन अपना एकमात्र आश्रय समझता है। हमारे अन्तर में जो अनन्त जगत् साथ-साथ घूमता है, वह तो जैसे हमारे लिए है ही नहीं,

यदि उसके साथ हमारा सुस्पष्ट परिचय होता तो बाहर का एकाधिपत्य हमारे पक्ष में ऐसा उदग्र (उल्लासजनक) होकर सामने न आता, और बाहर की हल्की-सी क्षति भी हमारे मन को इतनी बड़ी न लगती, तथा बाह्य नियम को ही चरम नियम मानकर उसके अनुगत होकर चलने को ही अपनी एकमात्र गति, स्थिर न कर लेते।

आज हमारा मापदण्ड, तुलादण्ड तथा कसौटी सब बाहर की ही है। लोग क्या कहेंगे, लोग क्या करेंगे, उसी के अनुसार हम अपने भले और बुरे का निर्णय किये बैठे हैं। इसीलिए लोगों की सम्मति हमारे मर्म को स्पर्श करती है, लोगों के कार्य हमें इतना विचलित करते हैं, लोकभय इतना चरम भय है, लोक-लज्जा इतनी एकान्त लज्जा है। इसीलिए लोग जब हमारा त्याग करते हैं तो हमें लगता है कि जगत् में हमारा अब कोई नहीं रहा।

तब हमें इस कथन पर भरोसा नहीं रहता कि

सबने छोड़ दिया, उसका नहिं कोई,
तुम ही उसके, तुम्हारा ही वह स्नेही।
जन-पथ आश्रयहीन जिसका घर,
वह भी है तब भवन के अन्दर॥

जिसे सबने परित्याग कर दिया, अपनी आत्मा में वह एक क्षण को भी परित्यक्त नहीं है, पथ ही जिसका घर है, उसके अन्तर के आश्रय को कोई महाशक्तिमान् अत्याचारी भी, एक मुहूर्त के लिए भी, नहीं छीन सकता, अन्तर्यामी के सामने जिस व्यक्ति ने अपराध नहीं किया, बाहर के लोग उसे जेल में बन्द करके या फाँसी देकर भी किसी प्रकार दण्ड नहीं दे सकते।

अराजक राज्य की प्रजा की तरह हम संसार में हैं, हमारी कोई रक्षा नहीं करता, हम बाहर पड़े हैं, हमारी नाना शक्ति नाना दिशाओं में फैल रही है, कितनी अकारण लूट-पाट हो रही है जिसका कोई ठिकाना नहीं! जिनके पास शाणित (तेज़ धार वाले) अस्त्र हैं वे हमें मर्मभेदी

चोट पहुँचाते हैं, जिनके पास शक्ति अधिक है वे हमें अपने पैरों तले रखते हैं। सुख-समृद्धि के लाभ से आत्म-रक्षा के कारण द्वार-द्वार नाना पुरुषों के शरणापन्न होते हुए घूमना पड़ता है। एक बार भी विचार नहीं आता कि अन्तरात्मा के अचल सिंहासन पर हमारे राजा विराजमान हैं।

यह खबर नहीं है इसीलिए तो समस्त विचारों का भार बाहर लोगों के ऊपर देकर निश्चिन्त बैठे हैं, और हम भी अन्य पुरुषों को बाहर का ही करके देखते हैं। किसी को सत्य भाव से क्षमा तथा नित्य भाव से प्रीति भी नहीं कर पाते, हमारी मंगल इच्छा केवल संकीर्ण और प्रतिहत होती रहती है।

जितने दिन सत्य को, मंगल को, प्रेम को सम्पूर्ण सहज भाव में न प्राप्त कर लें, तब तक प्रत्यह कहना ही होगा—"चिन्तन करो उनका जो हृदि हैं विराजमान।" अपनी अन्तरात्मा में उस सत्य की उपलब्धि किये बिना, अन्य में भी उस सत्य का दर्शन नहीं हो सकेगा एवं अन्य के साथ हमारा सत्य-सम्बन्ध भी स्थापित नहीं हो सकेगा। जब अनुभव करूँगा कि परमात्मा में मैं हूँ और मुझमें परमात्मा है, तभी अन्य को भी इसी दृष्टि से देख पाऊँगा कि परमात्मा उनमें हैं और वे परमात्मा में हैं। तभी उनके प्रति क्षमा प्रीति, सहिष्णुता हमारे लिए सहज हो उठेगी, तब संयम केवल बाहरी नियम-पालन-मात्र नहीं रह जायगा। जब तक इस गुण की उपलब्धि न हो, जब तक बाह्य ही हमारे लिए सब-कुछ है, जब तक बाह्य ही अन्य समस्त को नितान्त आड़ में करके खड़ा होकर मार्ग अवरोध करता रहेगा तब तक केवल यही कहते रहना है।

"अन्य कथा छोड़ अन्तर में जो विराजमान, करो उनकी चिन्तना।
संकट से संसार के त्राण नहिं कोई विध, बिना इसकी साधना।

क्योंकि संसार को ही सब-कुछ मान लेने से संसार संकटमय हो जाता है। तभी वह उसे आश्रयहीन और अनाथ पाकर उसका सर्वनाश करके छोड़ता है।

आओ, प्रतिदिन आओ, अन्तर में आओ, सब कोलाहल निरस्त

हो जायँ, कोई आघात न लगे, कोई मलिनता स्पर्श न करे। वहाँ हम क्रोध का पालन न करें, क्षोभ को प्रश्रय न दें, वासनाओं को वायु के झकोरों से प्रज्ज्वलित करके न रखें, क्योंकि वहाँ ही तुम्हारा अपना तीर्थ है, अपना देव-मन्दिर है। यदि वहाँ भी हमें थोड़ा-सा एकान्त न मिले तो जगत् में कहीं भी एकान्त नहीं मिलेगा, यदि वहाँ भी कलुष को पोषण प्राप्त हो जाय तो जगत् में तुम्हारे लिए समस्त पुण्य-स्थानों का फाटक बन्द हो जाता है। आओ, उसी अक्षुब्ध, निर्मल अन्तराल में आओ, उस अनन्त सिन्धु-तीर पर आओ, उस अति उच्च के गिरि-शिखर पर आओ। वहाँ कर जोड़कर खड़े होओ। वहाँ नतमस्तक होकर नमस्कार करो। उस सिन्धु की उदार जल-राशि से, उस गिरिश्रृङ्ग की नित्य प्रवहमान निर्झरधारा के पुण्यसलिल को, प्रतिदिन उपासना के उपरान्त वहन करके अपने बाह्य संसार के ऊपर छोड़ दो, इस प्रकार सब पाप दूर होंगे, सब दाह दूर होंगे।

विभाग

भीतर बाहर का एक सुनिर्दिष्ट विभाग रखने से हमारा जीवन सुविहित, सुश्रृङ्खल तथा सुसम्पूर्ण रहता है, किन्तु यह अभी हमारे अन्तर में घटा नहीं।

ठीक-ठीक विभाग न होने से ठीक-ठीक ऐक्य भी नहीं हो पाता। पिण्डाकार में जब तक अपरिणति (अविकास) रहे, जब तक उसके कलेवर का वैचित्र्य विभक्त न हो, तब तक उसमें ऐक्य की मूर्ति परिस्फुटित नहीं हो पाती।

इसमें एक बड़ा-सा, विभाग के लिए स्थान है। वह है अन्तर और बाहर वाला। जब तक यह विभाग अच्छी तरह सुस्पष्ट नहीं होता, तब तक अन्तर और बाहर का ऐक्य भी परिपूर्ण सुन्दर अभिप्राय की प्राप्ति नहीं कर सकता।

इस समय हमारा हाल यह है कि हमारे पास एकमात्र महल है।

स्वार्थ को, परमार्थ को, नित्य-अनित्य सबको, उसी एक जगह रखने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं। इसीलिए एक-दूसरे पर आघात करते रहते हैं, बाधक होते रहते हैं, एक की क्षति दूसरे की क्षति बन जाती है।

जो वस्तु बाहर की है वह बाहर ही रखनी पड़ेगी, उसे अन्तर में ले जाने से वह वहाँ का जंजाल बन जाती है। जहाँ जिसका स्थान न हो, वहाँ वह केवल अनावश्यक ही नहीं, अनिष्टकर भी हो जाती है।

अतएव, हमारे जीवन की प्रधान साधना ही यह है कि बाहर की वस्तु बाहर ही रहे, भीतर जाकर वह विकार की सृष्टि न कर पाए।

संसार में हमको पद-पद पर क्षति मिलती रहती है, जो आज है वह कल नहीं रहेगा। उस क्षति को हम बाह्य संसार का ही करके क्यों नहीं रखते ? उसे हम भीतर ले जाकर क्यों रखते हैं ?

वृक्ष का पत्ता आज नवीन कोंपल रूप में उद्गत होता है, कल ही जीर्ण होकर गिर जाता है। किन्तु गिरता है वह बाहर ही। वृक्ष अपनी बाहर वाली क्षति का अपने अन्तर में तो पोषण नहीं करता, बाहर की क्षति बाहर रहती है और अन्तर की पुष्टि अव्याहत भाव से चलती रहती है।

किन्तु हम इस भेद की रक्षा नहीं करते। हम लोग बाहर के समस्त जमा, खर्च को भीतर के खाते में ऐसा पक्की तरह लिखकर सुनहरी कलेवर में बँधी बहुमूल्य बही को नष्ट करते हैं। अपने बाह्य विकार को भीतरी पाप की कल्पना के रूप में चिन्तित करते हैं, बाहर के आघात को भीतरी वेदना में जमा करके रखते हैं।

हमारे भीतरी महल में एक स्थायित्व धर्म रहता है। वहाँ जमा करने के लिए स्थान है। इसलिए यहाँ जब तक वह उपयुक्त वस्तु न हो, जो-कुछ भी मिले उसे उठाकर डाल देना ठीक नहीं। असावधानी से, फिर यहाँ विकार स्थायी भाव से उत्पन्न हो जाता है। मृत देह कोई अन्तःपुर के भण्डार में उठाकर नहीं रखता, उसे तो बाहर ही मिट्टी, जल अथवा अग्नि के समर्पण कर देना होता है।

मनुष्य के ये दो कक्ष हैं—स्थायित्व का और अस्थायित्व का, अन्तर का और संसार का।

अन्य जीवों में भी वह अस्फुट भाव में है, इतने गम्भीर भाव में नहीं। किन्तु इसीलिए अन्य जन्तु एक विपत्ति से बच गए। वह जो स्थायी नहीं है उसे स्थायी करने की चेष्टा नहीं करते, कारण यह है कि स्थायी बना देने का उपाय उन्हें ज्ञात नहीं है।

वास्तव में मनुष्य भी अस्थायी को एकदम चिरस्थायित्व दान करके नहीं रख सकता, किन्तु अन्तर के बीच ले जाकर उस पर स्थायित्व का माल-मसाला प्रयोग कर उसे जितने दिन भी हो सकता है टिकाकर रखने में त्रुटि नहीं करता। उसकी अन्तर-प्रकृति क्योंकि स्थायित्व का निकेतन है इसीलिए उसे यह सुविधा प्राप्त है।

उसका फल यह हुआ कि जन्तु-वर्ग में जो सकल प्रवृत्ति प्रयोजन के अनुगत होकर अपने स्वाभाविक कर्म का समाधान करके एकदम निरस्त हो जाती है, मनुष्य उसको अपने अन्तराल में लेकर, कल्पना के रस में डुबोकर, उसे सञ्चित करके रखता है। प्रयोजन-साधन के उपरान्त उसे मरने नहीं देता, इसलिए बाहर किसी स्थान पर जिसका एक यथार्थ है, अन्तर में वह पाप-रूप में प्राण-रक्षा का उपाय है, उसे ही यदि भीतर की ओर खींचकर सञ्चित करे तो वही तृप्तिहीन औदरिकता की नित्यमूर्ति धारण करके स्वास्थ्य को नष्ट कर देगी।

इसीलिए देखने में आता है कि हमारे भीतर जैसे यह नित्य निकेतन पुण्य-निकेतन है, उसी तरह पाप को भी अन्तर में स्थान मिल जाता है। जो अनित्य है, विशेष सामयिक प्रयोजन में, विशेष स्थान में जिसका प्रयोग होकर जो शान्त हो जाता है, उसे ही अपने आन्तरिक नित्य निकेतन में बाँधकर रखना एवं प्रत्यह उसके लिए अनावश्यक खाद्य उपार्जन करने के लिए मारे-मारे फिरना ही पाप है।

पुराण में बताया है, अमृत देवताओं का ही भाग था, दैत्यों का खाद्य नहीं। जिस दैत्य ने चोरी करके उस अमृत का पान किया उसी

का माथा राहु और धड़ केतु के आकार में, वृथा ही जीवित रहकर निदारुण अमंगल रूप में समस्त जगत् को दु:ख दे रहे हैं। हमारा जो अन्तर भण्डार, देवभोग्य अमृत के पात्र की रक्षा करने का आगार है, यदि वहाँ दैत्य को गुप्त प्रवेश करने का अधिकार दें तो वह चोरी करके अमृत पान कर लेने से अमृतत्व प्राप्त कर लेता है। तत्पश्चात् उस विकट अमंगल रूप के लिए भोज्य पदार्थ जुटाने के लिए हमारा स्वास्थ्य, सुख-सम्बल, संगति सब नि:शेष हो जाती है। हमारे पास अमृत का भण्डार है इसलिए इतनी दुर्गति है।

वास्तव में इस अमृत के नित्य निकेतन में दैत्य का कोई अधिकार नहीं है, किन्तु बाहर, कर्म के क्षेत्र में उसका यथेष्ट प्रयोजन है। वह दुर्गम पथ में भार वहन कर सकता है, वह पर्वत विदीर्ण करके भी रास्ता बना सकता है। उसे दास का वेतन देने से वह प्रभु का कार्य सम्पन्न करके कृतार्थ होता है। किन्तु, अमृत तो दास का वेतन नहीं है, वह तो देवता के पूजा की भोग सामग्री है। उसका अपात्र में उत्सर्ग कर देना ही पाप है। जिसे यथोचित काल में बाहर ही मरते देना ठीक है उसे भीतर ले जाकर जीवित रखना ही अपने हाथ से पाप की सृष्टि करना है।

इसीलिए मैंने कहा था, जो बाहर की वस्तु है उसे बाहर रखने की साधना ही जीवन यात्रा की साधना है।

द्रष्टा

अपने अन्तर को बाह्य आक्रमण से बचाओ। दोनों को मिलाकर एक करके मत देखो। समस्त को केवल संसार के अन्तर्गत ही मत जानो। ऐसा करने से संसार के संकट से उद्धार पाने का कोई रास्ता नहीं मिलेगा।

रह-रहकर घोरतर संघात के बीच अपने अन्तराल को निर्लिप्त होना अनुभव करो। इसी प्रकार बारम्बार उपलब्धि करनी होगी। खूब कोलाहल होते हुए भी एक बार चकित के समान देखना पड़ेगा कि उस

अन्तराल में कोई कोलाहल पहुँचता ही नहीं। वहाँ तो सदा शान्त, शुद्ध तथा निर्मल है। नहीं, किसी प्रकार भी वहाँ बाहरी चांचल्य का प्रवेश नहीं हो सकेगा। वह जो आनी-जानी लोक-लौकिकतापूर्ण हंसी-खेल की महाजनता है, इसके बीच विद्युद्वेग से एक बार अन्तर के अन्तर की सैर कर आओ—देख आओ कि वह निवात, निष्कम्प प्रदीप प्रज्ज्वलित है, अनुत्तरंग समुद्र अपनी अतल स्पर्श गम्भीरता लिये हुए स्थित है, शोक का क्रन्दन वहाँ पहुँचता नहीं, क्रोध का गर्जन वहाँ शान्त रहता है।

इस विश्व में ऐसा कुछ नहीं, कोई कण नहीं, जिसमें परमात्मा ओत-प्रोत होकर व्याप्त न हो। किन्तु फिर भी वह द्रष्टा ही हैं, किसी के अधिकृत नहीं हैं। यह जगत् उनका अवश्य है, इसमें वह सर्वत्र व्याप्त भी हैं, किन्तु तब भी वह इससे अतीत ही हैं।

अपनी अन्तरात्मा को भी उसी प्रकार जानो। संसार भी उसका, शरीर भी, बुद्धि भी और हृदय भी। इस संसार में, शरीर में, बुद्धि में, हृदय में वह परिव्याप्त होकर रहता है, किन्तु फिर भी हमारा अन्तरात्मा इस संसार, शरीर, बुद्धि तथा हृदय के अतीत ही है। द्रष्टा है। संसार में जो 'मैं' जन्म प्राप्त करके, विशेष नाम धारण करके नाना सुख-दुःख भोग करते हैं, वे इसके बहिरंश को साक्षी रूप में ही देखते हैं। जब हम आत्मविद् हो पाते हैं, इस अन्तरात्मा को जब सम्पूर्णतया प्राप्त करते हैं तब हम अपने नित्य स्वरूप को निश्चय रूप में जानकर समस्त सुख-दुःख के बीच रहकर भी सुख-दुःख से अतीत हो जाते हैं। अपने जीवन को, संसार को केवल द्रष्टा रूप से देखते हैं।

इस प्रकार से जब समस्त कर्म से, संसार से, समस्त क्षोभ से विविक्त करके, आत्मा के विशुद्ध स्वरूप को जानें, तब पता लगेगा कि वह कोई शून्य वस्तु नहीं है; तब अपने अन्तराल में उस निर्मल निस्तब्ध परम व्योम को, उस चिदाकाश को देख पायेंगे जहाँ "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म निहितं गुहायाम्।" अपने में ही उस अद्भुत ज्योतिर्मय परम कोष को जान सकते हैं जहाँ वह अतिशुभ्र ज्योतियों की ज्योति "ज्योतिषां

यद्ज्योति" विराजमान हैं। इसीलिए उपनिषद् बारम्बार कहते हैं, अन्तरात्मा को जानो, तभी अमृत को जान सकोगे, तभी परम को जान सकोगे। तभी समस्त में रहते हुए, सकल में प्रवेश करके भी, कुछ परित्याग न करके भी मुक्ति-लाभ करोगे। 'नान्यः पन्था विद्यते अयनाय।"

नित्य धाम

उपनिषद् में कहा है, "आनन्दं ब्रह्मणोविद्वान् न विभेति कदाचन।" जिन्हें ब्रह्म के आनन्द का अनुभव हो गया है उन्हें कभी भी भय नहीं लगता। उस ब्रह्म के आनन्द को हम कहाँ पाते हैं? उसे कहाँ जानते हैं?—अन्तरात्मा के बीच।

आत्मा को एक बार अन्तर निकेतन में, उसके नित्य निकेतन में, देखो; जहाँ आत्मा बाह्य हर्ष-शोक के अतीत, संसार के समस्त चांचल्य से अतीत, उस निभृत अन्तरतम गुहा के भीतर प्रवेश करके देखो; तो देख पाओगे कि आत्मा में परमात्मा का आनन्द निस-दिन आविर्भूत होता रहता है, एक क्षण भी उसमें विराम नहीं। परमात्मा इसी जीवात्मा में आनन्दित रहता है। जहाँ पर इस प्रेम का निरन्तर मिलन है वहीं प्रवेश करो, उसी ओर देखो, ऐसा करने पर ही ब्रह्म का आनन्द क्या है उसका अपने अन्तर में अनुभव कर सकोगे, एवं वह अनुभव होते ही तुम्हें किसी से फिर कोई डर नहीं रहेगा।

भय का स्थान है कहाँ? जहाँ आधि-व्याधि, जरा-मृत्यु, विच्छेद-मिलन, जहाँ आवागमन, जहाँ सुख-दुःख। यदि आत्मा को केवल इस बाह्य संसार में देखते रहो—यदि केवल उसे इस कार्य से अन्य कार्य में, इस विषय से विषयान्तर में देखते रहो, उसे विचित्र के साथ, चंचल के साथ, एकदम जड़ित तथा मिश्रित करके उसे एक करके मानो तो उसे अत्यन्त दीन-मलीन समझोगे। फिर मृत्यु से वेष्टित देखकर केवल शोक करते रहोगे, जो सत्य नहीं, स्थायी नहीं, उसी को आत्मा से जोड़कर, सत्य और स्थायी समझकर भ्रम में पड़ जाओगे, तब फिर अन्त में जब

वह समस्त सांसारिक नियम में फँस जायगा तब समझोगे कि आत्मा का ही क्षय हो रहा है, विनाश हो रहा है। इसी प्रकार बारम्बार शोक और नैराश्य से दग्ध होते रहोगे। संसार, तुम्हारी अपनी इच्छा से बड़ा पद देने के कारण, तुम्हारा अपना नियुक्त किया हुआ है। होने के जोर में, तुम्हारे आत्मा को पद-पद पर अभिभूत और परास्त कर देगा। किन्तु आत्मा को अन्तरधाम में, नित्य में, ब्रह्म में देखो तो हर्ष-शोक का समस्त जोर जाता रहेगा। फिर क्षति, निद्रा, पीड़ा, मृत्यु किसी का भी कुछ भय नहीं। जयी, आत्म-जयी है। आत्मा क्षणिक संसार का दासानुदास नहीं, आत्मा अनन्त में, अमरता में, प्रतिष्ठित है। आत्मा में ब्रह्म का आनन्द आविर्भूत होता है। इसीलिए जिन्होंने आत्मा का सत्य रूप देखा है वे ब्रह्म के आनन्द का अनुभव करते हैं, और जो ब्रह्म का आनन्द अनुभव करते हैं वे "न विभेति कदाचन।"

"परमे ब्रह्मणि योजित चित्तः नन्दति-नन्दति नन्दत्यैव।" परब्रह्म में जिन्होंने मुक्त होकर देखा है वे नन्दित होते हैं और नन्दित ही रहते हैं। किन्तु संसार से युक्त होने का ही जिन्हें अनुभव है वे "शोचति शोचति शोचत्यैव।"

परिणय

हम चारों ओर देखते हैं, सृष्टि-व्यापार चल रहा है, जो व्याप्त है वह संहत होता है, जो संहत है वही व्याप्त होता है। आघात का प्रतिघात, रूप का रूपान्तर होता ही रहता है। एक क्षण भी विराम नहीं। सकल वस्तु परिणति के पथ पर है, किन्तु फिर भी किसी वस्तु की परिसमाप्ति दिखाई नहीं देती। हमारा शरीर, मन तथा बुद्धि भी इसी चक्र में है, क्रम से अनुगत उनका संयोग-वियोग, ह्रास-वृद्धि तथा अवस्थान्तर होता ही रहता है।

प्रकृति के सूर्य-तारागण लक्षों और कोटियों चक्र-रथ में लगे धावित हो रहे हैं। कभी भी इनका अन्तिम गम्य स्थान दिखाई नहीं पड़ता, कहीं

भी इनमें स्थिरता आने वाली नहीं। हम भी क्या इसी रथ पर बैठकर लक्ष्यहीन अनन्त पथ पर जा रहे हैं ? विचार तो होता है कि कभी एक जगह आकर टिकेंगे, किन्तु किसी काल में कहीं भी पहुँच नहीं पा रहे हैं। हमारा अस्तित्व भी क्या इसी प्रकार अविश्रान्त चाल में है, क्या इसी प्रकार का अनन्त विधान है ? इसमें क्या कहीं किसी प्रकार प्राप्ति का अथवा किसी प्रकार की स्थिति का तत्व ही नहीं ?

यदि यह सत्य है कि देश-काल के बाहर हमारी कोई गति ही नहीं, तो जो देश और काल से अतीत हैं, जो अभिव्यंजमान (अभिव्यक्त) नहीं हैं, जो अपने-आपमें ही परिसमाप्त हैं, वे हमारे लिए जैसे बिलकुल हैं ही नहीं। उस पूर्णता का स्थिति-धर्म यदि हमारे बीच पूर्ण रूप में न रहे, तो अनन्त स्वरूप परब्रह्म के प्रति हम जो-कुछ भी विशेषण प्रयोग करें वे केवल बहुत सी कथा-मात्र ही हैं, हमारे लिए उनका कोई अर्थ ही नहीं।

यदि ऐसा ही है तो हमें ब्रह्म की बात एकदम त्याग करनी चाहिए। जिन्हें किसी काल में भी प्राप्त नहीं कर सकेंगे, उन्हें अनन्त काल तक ढूँढ़ने के समान भी कोई विडम्बना है ? इसलिए यह कहना ही पड़ेगा कि संसार को ही पाना है, संसार ही हमारा है, ब्रह्म हमारा कुछ नहीं।

किन्तु संसार भी तो प्राप्त नहीं होता, संसार केवल माया-मृग की तरह हमें पीछे-पीछे दौड़ा रहा है, अन्त पकड़ में आता ही नहीं। केवल परेशान करता है, पीछा नहीं छोड़ता, पीछा छोड़ता है तो बिलकुल बरखास्त करके। ऐसा कोई हमारे साथ सम्बन्ध स्वीकार नहीं करता जो चरम हो या अन्तिम हो। शिकरम गाड़ी के गाड़ीवान का जो सम्बन्ध घोड़े से है वही सम्बन्ध हमारा उससे है, अर्थात् वह हमको केवल चलाता ही रहता है, खाना भी देता है तो चलाने के कारण, कभी-कभी जो विश्राम देता है, वह भी चलाने के लिए, चाबुक, लगाम आदि सभी चलाने के उपकरण हैं। जब नहीं चला पायेंगे तो खाने को भी नहीं देगा, अस्तबल में भी नहीं रखेगा, भगा देगा, अर्थात् इस

चलाने का फल घोड़े को नहीं मिलता। घोड़े को ठीक-ठीक पता भी नहीं कि यह फल मिलता भी किसे है। घोड़ा तो यही जानता है कि उसे चलना अवश्य है। वह मूढ़ के समान केवल प्रश्न करता रहता है, "कोई किसी तरह यदि कुछ पाता ही नहीं, और कहीं पहुँचेगा भी नहीं, तो भी दिन-रात चलता ही क्यों रहता हूँ ? पेट में अग्निमय क्षुधा का चाबुक पड़ता है, हृदय में, मन में, कितने ही सैकड़ों ज्वालामय क्षुधा के चाबुक पड़ते हैं, वे कहीं स्थिर रहने ही नहीं देते। इसका अर्थ क्या ?"

जो कुछ भी हो, बात यह है कि संसार को तो कभी प्राप्त नहीं कर पाते, कहीं चलकर ठिकाना नहीं मिलता। तो क्या ब्रह्म भी संसार के ही समान हैं? वह भी क्या कभी प्राप्त न हो सकेंगे ? वह भी क्या हमें अनन्त काल चलाते ही रहेंगे एवं उस प्राप्तिहीन संचालन को ही हम अनन्त उन्नति मानकर अपने मन को किसी प्रकार सान्त्वना देने की चेष्टा करते रहेंगे ?

यह बात नहीं है। ब्रह्म की ही प्राप्ति हो सकती है, और संसार की नहीं। कारण यह है कि संसार में प्राप्ति तत्त्व है ही नहीं, संसार का तत्त्व ही है संसृति। सुतरां उसे चरम भाव में प्राप्त करने की चेष्टा से केवल दुःख ही सामने आता है, किन्तु ब्रह्म को चरम भाव में प्राप्त करने से भी केवल चेष्टा ही सार वस्तु रह जायगी, ऐसा कहना व्यर्थ है। प्राप्ति का तत्त्व केवलमात्र ब्रह्म ही है, क्योंकि वही केवल सत्य है।

हमारी अन्तरात्मा में परमात्मा की प्राप्ति की पूर्णता आती है। हम जैसे-जैसे बुद्धि तथा हृदय द्वारा अनुभव करते हैं उतना ही इन्हें प्राप्त करते हैं। यह हो ही नहीं सकता, अर्थात् जो था ही नहीं उसकी हम रचना करते हैं, इस क्षुद्र हृदय तथा बुद्धि द्वारा अपना निजी सम्बन्ध उससे जोड़ते हैं। यह ठीक नहीं हो सकता। यह सम्बन्ध यदि हमने ही पैदा किया है तो उसके ऊपर आस्था रखने से काम नहीं चलेगा। वह हमें किस प्रकार आश्रय दे सकेगा। हमारे अन्तर में एक नित्यधाम है। वहाँ देश तथा काल का राजत्व नहीं है। वहाँ क्रम-सृष्टि

का भी अधिकार नहीं है। उस अन्तरात्मा के नित्य धाम में परमात्मा का पूर्ण आविर्भाव परिसमाप्त होकर स्थित है। इसीलिए उपनिषद् में कहा है—

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता।"

सबसे श्रेष्ठ व्योम, जो परम व्योम, जो चिदाकाश, अन्तराकाश है, उसी आत्मा में जो सत्य-ज्ञान अनन्त स्वरूप परब्रह्म को गम्भीर भाव में अवस्थित जानते हैं उनकी समस्त वासनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। 'ब्रह्म किसी अनिर्देश्य अनन्त में परिपूर्ण है' कहने के कुछ मानी नहीं होते। वह हमारे ही अन्तराकाश में, हमारे ही अन्तरात्मा में 'सत्यंज्ञानमन्तं' रूप में सुगम्भीर भाव में प्रतिष्ठित हैं, यह ठीक-ठीक जान लेने से हम फिर वृथा वासना के पीछे मारे-मारे नहीं फिरेंगे, परिपूर्णता की उपलब्धि करके ही हम स्थिर रह सकते हैं।

संसार हमारे बीच नहीं, किन्तु ब्रह्म हमारे अन्तर में है। इसीलिए संसार को अनेक चेष्टा करके भी हम नहीं पा सकते, ब्रह्म को तो प्राप्त किये हुए हम बैठे हैं।

परमात्मा ने हमारी आत्मा को वरण कर लिया है, उनके साथ इसका परिणय पूर्ण रूप से हो चुका है। उसमें अब कुछ कसर नहीं, क्योंकि उन्होंने अपनी इच्छा से वरण किया है। कब किस अनादि-काल में इस परिणय का मन्त्र पढ़ा गया होगा, और वचन भी दे दिया गया है—

"यदेतत् हृदय मम तदस्तु हृदयं तव"। यह जो मेरा हृदय है वह तेरा हो जाय, इसमें कोई क्रमाभिव्यक्ति का पौरोहित्य नहीं (धीरे-धीरे विकास की पुरोहिताई)। वह 'अस्य' (इसके) 'एषः' (यह) हो गए हैं। उसके 'यह' होकर स्थित हैं, नामकरण की अब सामर्थ्य नहीं। तभी तो ऋषिकवि कहते हैं—

एषास्य परमा गति, एषास्य परमा सम्पत्।
एषास्य परमो लोकः, एषोऽस्य परमानन्दः ।।

परिणय तो समाप्त ही हो गया, वहाँ अब कोई त्रुटि नहीं, अब तो केवल है अनन्त प्रेम की लीला। जिसकी प्राप्ति हो चुकी उसीको अनेक प्रकार से प्राप्त करते हैं। सुख में, दुःख में, विपद् में, सम्पद् में, लोक में, लोकान्तर में। जब वधू के मन में यह व्यापार ठीक से बैठ जाय तो फिर कोई चिन्ता ही नहीं व्यापती। जब संसार को अपने स्वामी का संसार मानती है, फिर और संसार उसे पीड़ित नहीं कर सकेगा, उसे फिर संसार में क्लान्ति नहीं, संसार से उसका प्रेम हो जाता है। तब वह जानती है कि जो 'सत्यंज्ञानमन्तं' होकर अन्तरात्मा को सदा के लिए ग्रहण किये हुए हैं, संसार में वही "आनन्दरूपममृतं विभाति" (आनन्द रूप से अमृत होकर शोभायमान है)—संसार में उन्हीं की प्रेम-लीला है। यहाँ नित्य और अनित्य का चिर-योग है, आनन्द और अमृत का योग है। यहाँ ही हमारे उस वर को, उस चिरप्राप्त को, उस एकमात्र प्राप्त को, विचित्र विच्छेद तथा मिलन में होकर, प्राप्ति-अप्राप्ति के अनेक व्यवधान परस्पर रार में होकर, नाना प्रकार से पाते हैं, जिन्हें पाया है उन्हें खो-खोकर पाते हैं, उन्हें अनेक रसों में पाते हैं। जिसने वधू की मूढ़ता दूर की है, यह रहस्य जिसने जाना है, यह रस जिसने अनुभव किया है वह "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कदाचन" जिसने नहीं जाना, जिसने वर को घूँघट उठाकर देखा नहीं, वर के संसार को ही केवल देखा है, उसके लिए रानी का पद होते हुए भी दासी वृत्ति है, भय से जान निकलती है, दुःख से कातर होती है, और मलिन वेष धारण करती है।

"दौर्भिक्षात् याति दौर्भिक्ष्यं क्लेशात् क्लेशं भयात् भयं।"

७....

तीन मंजिल

हमें अपनी तीन अवस्थाएँ दिखाई देती हैं। तीन बड़े-बड़े स्तरों पर मानव-जीवन अवलम्बित है—एक प्राकृतिक, दूसरा नैतिक, तीसरा आध्यात्मिक।

प्रथम अवस्था में प्रकृति ही हमारी लिए सब-कुछ है। उस अवस्था में हम बाहर के ही होकर रहते हैं। इसमें प्रकृति ही हमारे उपलब्धि का क्षेत्र बना रहता है। तब बाहर की ओर ही हमारी समस्त प्रवृत्ति, समस्त चिन्ता, समस्त प्रयास। और तो क्या, हमारे मन में जो संकल्प भी उत्पन्न होते हैं उन्हें बाहर स्थापित किये बिना नहीं रहते, हमारे मन के विचार हमारी कल्पना से बाह्य रूप ग्रहण करते रहते हैं। हम सत्य तो उसे ही कहते हैं जिसे देख सकें और छू सकें। इसीलिए अपने देवता को भी किसी बाह्य पदार्थ में बद्ध करके अथवा उन्हें कोई बाह्य रूप दान करके हम उन्हें प्राकृतिक विषयों में ही शामिल कर लेते हैं। इस बाहर के देवता को हम बाह्य प्रक्रिया द्वारा शान्त करने की चेष्टा करते हैं, उनके सम्मुख बलि देते हैं, खाद्य देते हैं, उन्हें कपड़ा पहनाते हैं। तो इसीलिए देवता का अनुशासन भी बाह्य अनुशासन होता है। किसी नदी में स्नान करने से पुण्य, क्या आहार करने से पाप, किस ओर सिर करके सोना चाहिए, कौनसा मन्त्र किस प्रकार के नियम में, कौनसी तिथि में, कौनसे दण्ड में उच्चारण करना आवश्यक है, फिर यह समस्त ही धर्म का अनुष्ठान कहलाता है।

इस प्रकार दृष्टि, घ्राण, स्पर्शादि द्वारा, मन द्वारा, कल्पना द्वारा, भय द्वारा, भक्ति द्वारा बाह्य को नाना प्रकार से ले-देकर

उस पर नाना रीति से आघात लगाकर और आघात खाकर हम बाह्य परिचय की सीमा पर पहुँच जाते हैं। उस समय फिर बाहर को ही पूर्व की भाँति एकमात्र आसरा मानकर नहीं बैठ जाते। फिर उसको ही अपनी एकमात्र जाति, एकमात्र आश्रय, एकमात्र सम्पद् कहकर नहीं मानते। उसने हमारी सम्पूर्ण आशा जाग्रत करके एक दिन हमारे समस्त मन को आकर्षित कर लिया था, और जब हमने उसकी सीमा देख ली तब उसके ऊपर हमें एकान्त अश्रद्धा उत्पन्न हो गई। तब प्रकृति को मायाविनी कहकर गाली देने लगे, संसार को एकदम सर्वतोभावेन अस्वीकार करने के लिए मन में विद्रोह हो उठा। तब कहने लगे, जिसमें केवल आधि-व्याधि और मृत्यु हो, केवल घानी के बल्द (बैल) की तरह प्रदक्षिणा हो, उसे हमने सत्य समझकर उसी को आत्म-समर्पण कर दिया था, हमारी इस मूढ़ता को धिक्कार है।

तब बाहर को एकदम निरस्त कर हमने अन्तर में बस जाने की चेष्टा की। जिस बाहर को एक दिन हमने राजा मान रखा था उसे कठोर युद्ध में परास्त करके भीतर को जयी कहकर प्रचार करने लगे। जिन प्रवृत्तियों ने इतने दिन बाहर की गुलामी करके हमें सर्वदा बाहर के तकाजे में घुमा-घुमाकर मार डाला, उन्हें आज जेल में बन्द करके, सूली पर चढ़ाकर, फाँसी देकर, बिलकुल निर्मूल करने की चेष्टा में प्रवृत्त हो गए। जिन समस्त कष्टों और अभावों का भय दिखाकर बाहर हमें दासत्व की शृङ्खला में बद्ध किये था, उन सारे कष्ट और अभावों को हमने बिलकुल तुच्छ समझ लिया। राजसूय-यज्ञ करके उत्तर-पश्चिम दक्षिण-पूर्व से बाहर के समस्त दुर्दण्ड प्रतापी राजाओं को हराकर जय-पताका अपनी अन्तर-राजधानी के उच्च प्रासाद की चोटी पर फहरा दी। वासनाओं के पैरों में बेड़ी डाल दी। सुख-दुःख पर कड़ा पहरा बिठा दिया। पूर्वतन (पुरातन) राजत्व को आद्योपान्त विपर्यस्त (उलट) कर छोड़ा।

इस प्रकार से बाहर के एकान्त प्रभुत्व को नष्ट करके जब अपने

अन्तर में प्रतिष्ठा प्राप्त की तब अन्तरतम गुहा के बीच यह क्या दिखाई पड़ा ? यह तो जय-गर्व नहीं है। यह तो केवल आत्म-शासन की अति विस्तारित सुव्यवस्था-मात्र नहीं है। बाह्य बन्धन के स्थान पर यह कोई अन्तर का नियम-बन्धन नहीं है। शान्त-दान्त-समाहित निर्मल चिदाकाश में एक ऐसी आनन्द-ज्योति का दर्शन किया, जो अन्तर और बाह्य उभय को ही उद्‌भासित करती है, अन्तर के निगूढ़ केन्द्र में से निखिल बिश्व के अभिमुख जिसकी मंगल-रश्मि विच्छूरित (फैल रही) हो रही है।

अब फिर भीतर-बाहर दोनों के समस्त द्वन्द्व विलीन हो गए, तब वहाँ फिर जय का अभिमान नहीं, आनन्द है, फिर संग्राम नहीं, लीला है, भेद नहीं, मिलन है, मैं ही अकेला नहीं, सब हैं, बाहर भी नहीं, भीतर भी नहीं, फिर ब्रह्म ही है केवल "तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योति" फिर आत्मा-परमात्मा के परम मिलन में अखिल विश्व सम्मिलित है। फिर हैं वहाँ स्वार्थविहीन करुणा, औद्धत्य-विहीन क्षमा, अहंकार-विहीन प्रेम, ज्ञान, भक्ति और प्रेम में विच्छेद-विहीन परिपूर्णता।

वासना इच्छा मंगल

हमारी कर्म-चेष्टा को सर्वप्रथम उद्‌बोधित करके प्रत्यक्ष करने का भार सबसे पहले बाहर के ऊपर ही न्यस्त रहता है। वह हमें नाना दिशाओं से, नाना प्रकार से सजग तथा चंचल करता रहता है।

वह हमें जाग्रत करेगा, अभिभूत नहीं करेगा (चक्कर में नहीं डालेगा) यह विषय था। जाग्रत, इसलिए कि हम अपने चैतन्यमय कर्तव्य का अनुभव करेंगे, दासत्व का बोझा ढोएँगे इसलिए नहीं।

राजपुत्र को मास्टर के हाथ में दे दिया है। मास्टर उसे सिखा-पढ़ाकर, उसकी मूढ़ता और जड़ता दूर करके उसे राजत्व के पूर्ण अधिकार के योग्य बना देगा, यह था उसके साथ समझौता। राजा किसी का दास नहीं होता, यही है उसकी शिक्षा का सार।

किन्तु मास्टर अनेक बार अपने शिष्य को अनेक प्रकार से इतना

अभिभूत कर देता है कि मास्टर के प्रति ही एकान्त निर्भरता होने के मुग्ध संस्कार में इतना जड़ हो जाता है कि वह बड़ा होकर नाम-मात्र ही सिंहासन पर बैठा होता है, वह मास्टर ही राजा पर राजत्व करता रहता है।

इसी प्रकार बाहर भी जब शिक्षा-दान से अधिक दूर ले जाकर पहुँचाता है, तो वह हमारे ऊपर चढ़ बैठने का साहस करता है, तब उसको एक-दम बरखास्त करके, उसका जाल काटकर मुक्ति, प्राप्त करने का पन्थ है श्रेय का पन्थ।

बाहर जिस शक्ति द्वारा हमारी चेष्टा को बाहर की ओर आकृष्ट करता है, उसे हम वासना कहते हैं। इसी वासना द्वारा हमारा बिचित्र बाहर, विषयों के अनुगत होता है। जब भी जो सामने आकर खड़ा हो जाय तब ही हमारे मन को लुभा लेता है। इस प्रकार हमारा मन नानात्व में विक्षिप्त हुआ घूमता रहता है। नाना वस्तुओं से प्रथम परिचय का यह सहज उपाय है।

यह वासना यदि मर्यादा में रहे, वासना यदि जीवन में सबसे प्रबल हो उठे, तो हमारा जीवन तामसिक अवस्था के त्याग में समर्थ नहीं होगा, हम अपने कर्तृत्व का अनुभव भी न कर सकेंगे, न उसे सप्रमाण कर सकेंगे। बाहर का ही कर्ता बना रहेगा, किसी प्रकार का ऐश्वर्य, लाभ हमें न हो सकेगा। उपस्थित अभाव, उपस्थित आकर्षण, हमें एक क्षुद्रता से दूसरी क्षुद्रता में घुमा-घुमा मारेंगे। ऐसी अवस्था में मनुष्य किसी स्थायी वस्तु की रचना करने में समर्थ नहीं होगा।

वासना कहाँ जाकर ठंडी होती है ?—इच्छा में। वासना का लक्ष्य जिस प्रकार बाहर के विषय में, इच्छा का लक्ष्य उसी प्रकार भीतरी अभिप्राय की पूर्ति में है। उद्देश्य आन्तरिक वस्तु है। इच्छा हमारी वासना को बाहर के पथ पर इधर-उधर मारे-मारे फिरने नहीं देती, समस्त चंचल वासना को वह एक किसी आन्तरिक उद्देश्य के चारों ओर बाँध देती है।

तब क्या होता है ? जो समस्त वासनाएँ अनेक प्रभुओं के आह्वान

पर बाहर मारी फिरती थीं, वे फिर एक ही प्रभु के शासन में भीतर स्थिर होकर बैठ जाती हैं। अनेक दिशाओं से एक दिशा में आ जाती हैं।

पैसा कमाना है, यदि यह उद्देश्य मन में रखें तो अपनी वासना को इधर-उधर घूमने देने से काम नहीं चलता। अनेक लोभ संवरण करने पड़ते हैं, अनेक आराम के आकर्षण विसर्जन करने पड़ते हैं, कोई बाह्य विषय, जो हमारी वासना को उस उद्देश्य के अनुगत्य से भुला न सके, उसके लिए सर्वदा सतर्क रहना पड़ता है। किन्तु यदि वासना हमारी इच्छा से प्रबल हो, वह यदि उद्देश्य की पूर्ति से सहमत नहीं, तो बाहर का कर्तृत्व बड़ा बनकर भीतर के कर्तृत्व को दबा देता है एवं उद्देश्य नष्ट हो जाता है। फिर मनुष्य का सृष्टि-कार्य नहीं चलता। वासना जब अपने भीतरी कुल का परित्याग करती है, तब वह समस्त विध्वंस पर उतारू हो जाती है।

जब इच्छा-शक्ति बलिष्ठ होती है, कर्तृत्व जब अन्तर में सुप्रतिष्ठित होता है, तो तामसिकता का आकर्षण फेंककर मनुष्य राजसिकता का उत्कर्ष प्राप्त करता है। वहाँ फिर मनुष्य की विद्या, ऐश्वर्य और प्रताप को क्रमशः विस्तार प्राप्त होता है।

किन्तु जैसे वासना के विषयों का बहिर्जगत् में वैचित्र्य है, उसी प्रकार अन्तर्जगत् में इच्छा के विषय भी कोई एक-आध तो नहीं हैं। कितने अभिप्राय मन में जाग्रत होते हैं, कोई ठिकाना है? विद्या का, धन का, ख्याति का, अभिप्राय सभी अपनी-अपनी प्रधानता दिखाना चाहते हैं। इस इच्छा की अराजक विक्षिप्तता वासना की विक्षिप्तता से कुछ कम तो नहीं है।

इसके अतिरिक्त एक वस्तु और दिखाई पड़ती है। जब वासना के अनुगामी होकर बाहर के सहस्रों राजाओं को अपना प्रभु बनाया था, उनसे जो वेतन मिलता उससे पेट तो भरता नहीं। इसीलिए मनुष्य ने बारम्बार आक्षेप करके कहा है, वासना की सेवा बड़ी दुःखकर है। इससे जो खाद्य प्राप्त होता है उससे क्षुधा केवल बढ़ती ही रहती है

और सहस्रों वस्तुओं के खिंचाव से घूमे-घूमे फिरने के कारण किसी एक जगह शान्ति से बैठने को नहीं मिलता।

और इच्छा के अनुगत होकर भी जब अभिप्राय के पीछे-पीछे घूमते फिरें, तो भी कई बार झूठा सिक्का वेतन में मिल जाता है। क्लान्ति मिलती है; अवसाद मिलता है और द्विधा प्राप्त होती है। केवल उत्तेजना की मदिरा का प्रयोजन रह जाता है, शान्ति का तो अभाव ही रहता है। वासना जिस प्रकार बाहर के धन्धों में घुमाती है, इच्छा उसी प्रकार भीतर के धन्धों में घुमाती रहती है और फिर अन्त को मजूरी देते समय धोखा देकर अलग हो जाती है।

इसीलिए वासनाओं को इच्छा के शासन में ऐक्यबद्ध करना जिस प्रकार मनुष्य की आन्तरिक कामना है, और वैसा नहीं कर सकने पर उसे जैसे कोई सफलता नहीं दिखाई देती, वैसे ही इच्छाओं को भी एक ही मालिक के अधीन करने का उसकी मूलगत प्रार्थना का विषय है। ऐसा नहीं होने से जीवन नहीं। बाहरी शत्रु को जय करने के लिए आन्तरिक सैन्य-दल का नायक न रहने से उस दुर्दान्त सैन्य-दल के हाथ मारे जाने की सम्भावना है। सैन्य-नायक राज्य-दस्यु विर्जित राज्य से अधिक अच्छा हो सकता है, किन्तु वह सुखपूर्ण नहीं है। तामसिकता में प्रवृत्ति प्रधान होती है। राजसिकता में शक्ति का प्राधान्य है। यहाँ है सैन्य का राजत्व।

किन्तु चाहिए तो राजा का राजत्व, इस सुराजकता का परम कल्याण हम कब उपभोग करते हैं?—विश्व-इच्छा के साथ जब अपनी समस्त इच्छा को संगत करते हों।

वह इच्छा ही जगत् की एकमात्र इच्छा है, मंगल इच्छा। वह केवल हमारी ही इच्छा नहीं है, वह निखिल विश्व की मूलगत तथा नित्य काल में रहने वाली इच्छा है। वह सब पर प्रभुत्व रखती है। उस एकमात्र प्रभु के विशाल राज्य में जब हम अपनी इच्छा के सैन्य-दल को खड़ा करें तभी वह ठीक जगह को प्राप्त करती है। तब फिर त्याग कोई क्षति

नहीं, क्षमा में कोई वीर्य-हानि नहीं, सेवा में कोई दासत्व नहीं। फिर विपत्तियाँ भी नहीं डरा सकतीं, शास्ति दण्ड देने में असमर्थ हो जाती है तथा मृत्यु अपनी विभीषिका परिहार कर देती है। एक दिन था जब सबने मिलकर मुझे दबा रखा था, फिर बाद को जब मैंने राजा को प्राप्त कर लिया तो फिर सब मेरे शासन में हो गए। जिस विश्व के भय से अपने अन्तर के दुर्ग में आत्म-रक्षा के लिए प्रवेश किया था, विश्व में निर्भय होकर बाहर आ गया, राजा के भृत्य को वहाँ सब लोग समादर करके ग्रहण करते हैं।

स्वाभाविकी क्रिया

जो एक इच्छा विश्व-जगत् के मूल में विराजमान है, उसी के सम्बन्ध में उपनिषद् कहते हैं, "स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च"। उसी एक की ज्ञानक्रिया एवं बल-क्रिया स्वाभाविकी है। वह सहज है, स्वाधीन है, उस पर कोई बाहरी ताड़ना नहीं है।

जब हमारी इच्छा भी उस मूल मंगल इच्छा के संगत होता है, तब उसकी समस्त क्रिया स्वाभाविकी हो जाती है, अर्थात् समस्त कार्य किसी प्रवृत्ति की प्रताड़ना से सम्पन्न नहीं होते। अहंकार की प्रेरणा से नहीं, लोक-समाज के अनुकरण से उसकी सृष्टि नहीं होती, लोक-ख्याति भी उसे किसी प्रकार संचार नहीं करती, निन्दा का उस पर कोई आघात नहीं हो सकता, उत्पीड़न से उसको बाधा नहीं पहुँचती, उपकरण के दैन्य से वह निरस्त नहीं होता।

मंगल इच्छा के साथ जिन्होंने अपनी इच्छा सम्मिलित की है, उन्होंने ही विश्व-जगत् की अमर शक्ति, स्वाभाविकी क्रिया-शक्ति को प्राप्त किया है। इतिहास में इसके अनेक प्रमाण हैं। बुद्धदेव जब कपिलवस्तु की सुख-समृद्धि परिहारकर विश्व के मंगल-प्रचार करने के लिए बाहर निकले थे, तब कहाँ था उनका राज-कोष और कहाँ था उनका राज-दल! तब बाह्य उपकरणों में वह अपने पैतृक राज्य के दीनतम, अक्षमतम प्रजा के

समान ही थे। किन्तु क्योंकि वह विश्व के मंगल की इच्छा के साथ अपनी इच्छा योजित कर चुके थे, इसीलिए उनकी इच्छा उस पराशक्ति की स्वाभाविकी क्रिया को प्राप्त कर गई। इसीलिए तो उनकी मृत्यु हुए कितनी शताब्दियाँ हो जाने पर भी उनकी मंगल-इच्छा की स्वाभाविकी क्रिया आज भी चल रही है। आज भी बुद्ध गया के निभृत मन्दिर में जाकर हम देखते हैं कि सुदूर जापान के समुद्र-तीर से आकर, संसार-ताप से तप्त होकर, अन्धकारपूर्ण अर्धरात्रि में बोधि द्रुम के सम्मुख बैठकर, उस विश्वकल्याणी इच्छा को आत्म-समर्पण करके हाथ जोड़कर कहता है, "बुद्धं शरणं गच्छामि।" आज भी उनका जीवन मनुष्य को जीवन दे रहा है, उनकी वाणी मनुष्य को अभय-दान दे रही है, उनकी उस अनेक सहस्र वर्ष पूर्व की इच्छा की क्रिया का आज भी क्षय नहीं हुआ।

ईसा कहाँ एक अख्यात ग्राम के प्रान्त में, कहीं एक पशुरक्षणशाला में पैदा हुए थे—किसी पण्डित के घर नहीं, किसी राजप्रासाद में नहीं, महान् ऐश्वर्यशाली राजधानी में नहीं, किसी महान् पुण्यक्षेत्र, तीर्थ-स्थान में नहीं। जो मछली पकड़कर जीविकोपार्जन करते थे ऐसे कुछ यहूदी युवक ही उनके शिष्य हुए थे। जिस दिन उन्हें राम-राज्य के प्रतिनिधि ने अनायास सूली से विद्ध करने का आदेश दिया, वह दिन जगत् के इतिहास में चिरदिन धन्य रहेगा, ऐसा कोई लक्षण उस दिन दिखाई नहीं पड़ा था। अनेक शत्रुओं ने समझा था, चलो समस्त टंटा मिटा, यह अति क्षुद्र स्फुलिंग एकदम दबाकर बुझा दिया गया। किन्तु किसी की साध्य है बुझाने की! भगवान् यीशु ने अपनी इच्छा अपने पिता की इच्छा में सम्मिलित कर दी थी। उस इच्छा की मृत्यु नहीं हो सकती, उसकी स्वाभाविकी क्रिया का क्षय नहीं है। अत्यन्त कृश एवं दीन भाव में जिन्होंने अपने को प्रकाश किया, वही आज दो सहस्र वर्ष से विश्व जय किये बैठे हैं।

अख्यात, अज्ञात दैन्य-दारिद्रय के बीच वह परम मंगल शक्ति अपनी स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया को प्रकाश देती है, इतिहास में बारम्बार

इसका प्रमाण मिला है। हे अविश्वासी, हे भीरु, हे दुर्बल, उस शक्ति का आश्रय लो, उस क्रिया को प्राप्त करो। अपने को शक्तिहीन कहकर बाहर की ओर भिक्षा-पात्र उठाकर वृथा के आक्षेप में काल का हरण मत करो। तुम्हारा जो सामान्य सम्बल है वही राजाओं के ऐश्वर्य को लज्जित करेगा।

पारश रतन (पारस)

नाम उनका पारस रतन।
पापी हृदय ताप किया जब हरण।
शान्ति रूप में प्रसाद भक्त हृदय में जगा।

इस पारस रतन को क्या हम अपनी प्रातःकाल की उपासना में प्राप्त कर पाते हैं? यदि उसका एक कण-मात्र भी प्राप्त करें तो उसे केवल मन में एक भाव-रस की उपलब्धि में आबद्ध करके न रख लें। उसका स्पर्श करना आवश्यक है, उसके स्पर्श से हमारा समस्त दिन फिर सुवर्ण बन जायगा।

दिन में क्षण-क्षण उस पारश रतन द्वारा अपने मुख से निकले वचन स्पर्श करने होंगे, अपने मन की चिन्ता भी स्पर्श करनी होगी, अपने संसार के कर्म को भी स्पर्श करना होगा।

ऐसा होने से जो क्षुद्र था उसमें एक क्षण में गौरव-संचार हो जायगा, जो मलिन था वह उज्ज्वल हो उठेगा, जिसका कोई दाम न था उसका मूल्य बढ़ जायगा।

अपनी प्रातःकाल की उपासना को उसका स्पर्श करायेंगे, समस्त दिन सबका उससे स्पर्श करायेंगे—उनके नाम से, उनके ध्यान से 'शान्तं शिवं अद्वैतम्' मन्त्र का स्पर्श करायेंगे। उपासना को केवल हृदय की सम्पत्ति न मान लेंगे, उसे चरित्र का सम्बल मानेंगे, उससे केवल स्निग्धता लाभ न करेंगे, प्रतिष्ठा भी प्राप्त करेंगे।

लोकोक्ति है कि प्रभात का मेघ व्यर्थ होता है, वह वृष्टि नहीं करता।

हमारी वह प्रभात की उपासना भी कहीं उसी प्रकार क्षण काल के लिए आविर्भूत होकर सुबह की हवा के साथ उड़ न जाय।

क्योंकि जब सूर्य प्रखर होता है तब ही स्निग्धता की आवश्यकता होती है, जब तृष्णा प्रबल हो तभी वर्षा से लाभ होता है। जब भीड़ बहुत जमा हो, जब कोलाहल बहुत हो रहा हो, तभी अपने को परेशान पाते हैं। अपने प्रभात में किये हुए संचय को उसी समय यदि किसी काम में न ला सकें, वह यदि देवत्र सम्पत्ति के समान मन्दिर की ही पूजा-अर्चना के कार्य में नियुक्त रहें, संसार के प्रयोजन में उसे लगाने की यदि सामर्थ्य न हो, तो कोई फायदा नहीं हुआ।

दिन में कभी-कभी एक समय आता है जब वह अत्यन्त नीरस लगता है, अत्यन्त भारी पड़ता है। जिस समय भूमा सबसे प्रच्छन्न रहते हैं, उस समय या तो हम बिलकुल दफ्तर के जीव हो जाते हैं, या आहार परिपाक की जड़ता में हमारी अन्तरात्मा की उज्ज्वलता अत्यन्त म्लान हो जाती है; उस शुष्कता तथा जड़ता के आवेश काल में तुच्छता के आक्रमण को हम प्रश्रय न दें, आत्मा की महिमा को किसी प्रकार उस समय भी प्रत्यक्ष करके रखना चाहिए, जिससे उस समय भी याद रहे कि हम 'भूर्भुवः स्वः' लोक में खड़े हैं, याद रहे कि अनन्य चैतन्य स्वरूप इस क्षण भी हमारे अन्तर में चैतन्य विकीर्ण कर रहे हैं, याद रहे कि वह 'शुद्ध' अपाप विद्ध'' इस क्षण भी हमारे हृदय में अधिष्ठित हैं। समस्त हास्यालाप, समस्त काम-काज, समस्त चांचल्य के अन्तरतम के मूल में एक अविचलित परिपूर्णता की उपलब्धि कभी कहीं सम्पूर्ण आच्छन्न ही न हो जाय।

यह विचार करते हुए कोई यह न समझ ले कि संसार की सब हँसी-मजाक, समस्त आमोद-आह्लाद का एकदम विसर्जन कर देना ही साधना है। जिसके साथ हमारा जितना भी स्वाभाविक सम्बन्ध है उसकी रक्षा न करने से हमारे लिए वह अस्वाभाविक रूप धारण करके हमें धर दबोचता है, त्याग करने की कृत्रिम चेष्टा में गाँठ और भी दुष्कर

होकर बाधा उत्पन्न करती है। स्वभावतः जो वस्तु बाहर की क्षणिक वस्तु है, त्याग की चेष्टा करने में अनेक समय वही हमारे अन्तर के ध्यान की सामग्री बनकर खड़ी हो जाती है।

त्याग न करके रक्षा करेंगे, किन्तु, ठीक मौके पर रक्षा करेंगे। छोटे को बड़ा करके नहीं मानेंगे, प्रेय को श्रेय के आसन पर बैठने नहीं देंगे, एवं सकल समय सकल कर्म में अन्तर के गूढ़ के अचल दरबार में उपासना को जारी रखेंगे। वे नहीं हैं, ऐसी बात कभी किसी समय किसी प्रकार मन में नहीं आने देंगे, क्योंकि यह बिलकुल मिथ्या बात है।

प्रभात में एकान्त भक्ति द्वारा उनके चरणों की धूलि मन के भीतर ले जाओ, वह हमारा परशरतन है। हमारे हँसी-मजाक में, काम-काज में, हमारे विषय-आश्रय में, जो-कुछ है उसके ऊपर उस भक्ति की चादर उढ़ा दो। अपने-आप समस्त महान् हो जायँगे, समस्त पवित्र हो जायँगे, समस्त ही उनके सम्मुख उत्सर्ग करने योग्य होकर उपस्थित हो जायँगे।

अभ्यास

जो परम चैतन्य-स्वरूप हैं उन्हें हम निर्मल चैतन्य द्वारा ही अन्तरात्मा में उपलब्ध कर सकते हैं, यह था मूल विषय। वह और किसी तरह आसानी से हमारी पकड़ में नहीं आयेंगे, इसमें चाहे विलम्ब कितना ही हो। इसीलिए उनके दर्शन की अपेक्षा में कुछ कसर नहीं छोड़नी। हमारा आहार-व्यवहार, प्राणन-मनन समस्त ही इसीलिए हैं। हमारे जीवन में जो भी विकास होगा वह उन्हीं में जाकर परिसमाप्त हो जायगा, चाहे वह धीरे-धीरे हो, विलम्ब करके हो, उसके लिए वह किसी अस्त्रधारी सिपाही को ताकीद के लिए नहीं भेजते। क्योंकि वह एक परिपूर्ण सामग्री हैं, इसलिए अनेक रौद्र और वृष्टि के परस्पर-मिलन से, अनेक दिन व रात्रि की शुश्रूषा से उनके हजार दल एक ही वृन्त पर फूट निकलेंगे।

इसीलिए बीच में मेरे मन में यह संशय होता है कि जो हम प्रातः-काल उपासना के लिए अनेक लोग समवेत होते हैं, यहाँ हम अनेक बार अनेक लोग अपने सम्पूर्ण चित्त को लगा नहीं सकते, तो क्या हमारा यह कार्य कुछ अच्छा हुआ ? निर्मल चैतन्य के स्थान पर अचेतनप्राय अभ्यास को नियुक्त करने में क्या हम अन्याय नहीं कर रहे हैं ?

मेरे मन में कभी-कभी अत्यन्त संकोच उत्पन्न होता है। मन में सोचता हूँ, जो अपने को प्रकाशित करने के लिए हमारी इच्छा पर कुछ भी जबरदस्ती नहीं करते, उनकी उपासना में कदाचित् हम लेशमात्र अनिच्छा लेकर आएँ, और फिर आते समय किंचित् भी क्लेश अनुभव करें, कुछ भी यदि आलस्य की बाधा उत्पन्न हो, तो फिर बाद को हमारे अथवा किसी कार्य के आकर्षण में भीतर-भीतर एक विमुखता की सृष्टि होती है। उपासना में शिथिलता रखते हुए जो उपासना करते हैं वे यदि कुछ विचार करें, यदि कोई निन्दा करें अथवा विरक्त हो जायँ फिर यही तकाजा सबसे महान् हो उठता है। इसीलिए कभी-कभी कहने की इच्छा होती है, "मन सम्पूर्ण अनुकूल, सम्पूर्ण इच्छुक न रहते हुए इस जगह कोई न आये।"

किन्तु संसार कैसा है यह भी मुझे मालूम है। इस संसार के अनेक पथ अनुसरण करके आज वार्धक्य के द्वार पर आकर उत्तीर्ण हुआ हूँ। जानता हूँ दुःख किसे कहते हैं, आघात कैसा प्रचण्ड होता है, विपद् कितनी अभावनीय होती है। जिस समय आश्रय का प्रयोजन सबसे अधिक हो, उस समय आश्रय कितना दुर्लभ ! उनसे विहीन जीवन अत्यन्त गौरवहीन, चारों ओर से खींचातानी करके उसे बरबाद करते हैं। देखते-देखते उसका स्वर दुर्बल हो जाता है, उसकी कथा, चिन्ता और कार्य सब तुच्छ हो जाते हैं। वह जीवन अनावृत्त-सा लगता है, वह और उसके बाहर के बीच कोई जैसे उसे ठिकाना देने वाला नहीं रहा। एकदम ही उसके शरीर की क्षति हो जाती है, निन्दा एकदम उसके मर्म पर आकर आघात करती है, दुःख भी किसी भाव-रस में होकर सुन्दर अथवा महत्

नहीं हो उठता। सुख मत्तता एवं शोक के कारण एकदम मृत्युवान् बनकर उसे खटकता है। इस बात पर जब विचार करता हूँ तब समस्त संकोच मन से दूर हो जाते हैं। तब भयभीत होकर कहता हूँ, उंहुँ, शैथिल्य से काम नहीं बनेगा, एक दिन भी नहीं भूलूँगा, प्रतिदिन ही उनके सामने आकर खड़ा होना पड़ेगा, प्रतिदिन केवल संसार को ही प्रश्रय देकर, उसे ही केवल हृदय का रक्त पिलाकर, प्रबल बनाकर, अपने को ऐसे असहाय भाव से बिलकुल ही उसके हाथों में आपाद-मस्तक समर्पण करके नहीं रहूँगा, दिन में एक बार यह बात प्रत्यह ही कहता रहूँगा, "आप संसार से महान् हैं, आप सबसे महान् हैं।"

जिस प्रकार भी बोल सकूँ बोलूँगा। हमारी शक्ति क्षुद्र है, अन्तर्यामी जानते हैं। किसी दिन हमारे मन में जाग्रति होती है और किसी दिन बिलकुल भी नहीं; मन में विक्षेप आता है, मन पर छाया पड़ी होती है। उपासना में जिस मन्त्र की आवृत्ति करते रहते हैं, प्रतिदिन उसका अर्थ उज्ज्वल नहीं दीखता। फिर भी निष्ठा नहीं छोड़ूँगा। दिन-प्रतिदिन इसी द्वार पर आकर खड़ा होऊँगा, द्वार खुले या न खुले। यदि यहाँ आने में कष्ट प्रतीत होगा तो उस कष्ट को अतिक्रमण करके आऊँगा। यदि संसार का कोई बन्धन मन को खींचकर रखना चाहे, तो थोड़ी देर के लिए इस संसार को एक पार्श्व में ठेलकर भी आऊँगा।

कुछ भी यदि न जुटे तो इस अभ्यास को ही प्रत्यह उनके पास लाकर रखूँगा। इतना-सा समर्पण करते हुए भी जो बाधा अतिक्रम करनी पड़ती है, जो जड़ता मोचन करनी पड़ती है, उसीमें कहीं कुण्ठित न हो बैठूँ। अत्यन्त दरिद्र का जो रिक्तप्राय दान, वह भी प्रत्यह निष्ठासहित उनको दे सकूँ। जिनके लिए समस्त जीवन उत्सर्ग करने की बात हो, दिन के सकल कर्म में, सकल चिन्ता में जिन्हें राजा बनाकर मानना पडेगा, उन्हें केवल मुख द्वारा ही याद करना। किन्तु करना है वह भी। आदि से अन्त तक सब संसार को ही दें, उन्हें कुछ नहीं, उन्हें प्रत्येक दिन बिलकुल ना कर देंगे, यह तो कभी हो ही नहीं सकता। दिन के

आरम्भ में प्रभात के अरुणोदय में खड़े होकर वह बात एक बार स्वीकार करनी ही होगी, 'पिता नोऽसि'। आप हमारे पिता हैं। मैं स्वीकार करता हूँ आप पिता हैं। मैं स्वीकार करता हूँ आप पिता हैं। विश्वब्रह्माण्ड के मध्य खड़े होकर यही बात कहने के लिए खड़ा होऊँगा कि आपके संसार को फेंक देना होगा। केवल उसी समय रहने दो अपना काज-कर्म, रहने दो आमोद-प्रमोद। सब बातों के ऊपर यह बात कहते जाओ, 'पिता नोऽसि'।

उनके संसार के कक्ष में जन्म लेकर, उनके चन्द्र, सूर्य के प्रकाश में आँख खोलकर, जागरण के प्रथम मुहूर्त में यह बात अपने हाथ जोड़कर प्रत्यह कहते रहना होगा, 'ॐ पिता नोऽसि'। यह बात तुम्हें खूब जोर देकर कह रहा हूँ। इतने बड़े विश्व में एवं इतने बड़े मानव-जीवन में उन्हें कहीं भी स्वीकार नहीं करेंगे। यह तो कैसे हो सकता है? अपनी अपरिस्फुट चेतना को उपहार में दे दो, अपने शून्य हृदय को दान कर दो अपनी शुष्कता, विरक्तता को भी उनके सम्मुख रख दो, अपने सुगम्भीर दैन्य को भी उनके सामने निवेदन कर दो। ऐसा करने से जो दया अयाचित भाव में प्रतिमुहूर्त तुम पर बरस रही है, वही दया क्रमशः प्राप्त करते रहोगे। एवं प्रत्यह वह जो थोड़ी-सी खिड़की का द्वार खोलोगे, उसी के द्वारा अन्तर्यामी के प्रेम-मुख का प्रसन्न हास्य प्रत्यह तुम्हारे अन्तर को ज्योति से अभिषिक्त करता रहेगा।

प्रार्थना

हे सत्य, मेरी अन्तरात्मा के बीच निवास करने वाले अन्तहीन सत्य, सब-कुछ आप ही हैं। इस आत्मा में जो आप हैं, इसलिए फिर देश-काल, गम्भीरता-निविड़ता की कोई सीमा नहीं। यह आत्मा अनन्तकाल रहने वाला है, सत्यम् मन्त्र इसका द्योतक है। आप हैं और केवल आप ही हैं। आत्मा की अतल-स्पर्श गम्भीरता से यह मन्त्र निकला है, मानो वह हमारे मन एवं संसार के अन्यान्य समस्त शब्दों को अपने में भरकर सबके ऊपर प्रकाशमान हैं। सत्यं, सत्यं, सत्यं। उसी सत्य में मुझे पहुँचा

दीजिए, हमारी उसी अन्तरात्मा के गूढ़तम अनन्त सत्य में, जहाँ 'आप हैं' को छोड़ और कोई भी नहीं।

हे ज्योतिर्मय, हमारे चिदाकाश में आप 'ज्योतिषां ज्योति' हैं। आपके अनन्त आकाश के कोटि सूर्य-लोकों में जो ज्योति नहीं समाती उसी ज्योति से मेरा अन्तरात्मा चैतन्य में उद्भासित है। उसी अन्तराकाश के बीच मुझे खड़ा करके आद्योपान्त प्रदीप्त पवित्रता में प्रक्षालन कर डालिए। मुझे ज्योतिर्मय बना दीजिए जिससे अपने अन्य समस्त परिवेष्टनों को सम्पूर्ण भुलाकर उस शुभ्र, शुद्ध, अपापविद्ध ज्योतिःशरीर को प्राप्त करूँ।

हे अमृत-स्वरूप, मेरे अन्तरात्मा के निभृत धाम में आप 'आनन्दं परमानन्दम्' हैं। वहाँ किसी काल में भी आपके मिलन का अन्त नहीं। वहाँ केवल आपका अस्तित्व ही नहीं, वहाँ तो आप घुले-मिले हैं, वहाँ आपका केवल सत्य ही नहीं, वहाँ आपका आनन्द भी हैं। वहाँ आपने अपने अनन्त आनन्द को इस जगत्-संसार में प्रसारित कर दिया है। गति में, प्राण में, सौन्दर्य में, किसी में भी उसकी परिसमाप्ति नहीं होती, अनन्त आकाश में भी वह नहीं समाता। आपके उस सीमाहीन आनन्द को अपने अन्तरात्मा के ऊपर स्तब्ध करके रख छोड़ा है। वहाँ आप अपनी सृष्टि के किसी प्राणी को भी प्रवेश नहीं करने देते, वहाँ आलोक नहीं, रूप नहीं, गति नहीं, केवल निस्तब्ध और निविड़ आपका आनन्द ही है। उस आनन्द-धाम के बीच खड़े होकर एक बार पुकारो, प्रभु! मैं चारों ओर बिखरा पड़ा हूँ, आपका अमृत आह्वान मेरे संसार में सर्वत्र ध्वनित-प्रतिध्वनित हो जाय, अति दूर चला जाय, अति गोपन स्थान में प्रवेश करे। चारों ओर से ही मैं 'जाता हूँ, जाता हूँ' कहकर उत्तर देता हूँ। भगवान्! पुकारो, 'अरे आ, आ, फिर आ, चला आ।' इस अन्तरात्मा के अनन्त आनन्द-धाम में मेरा जो कुछ भी है वह समस्त एक जगह होकर, निस्तब्ध होकर, चुप होकर बैठ जाय, खूब गम्भीर, खूब गोपन भाव से।

हे प्रकाश, अपने प्रकाश द्वारा मुझे एकदम निःशेष कर डालो, मेरा कुछ बाकी मत रखो, कुछ भी नहीं, अहंकार का लेशमात्र भी नहीं। मुझे बिलकुल 'आपमय' कर दो। केवल आप-ही-आपमय, केवल आपमय ज्योति, केवल आपमय आनन्द।

हे रुद्र, पाप सब जलकर भस्म हो जायँ। अपना प्रचण्ड ताप विकीर्ण करो, कुछ भी कहीं छिपा न रह जाय, जड़ से लेकर बीजयुक्त फल पर्यन्त सभी दग्ध हो जायँ। बहुदिन के बहु दुश्चेष्टा के फल, शाखाओं की गाँठ-गाँठ में, पत्तों की ओट में जो छिपे हुए हैं, उनकी जड़ हृदय के रसातल-पर्यन्त पहुँच चुकी है। आपके रुद्र-ताप के लिए इससे अच्छा और ईंधन नहीं, जब वह दग्ध होगा तभी सार्थक होगा, तभी आलोक में उसका अन्त होगा। फिर हो प्रसन्न ? आपकी प्रसन्नता, मेरे समस्त चिन्ता-वाक्य तथा कर्म में विकीर्ण होती रहे। मेरे समस्त शरीर के रोम-रोम में आपकी परम पुलकमय प्रसन्नता प्रवेश पाकर इस शरीर को भागवती तनु बना दे। जगत् में यह शरीर आपके अमृत-रूपी प्रसाद का पवित्र पात्र होकर विराजमान हो। आपकी वह प्रसन्नता मेरी बुद्धि को प्रशान्त करे, हृदय को पवित्र करे, शक्ति को मंगलकारी बनाये। आपकी प्रसन्नता आपके विच्छेद संकट से मेरी चिरदिन रक्षा करे। आपकी प्रसन्नता मेरे चिरन्तन अन्तर का धन होकर, मेरे चिरजीवन-पथ का सम्बल होकर, स्थान पाए। मेरी ही अन्तरात्मा में जो आपका सत्य, आपकी जो ज्योति, जो अमृत और जो प्रकाश है, आपकी प्रसन्नता द्वारा ही जब उनकी उपलब्धि कर सकूँगा तभी रक्षा हो सकेगी।

वैराग्य

याज्ञवल्क्य ने कहा है —

न वा अरे पुत्रस्य कामाय पुत्रः प्रियो भवाति,
आत्मनस्तु कामाय पुत्रः प्रियो भवति।

अर्थात् पुत्र की कामना के कारण पुत्र प्रिय है यह बात नहीं, आत्मा

की कामना करते हो इसीलिए पुत्र प्रिय है।

उसका तात्पर्य यह है कि आत्मा पुत्र में ही अपना अनुभव करता है इसलिए पुत्र में अपनत्व है, इसीलिए पुत्र में उसे आनन्द का अनुभव होता है।

आत्मा जब स्वार्थ एवं अहंकार की ग्रन्थि से बद्ध होकर निरवच्छिन्न अकेला रहे तो वह बहुत म्लान रहता है, तब उसके सत्य को स्फूर्ति प्राप्त नहीं होती। इसीलिए आत्मा पुत्र में, मित्र में, नाना लोक में, अपनी उपलब्धि करके आनन्दित होता है, क्योंकि उसका सत्य पूर्णतर होकर उठता रहता है।

बाल्यावस्था में जब वर्ण-परिचय में 'क, ख, ग' प्रत्येक अक्षर को स्वतन्त्र सीखा था तो उसमें आनन्द नहीं मिला। क्योंकि इन स्वतन्त्र अक्षरों का कोई सत्य प्राप्त नहीं हुआ था। पश्चात् जब अक्षरों को युक्त करके 'कर', 'खल' इत्यादि पद-रचना की, तब अक्षरों का तात्पर्य प्रकाशित होने से मन में कुछ सुख का अनुभव होने लगा। किन्तु इस प्रकार का विच्छिन्न पद प्रभृति चित्त को यथेष्ट रस नहीं दे सकता, इसीलिए क्लेश तथा क्लान्ति हो उठती है। तत्पश्चात् आज भी मुझे स्पष्ट याद है, जिस दिन 'जल पड़ा', 'पत्ता गिरा' आदि वाक्य पढ़े उस दिन भारी आनन्द मिला, क्योंकि शब्द उस समय पूर्णतर अर्थ से भर गए थे। किन्तु शुद्ध-मात्र 'जल पड़ा' और 'पत्ता गिरा' की आवृत्ति से मन को अब सुख नहीं मिलता, विरक्ति प्रतीत होती है, अब व्यापक अर्थ संयुक्त वाक्यावली के बीच में शब्द-विन्यास को सार्थक करके प्राप्त करने की इच्छा होती है।

विच्छिन्न आत्मा भी विच्छिन्न पद की तरह ही है। उसके अकेलेपन में उसका तात्पर्य पूर्ण रूप में नहीं मिलता। इसीलिए आत्मा अपने सत्य को नानात्व में उपलब्ध करने की चेष्टा करता है। वह जब आत्मीय बन्धु-बान्धवों के साथ युक्त होता है तब वह अपनी सार्थकता का एक रूप देखता है। वह जब आत्मीय-परकीय बहुत से लोगों को अपनाकर ही माने, तो वह छोटा आत्मा नहीं रहता, तब वह महात्मा बन जाता है।

इसका एकमात्र कारण यह है कि आत्मा का परिपूर्ण सत्य है परमात्मा में। मेरा 'मैं' उस एकमात्र महा 'मैं' में ही सार्थक होता है। इसलिए जाने और अनजाने भी यह परम 'मैं' को खोजता है। मेरा 'मैं' जब पुत्र के 'मैं' में जाकर संयुक्त होता है तो क्या घटना घटती है? तब परम 'मैं' मेरे 'मैं' में भी है, पुत्र के 'मैं' में भी है, उन्हें प्राप्त करके मुझे आनन्द होता है।

किन्तु तब मुश्किल यह होती है कि मेरा 'मैं' इसी उपलक्ष्य से उस बड़े 'मैं' के पास थोड़ा आगे पहुँचा, यह स्पष्ट समझ में नहीं आया। वह समझता है कि उसे पुत्र ही प्राप्त हुआ है एवं पुत्र के ही किसी विशेष गुणवश पुत्र आनन्द देता है। सुतरां इसी आसक्ति के बन्धन में वह अटका रहता है। तो फिर वह पुत्र और मित्र को ही पकड़कर बैठा रहना चाहता है और फिर आसक्ति के खिंचाव में अनेक पापों में भी लिप्त हो जाता है।

इसीलिए सत्य-ज्ञान द्वारा वैराग्य का उद्रेक करने के लिए याज्ञवल्क्य ने कहा है कि यथार्थ में हम पुत्र को नहीं चाहते, आत्मा को ही चाहते हैं। इस बात को ठीक तरह समझ लेने से ही पुत्र के प्रति हमारी मुग्ध आसक्ति दूर हो जाती है। तब उपलक्ष्य में लक्ष्य हो जाने से हमारा पथरोध नहीं हो सकता।

जब हम साहित्य के बृहत् तात्पर्य को बोध करके आनन्द प्राप्त करते हैं, तब प्रत्येक वार्ता स्वतन्त्र भाव से 'मैं-मैं' करके हमारे मन को फिर कोई बाधा नहीं पहुँचाती। प्रत्येक बात अर्थ को ही प्रकाशित करती है, स्वयं को नहीं। तो बात मानो अपना स्वातन्त्र्य विलुप्त कर देती है।

उसी प्रकार जब हम सत्य को जान जाते हैं, तब उस अखण्ड सत्य के बीच ही हम समस्त खण्डता को देखते हैं, वह स्वतन्त्र होकर हमारे ज्ञान में कोई अटकाव नहीं पैदा करते। यही वैराग्य की अवस्था है। इस अवस्था में संसार अपने को ही सर्वोपरि मानकर हमारे समस्त मन तथा कर्म को ग्रस्त नहीं करता रहता।

किसी काव्य के तात्पर्य की उपलब्धि जब हमारे भाव में गम्भीर होकर उतरती है; उज्ज्वल होती है, तब ही तो उसके प्रत्येक शब्द की सार्थकता उसके समग्र भाव के माधुर्य में हमारे नजदीक विशेष सौन्दर्य-मय हो जाती है। फिर जब विचारकर देखते हैं तो पाते हैं कि कोई शब्द भी निरर्थक नहीं है, समग्र का रस प्रत्येक पद में प्रकाशित हो रहा है। तब फिर उस काव्य का प्रत्येक पद हमारे लिए विशेष आनन्द तथा विस्मय का कारण हो जाता है। तब उसके पद समग्र की उपलब्धि में बाधा न देकर, सहायता देकर, हमारे लिए बहुत मूल्यवान हो जाते हैं।

उसी प्रकार वैराग्य जब स्वतन्त्रता का मोह काटकर भूमा में हमारे महासत्य का परिचय साधन कर देता है, तब उस बृहत् परिचय में होकर, वापस आकर, प्रत्येक स्वातन्त्र्य भूमा के रस में रस-परिपूर्ण हो उठता है। एक दिन जिनको अटककर पढ़ना पड़ता था, जो पद-पद पर पथरोध करते थे, वे सब ही उसे भूमा के प्रति हमें वहन कर रहे हैं, अवरोध नहीं।

उस समय जो आनन्द मिलता है वह आनन्द प्रेम ही है, वह प्रेम बाँधकर नहीं रखता, वह प्रेम आगे खींचकर ले जाता है। निर्मल, निर्बाध है वह प्रेम। वही प्रेम मुक्ति है, समस्त आसक्ति की मृत्यु इसी मृत्यु के सत्कार का मन्त्र है।

मधुवाता ऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धवः, माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः।
मधु नक्तम् ऊतोषसो मधुमत् पार्थिवंरजः,
मधुमान्नो बनस्पतिर्मधुमां अस्तु सूर्यः।

वायु मधुवहन करता है, नदी-सिन्धु सकल मधुक्षरण करते हैं, औषधि, वनस्पति सकल मधुमय हो जायँ, रात्रि मधु हो, ऊषा मधु हो, पृथ्वी की धूलि मधुमत् हो, सूर्य मधुमान् हो।

जब आसक्ति का बन्धन छिन्न हो गया, तब जल, स्थल, आकाश, जड़, जन्तु, मनुष्य, समस्त ही अमृत से परिपूर्ण, फिर आनन्द की सीमा नहीं।

आसक्ति हमारे चित्त को विषय में आबद्ध करती है। चित्त जब

विषयों के भीतर विषयातीत सत्य को प्राप्त करता है तो प्रजापति (तितली) जिस प्रकार अपने छिलके को तोड़कर बाहर निकालता है उसी प्रकार वह वैराग्य द्वारा आसक्ति-बन्धन छिन्न कर डालता है। आसक्ति छिन्न होते ही पूर्ण सुन्दर प्रेम आनन्द के रूप में सर्वत्र प्रकाश पाता है। तब 'आनन्दरूपममृतं यद् विभाति' मन्त्र का अर्थ समझ में आता है। जो कुछ भी प्रकाश को प्राप्त हो रहा है वही अमृत रूप है। कोई वस्तु भी फिर 'मेरा प्रकाश है' कहकर अहंकार नहीं करती। प्रकाश है केवल आनन्द, केवल आनन्द। उस प्रकाश की मृत्यु नहीं होती और समस्त की मृत्यु होती है, किन्तु वह प्रकाश अमृत है।

विश्वास

साधना के आरम्भ में प्रथम ही एक बड़ी बाधा उपस्थित होती है, उसे काट सकने पर अनेक काज सध जायँगे।

वह है प्रत्यय (भरोसा) में बाधा। अज्ञात समुद्र पार करके किसी-न-किसी तीर पर पहुँचने का निश्चित प्रत्यक्ष ही कोलम्बस की सिद्धि का प्रथम और महत् सम्बल था। और लोग भी अटलाण्टिक पार करके अमेरिका पहुँच सकते थे, किन्तु उनके दीन चित्त को भरोसा नहीं था, उन्हें विश्वास उज्ज्वल नहीं था कि कोई कूल है। यही कोलम्बस के साथ उनका पार्थक्य था।

अधिकांश हममें से जो साधना-समुद्र को पार करने के लिए तत्पर नहीं होते, उसका प्रधान कारण है कि हममें इस अत्यन्त निश्चित प्रत्यय का जन्म ही नहीं हुआ कि समुद्र का पार भी है। शास्त्र पढ़ा, लोगों की कथा भी सुनी, मुँह से कहते रहे हाँ-हाँ, अवश्य-अवश्य, किन्तु मानव-जीवन का जो एक चरम लक्ष्य है, प्रत्यय या भरोसा, वह निश्चित विश्वास में परिणत नहीं हुआ। इसलिए धर्म-साधन नितान्त बाह्य व्यापार और नितान्त दस-पाँच लोगों का अनुकरण-मात्र हो गया है। हमारी समस्त आन्तरिक चेष्टा अभी उसमें उद्बोधित नहीं हुई।

इस विश्वास की जड़तावश ही हम लोगों को धर्म-साधना में प्रवृत्त करने के लिए, उनसे प्रतारण (धोखा) करने की चेष्टा कर सकते हैं। हम कहते हैं, इससे पुण्य होगा। पुण्य क्या वस्तु है? पुण्य एक हैण्डनोट है जिसके द्वारा भगवान् हमें ऋण देना स्वीकार करते हैं, किसी एक प्रकार के सिक्के द्वारा किसी समय वह उसका परिशोध कर देंगे।

इस प्रकार का एक सुस्पष्ट पुरस्कार का लोभ हमारे स्थूल प्रत्यय के अनुकूल है। किन्तु साधना के लक्ष्य को इस प्रकार बाह्य विषय मानने से उसका पथ ठीक से अन्तर का पथ नहीं वन सकता। उसका लाभ भी अन्तर का लाभ नहीं हो सकता। उससे एक पारलौकिक वैषयिकता की सृष्टि होती है। वह वैषयिकता अन्यान्य वैषयिकताओं से किसी अंश में कम नहीं है। किन्तु साधना का लक्ष्य है मानव-जीवन का चरम लक्ष्य। वह लक्ष्य बाहर का कोई स्थान नहीं है, जैसे स्वर्ग, बाहर का कोई पद नहीं है, जैसे इन्द्रपद, ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे दूर ले जाकर, सन्धान करके, बाहर निकालना पड़े और जिसके लिए पण्डा-पुरोहितों का शरणापन्न होना पड़े, ऐसा कभी हो ही नहीं सकता।

मानव-जीवन का क्या लक्ष्य है? यह स्वयं से जिज्ञासा करके अपने अन्तर से इसका एक स्पष्ट उत्तर निकाल लेना पड़ेगा। किसी की सुनी हुई बात से यहाँ काम न चलेगा, क्योंकि यह कोई छोटी-मोटी बात तो नहीं है, यह है अन्तिम बात। इसे यदि अपनी अन्तरात्मा में न पा सकें तोबाहर ढूँढ़ने से न मिल सकेगा।

इस विशाल विश्व-ब्रह्माण्ड में, मैं आकर उपस्थित हूँ, यह एक महाश्चर्य व्यापार है। इससे बड़ा और कोई आश्चर्य व्यापार नहीं है। आश्चर्य यह है कि मैं आया हूँ, चारों ओर यही आश्चर्य है।

मैं जो उपस्थित हुआ हूँ, केवल खाकर, सोकर, गल्प करके, क्या इस आश्चर्य की व्याख्या हो सकती है? प्रवृत्ति की चरितार्थता ही क्या इसे प्रतिमुहूर्त अपमानित करेगी, एवं शेष मुहूर्त में मृत्यु आकर इसका ठट्ठा उड़ाकर चल देगी?

इस 'भूर्भुवस्वर्लोक' के बीच खड़े होकर, अपने अन्तराकाश के चैतन्य-लोक के मध्य निस्तब्ध होकर, अपने से प्रश्न करो—क्यों ? यह सब किसलिए ? इस प्रश्न का उत्तर जल, स्थल, आकाश में कहीं नहीं। इस प्रश्न का उत्तर अपने अन्तर में निहित है।

इसका एकमात्र लक्ष्य है आत्मा को प्राप्त करना। इसे छोड़ और कोई दूसरी बात नहीं। आत्मा को ही सत्य करके पूर्ण करके जानना है।

जहाँ आत्मा को जानकर सत्य का ज्ञान होता है वहाँ तो हमारी दृष्टि जाती ही नहीं। इसलिए आत्मा को जानना जिसे कहते हैं वह हमारे विश्वास के क्षेत्र में ही आकर नहीं पहुँचता।

आत्मा को हम संसार में ही जानना चाहते हैं। उसे केवल घर-बार, लोटा-थाली में ही जानते हैं। उससे अधिक हम उसे जानते ही नहीं, इसीलिए उसे पाकर भी उसे खोते हैं, केवल रोते हैं, और डरते हैं। मन में सोचते हैं, यह नहीं पाया तो बिलकुल मर जायँगे और वह पा लिया तो निहाल हो जायँगे। इसको और उसको ही प्रधान मान बैठे हैं, आत्मा को उसके सामने हीन बनाकर उस प्रकाण्ड-दैन्य के बोझ को एश्वर्य के गर्व में वहन करते रहते हैं।

आत्मा का सत्य जान लेने से ही आत्मा का ऐश्वर्य प्राप्त होता है, मृत्यु की सामग्री में अहरह उसे जड़ित करके शोक के वाष्प में, भय के अन्धकार में, लुप्तप्राय देखने का दुर्दिन निवारण हो जाता है। पर-मात्मा में ही उसका परिपूर्ण सत्य, परिपूर्ण स्वरूप प्रकाशित होता है। संसार में नहीं, विषय में नहीं, अपने निजी अहंकार में नहीं।

आत्मा सत्य की परिपूर्णता में ही अपने को पहचानता है, उस परम उपलब्धि द्वारा वह विनाश को एकदम अतिक्रमण कर जाता है। वह ज्ञान, ज्योति की निर्मलता में अपने को जानेगा। काम, क्रोध, लोभ, मोह, जो समस्त ही विकार के अन्धकार की रचना करते हैं, उनसे आत्मा विशुद्ध, शुभ्र, निर्मुक्त पवित्रता में प्रस्फुटित हो जायगा एवं सर्व प्रकार आसक्ति के मृत्यु-बन्धन से प्रेम के अमृत-लोक में मुक्ति-लाभ करके वह

अपने को अमर ही पायेगा । उसे मालूम हो जायगा कि किसके प्रकाश में उसका प्रकाश सत्य होता है । वही 'आविः' उसी प्रकाश-स्वरूप को, आत्मा का परम प्रकाश मानकर अपना समस्त दैन्य दूर कर देगा, एवं अन्तर-बाहर सर्वत्र एक प्रसन्नता लाभ करके स्पष्ट जान सकेगा किउसकी चिरकाल के लिए रक्षा हो गई । समस्त भय से, समस्त शोक से, समस्त क्षुद्रता से रक्षा हो गई ।

आत्मा को परमात्मा में लाभ करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है । इस लक्ष्य को एकान्त प्रत्यक्ष के साथ एकाग्रचित्त में स्थिर कर लेना होगा । देखो, देखो, निरीक्षण करके देखो, समस्त मन को निविष्ट करके निरीक्षण करो । एक चक्र बराबर चल ही रहा है, उसके मध्य एक बिन्दु स्थिर है । उसी बिन्दु को बेधकर अर्जुन ने द्रौपदी को पाया । उसने चक्र की ओर ध्यान नहीं दिया, बिन्दु की ओर ही समस्त मन संयत किया था । संसार का चक्र भी केवल घूमता है, लक्ष्य उसके मध्य में ध्रुव बना हुआ स्थित है । उसी ध्रुव की ओर ध्यानपूर्वक लक्ष्य स्थिर करना पड़ेगा, चक्के पर नहीं । लक्ष्य को निश्चय करके सावधानी से देख लेना पड़ेगा । चक्के की घूर्णागति के बीच देखते रहना बड़ा कठिन है, किन्तु यदि सिद्धि प्राप्त करनी है तो पहले लक्ष्य निर्धारित और स्थिर कर लेना पड़ेगा ।

संहरण

हमारी साधना की द्वितीय बड़ी बाधा है अनभ्यास । कदाचित् साधना में ही हम अभ्यास की कमी करते हैं । जब भी जो हमारे सम्मुख आता है उसीसे हम आकृष्ट हो जाते हैं, किसी प्रकार उलटे-सीधे, यहाँ-वहाँ टकराते-टकराते हम बहे चले जा रहे हैं । संसार का स्रोत हमारी चेष्टा बिना चल रहा है, इसीलिए हम भी चल रहे हैं । न हमारे पास डाँड है, न पाल, न हाल ।

किसी उद्देश्य के एकान्त अनुगत होकर शक्ति को, प्रवृत्ति को,

चतुर्दिक् से संग्रह करके लाने की हम बात भी नहीं उठाते। इसीलिए उन सबमें हाथ से निकल जाने की स्पर्धा होती है। कौन कहाँ है, उसका भी ठिकाना नहीं, पुकारने से दौड़ा आए, इसकी संभावना नहीं। जिस खाद्य के वे अभ्यस्त हैं और जो उनको रुचिकर हैं, उनका ही प्रलोभन पाकर वह अपने-आप इकट्ठा हो जाते हैं, नहीं तो किसी तरह नहीं।

अपने को चारों ओर केवल विकीर्ण करते रहने का ही अभ्यास हो गया है। चिन्ता भी छूट जाती है, कर्म भी ढीला हो जाता है, कोई भी अटक नहीं।

इस अवस्था में केवल सिद्धि नहीं मिलती इतना ही नहीं, सचमुच कोई सुख भी नहीं मिलता। इसमें केवल जड़ता का तामसिक आवेश-मात्र रह जाता है।

कारण यह है कि जब हम अपनी शक्ति तथा प्रवृत्ति को उद्देश्य-पूर्ति में युक्त कर देते हैं, तब वह उद्देश्य उन्हें वहन करके ले जाता है। तब उनका भार हमारे सिर पर नहीं पड़ता, नतुवा (नहीं तो) उन्हें वहन करके एक बार यहाँ रखते हैं, दूसरी बार वहाँ रखते हैं, इस प्रकार केवल खींचातानी करते ही बीतता है। जब नीचे उतारकर रखने का कोई उपाय नहीं मिलता, तब कृत्रिम उपाय की सृष्टि करनी पड़ती है। कितने व्यर्थ खेल, व्यर्थ आमोद, व्यर्थ उपकरण? अवशेषे (अन्त को) वही कृत्रिम आयोजन द्वितीय भार बनकर हमें चारों ओर से धर दबोचता है। इस तरह से जीवन का भार केवल बढ़ता ही रहता है, जीवनान्तकाल-पर्यन्त, उसके हाथ से किसी प्रकार निष्कृति नहीं।

इसीलिए मैंने कहा था, केवलमात्र साधनावस्था में आनन्द रहता है। सिद्धि की बात तो दूर रही। महत् लक्ष्य अनुसरण करने में अपनी विक्षिप्तता को एकाग्र करने से उसे एक पथ पर चलाकर प्राण-रक्षा होती है। जितनी सचेष्टता के साथ हम साधना को आनन्द मानकर, कमर कसकर, वक्ष प्रसारित करके; प्रवृत्त हो सकें, उतनी यदि हमारे भीतर ही क्षय हो जाय तो बड़ी विपत्ति खड़ी हो जायगी। जैसे भी हो

बारम्बार स्खलित होते हुए भी उस समस्त शक्ति को एकाग्र करने की चेष्टा मजबूती से करनी चाहिए। जिस प्रकार शिशु गिरते-पड़ते, आघात खाते-खाते चलना सीखता है, उसी प्रकार उसे चलना सिखाना पड़ता है, क्योंकि सिद्धि-लाभ करने में प्रथम लक्ष्य तो सत्य है। उस विश्वास को जाग्रत करना चाहिए, फिर लक्ष्य बाहर नहीं भीतर है, परिधि में नहीं केन्द्र में है, यह जानना आवश्यक है, तत्पश्चात् चाहिए सीधे पथ पर चलना सीखना। स्थैर्य और गति दोनों ही चाहिए। विश्वास से चित्त स्थिर होगा, एवं साधना-पूर्ति में प्रगति होगी।

निष्ठा

जब सिद्धि की मूर्ति किसी परिमाण में दिखाई देने लगती है तब वह आनन्द की ओर हमें अपने-आप खींच ले जाती है। तब किसकी है उसे रोकने की साध्य ?

तब श्रान्ति भी नहीं, दुर्बलता भी नहीं।

किन्तु साधना के आरम्भ में सिद्धि-मूर्ति इस प्रकार अपने-आपको दूर से ही प्रकाशित नहीं करती, और पथ भी सुगम पथ नहीं है। चले फिर किसके ज़ोर पर ?

ऐसे समय जो हमारे चलाने का भार ले लेता है, वह है निष्ठा। जब भक्ति का उदय होता है, हृदय जब पूर्ण होता है, तब फिर कोई भावना तो रह नहीं जाती, तब पथ को पथ मानने का ज्ञान नहीं रहता, उस समय तो एकदम उड़े चले जाते हैं। किन्तु भक्ति जब दूर हो और हृदय जब शून्य हो, ऐसे अत्यन्त दुस्समय में हमारा क्या सहारा ?

उस समय एकमात्र सहारा है निष्ठा। शुष्क चित्त के मृत-भार को केवल वही वहन कर सकती है।

जो मरुभूमि पर चलते हैं उनका वाहन है ऊँट। अत्यन्त सस्त और सबल वाहन है। यह जरा भी विलासी नहीं होता। खाद्य न मिलने से भी उसका काम चल जाता है, पेय न मिलने से भी। बालू तप्त हो

तो भी चलेगा, निःशब्द चलेगा। जब प्रतीत होता है कि सामने की मरुभूमि का कोई अन्त नहीं और मृत्यु छोड़ कोई गति नहीं, तब भी चलना बन्द नहीं करता।

उसी प्रकार शुष्कता-रिक्तता के मरुपथ पर बिना कुछ खाये या पिये, हमें ले जाने की स्पर्धा है केवल निष्ठा में—उसका प्राण इतना सख्त है कि निन्दा तथा ग्लानि के भीतर होकर, झाड़ और काँटों के बीच से भी वह अपना खाद्य संग्रह कर सकती है। जब मरुवायु की मृत्यु-मय झंझा उन्मत्त के समान उमड़ी चली आती है, तब वह धूल के ऊपर माथा सम्पूर्ण उन्नत करके आँधी के झकोरे को माथे के ऊपर से बहने देती है। उसके समान धीर, सहिष्णु, ऐसा अध्यवसायी और कौन है? नीरस, अगाध प्रान्तर में केवल कभी-कभी कल्पना की मरीचिका पथ भुला देने को आती है। सार्थकता का विचित्र रूप क्षण-क्षण दिखाई नहीं देता। मालूम पड़ता है जहाँ कल थे वहीं आज भी हैं। मन को स्थिर करना चाहते हैं, मन भागता है, हृदय को पुकारते हैं, वह जवाब नहीं देता। केवल यही मन में विचार होता है कि व्यर्थ ही उपासना की चेष्टा में क्लिष्ट हो रहा हूँ। किन्तु व्यर्थ उपासना का भयानक भार वहन करके निष्ठा प्रत्येक दिन गतिमान रह सकती है—दिन के पश्चात् दिन।

अग्रसर होती ही रहती है, होती ही रहती है—प्रतिदिन वह गम्य-स्थान के निकट थोड़ा-थोड़ा करके आ रही है, इसमें कोई सन्देह नहीं। वह देखो अकस्मात् किसी दिन कहीं से भक्ति का ओसिस दिखाई दिया—सुदूर प्रसारित दग्ध पांडुरता के मध्य मधुकलगुच्छपूर्ण खजूर-कुञ्ज की स्निग्ध श्यामलता लिये हुए। वह देखो निभृत छायातल में शीतल जल का उत्स बह रहा है। उस जल को पान करके, उसमें स्नान करके, छाया में विश्राम करके फिर यात्रा आरम्भ कर दें। किन्तु भक्ति की मधुरता, शीतल सरसता तो बराबर साथ-साथ जाती नहीं। फिर वही कठिन शुष्क, अश्रान्त निष्ठा। उसका एक गुण है कि किसी सुयोग में एक दिन भक्ति का जलपान करने को यदि मिल जाय तो वह अनेक

दिन पर्यन्त उसे अपने अन्तराल के गुप्त आधार में जमा करके रख सकती है। घोरतर नीरसता के दिनों में भी वह उसकी पिपासा का सम्बल होती है।

साधना से जिसे प्राप्त करते हैं उसके प्रति भक्ति को हम भक्ति कहते हैं, किन्तु निष्ठा है साधना के प्रति भक्ति। यह कठोर, कठिन शुष्क साधना ही निष्ठा के प्राणों का धन है। उसमें उसे एक गम्भीरतर आनन्द मिलता है। वह एक अहैतुक पवित्र आनन्द है। इस बज्रसार आनन्द में वह नैराश्य को दूर रख देती है, मृत्यु से भी भय नहीं खाती। हमारे मरुपथ की एकमात्र संगिनी निष्ठा जिस दिन हमको पथ के अन्त पर पहुँचाती है, उस दिन वह भक्ति के हाथ में हमें सम्पूर्ण समर्पण करके अपने को उसकी दासीशाला में छिपाकर बैठ जाती है, कोई अहंकार नहीं करती, कोई दावा नहीं। सार्थकता के दिन अपने को अन्तराल में प्रच्छन्न करके रहने में ही उसको सुख है।

निष्ठा का कार्य

इतना ही नहीं है कि निष्ठा हमें शुष्क कठिन पथ पर होकर अक्लान्त अध्यवसाय में लगाकर ले चलती हो, वह हमें नितान्त सतर्क भी कर देती है। एक भाव में ही रोज चलते-चलते हमें शैथिल्य एवं अमनोयोग आ जाता है। निष्ठा कभी भूलने नहीं देती, वह हमें उकसाकर कहती रहती है, 'यह क्या हो रहा है', 'यह क्या करते हो'? वह याद दिलाती रहती है, 'यदि ठण्डे समय आगे नहीं बढ़ोगे तो धूप के समय कष्ट उठाओगे।' वह हमें स्पष्ट करा देती है, तुम्हारे जलाधार (पात्र) के छिद्र से जल गिरा पड़ रहा है, प्यास के समय क्या उपाय करोगे?

हम समस्त दिन कितने ही प्रकार से अपनी शक्ति का अपव्यय करते रहते हैं जिसका कोई ठिकाना नहीं, कितनी ही व्यर्थ बातों में, कितने ही व्यर्थ कार्यों में। निष्ठा तुरन्त स्मरण करा देती है, "जिस वस्तु को इस प्रकार बरबाद कर रहे हो, इससे बहुत-कुछ प्रयोजन है, जरा चुप रहो,

स्थिर रहो, इतना बढ़-बढ़कर मत बोलो, इतनी तीव्र गति मत बनाओ, जिस जल को पान करने के लिए यत्न से संचित करने की आवश्यकता है, उस जल में पैर डुबोकर बैठना कहाँ की बुद्धिमानी है !'

हम जब खूब आत्म-विस्मृत होकर एक तुच्छता के कूप में गले-गले तक डूब जाते हैं, तब भी वह हमें नहीं भूलती और कहती है, 'छिः, यह क्या किया ?' हमारे हृदय के पास ही वह निविष्ट है, वह अपनी दृष्टि किसी प्रकार हटाना नहीं चाहती।

सिद्धि-लाभ के निकट पहुँचने से प्रेम की सहज प्राज्ञता प्राप्त होती है, मात्रा-बोध फिर अपने-आप हो जाता है। सहज कवि जिस प्रकार स्वाभाविक ही छन्द रचना करता है, उसी प्रकार हम सहज में ही जीवन को आद्योपान्त सौन्दर्य के बीच विशुद्ध रूप में नियमित कर सकते हैं। उस समय स्खलन होना कठिन है। किन्तु रिक्तता के दिनों में आनन्द की सहज-शक्ति जब नहीं रहती, तब पद-पद पर यतिपतन (छन्द-भंग) होता रहता है। जहाँ रुकना नहीं चाहिए वहाँ आलस्य करने लगते हैं, जहाँ रुकना चाहिए वहाँ गति का वेग नहीं सँभाल सकते। तब कठोर निष्ठा ही हमारी एकमात्र सहायक होती है। उसे निद्रा नहीं, वह तो सदा जाग्रत रहती है। वह कहती है, "यह क्या हुआ जो क्रोध की एक रक्त आभा दिखाई पड़ी ! वह तो अपने को बड़ा करके दिखाने की एक चेष्टा है। यह तो कदाचित् शत्रुता का एक काँटा तुम्हारी स्मृति में चुभा रह गया है। क्यों, हठात् ही यह तुम्हारे अन्तर में इतना क्षोभ क्यों ?' रात्रि को सोने जाते समय जो पवित्र निर्मल निद्रा के कक्ष में प्रवेश करने में आनन्द तथा शान्ति होती है, तुम्हारे अन्तर में वह कहाँ है !

साधना के दिनों में निष्ठा की नित्य सतर्कता का स्पर्श ही हमारे लिए सबसे अधिक प्रधान आनन्द देने वाला होता है। इस निष्ठा का जितना ही भान होता है उतनी ही हृदय में निर्भरता अनुभव होती है। यदि किसी दिन आत्म-विस्मृति के दुर्योग में इसे न देख पाएँ तो विपत्ति समझो। जब तक चरम सुहृद न मिलें तब तक निष्ठा ही हमारे परम

सुहृद के रूप में रहती है। उनकी कठोर मूर्ति प्रतिदिन हमारे शुभ्र सौन्दर्य से मण्डित होकर सामने आती है, यह चाञ्चल्य-वर्जित भोग-विरत पुण्यश्री तापसिनी, हमारी रिक्तता के बीच शक्ति, शान्ति एवं ज्योति विकीर्ण करके दारिद्र्य को रमणीय बना डालती है।

गम्य स्थान के प्रति जब कोलम्बस का विश्वास सुदृढ़ हुआ, तब निष्ठा ने ही उसे पथचिह्नहीन अपरिचित समुद्र के पथ पर प्रत्यह भरोसा दिलाया था। उनके नाविकों के मन में यह विश्वास दृढ़ नहीं था, उन्हें समुद्र-यात्रा में भी निष्ठा नहीं थी। वह तो प्रतिदिन बाहर से ही कोई सफलता की मूर्ति देखने के लिए व्यस्त थे, कुछ भी दिखाई न पड़ने से उनकी शक्ति अवसन्न हो गई थी, इसीलिए जैसे-जैसे दिन बीतते गए, जितना ही समुद्र का शेष न मिलता था, उतना ही उनका अधैर्य बढ़ता गया। उन्होंने विद्रोह करने का उपक्रम किया और लौटना चाहा। तब भी कोलम्बस की निष्ठा ने बाह्य में कोई निश्चय-चिह्न न देखते हुए भी निःशब्द चलना पसन्द किया, किन्तु हुआ ऐसा कि नाविक लोगों को शान्त रखना अब कठिन हो गया। वे अब जहाज वापस ले जाने को उतारू थे। ऐसे समय चिह्न दिखाई दिए, सामने ही किनारा था, अब कोई सन्देह नहीं रहा। फिर सब ही आनन्दित हो उठे, सब ही उत्साह-पूर्वक बढ़ने को उतारू हो गए। तब कोलम्बस को सब ही बन्धु मानने लगे और सब ही उन्हें धन्यवाद देने लगे।

साधना की प्रथम अवस्था में कोई सहायक नहीं होता। सबको सन्देह दिखाई देता है। सब बाधा उपस्थित करते हैं। बाहर भी ऐसा कोई स्पष्ट चिह्न दिखाई नहीं देता, जिसे हम अपने सत्य विश्वास का स्पष्ट प्रमाण कहकर स्वयं को और दूसरों को पकड़कर दिखा सकें। उस समय समुद्र के बीच सन्देह और विरुद्धता होने पर निष्ठा का संग एक मुहूर्त भी त्यागना नहीं चाहिए। जब तीर के समीप आयेंगे, जब तीर के पक्षी तुम्हारे मण्डल के ऊपर उड़कर बैठेंगे, जब तीर के फूल समुद्र की तरंग पर नृत्य करेंगे, तब साधुवाद और आनुकूल्य का अभाव नहीं रहेगा।

किन्तु इस तत्काल (लम्बे समय) में प्रतिदिन केवल निष्ठा, नैराश्य-जयी निष्ठा, आघात-संचित निष्ठा, बाह्य-उत्साह-निरपेक्ष निष्ठा, निन्दा-अविचलित निष्ठा, किसी प्रकार से, किसी भी कारण से, यह निष्ठा हमारा त्याग नहीं करे। वह तो जैसे कम्पस की ओर देखती रहे, वह जैसे कर्ण को ही थामे बैठी रहे।

विमुखता

विश्वकर्मा महात्मा जो जनगण-हृदय के बीच सन्निविष्ट होकर कर्म करते हैं, वे अत्यन्त प्रच्छन्न रहकर कार्य करते हैं। उनका कार्य अग्रसर होता ही रहता है इसमें सन्देह नहीं, केवल वह कार्य चल रहा है या नहीं हमें ज्ञात न होने से हम निरानन्द रहते हैं। उस कार्य में जो कुछ हम योग दे सकते हैं वह न देने से ही हमारा जीवन तात्पर्यहीन सा लगता है। किन्तु विश्वकर्मा फिर भी अपने स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया के आनन्द में प्रतिदिन तथा प्रतिमुहूर्त कार्य करते ही रहते हैं। वे हमारे जीवन के एक सूर्य-करोज्ज्वल (प्रकाश से उज्ज्वल) दिन को चन्द्र-तारा-खचित रात्रि से बाँधते हैं और फिर उस ज्योतिष्कपुञ्जखचित रात्रि को एक दूसरे ज्योतिर्मय दिन के साथ बाँधते चले आ रहे हैं। हमारे जीवन की इस विचित्र रचना में उन्हें बड़ा आनन्द प्राप्त होता है। मैं यदि उनके साथ सहयोग देता तो मुझे भी बड़ा आनन्द प्राप्त होता। इस आश्चर्यमय शिल्प-रचना में कितने छिद्र करने होते हैं, कितनी जगह विद्ध करने होते हैं, कितने दग्ध करने होते हैं, कितने आघात करने होते हैं। उन सब आघातों के बीच ही विश्वकर्मा के सृजन के आनन्द में हमारा अधिकार पैदा हो जाता।

किन्तु अन्तर की गुहा में जहाँ आनन्दित होकर विश्वकर्मा दिन-रात बैठे हुए कार्य करते हैं, उस ओर तो हमने ताका भी नहीं, समस्त जीवन बाहर की ओर हाँ कहकर ताकते बिताया। दस आदमियों में उठे-बैठे, हँसी-दिल्लगी की, और सोचते रहे किसी प्रकार दिन कट

रहा है मानो दिन काटना ही दिन की प्राप्ति का उद्देश्य है। जैसे दिन से कोई लाभ नहीं।

यह तो इस प्रकार हुआ जैसे मानव-जीवन की नाट्यशाला में प्रवेश करके हम लोग, जिस ओर अभिनय हो रहा है उस ओर, मूढ़ के समान पीठ करके बैठ जायें। नाट्यशाला के खम्भे, चौकी और लोगों की भीड़ ही देख रहे हैं। फिर जब प्रकाश शान्त हो गया, यवनिका-पतन हुआ तो कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता, केवल निविड़ अन्धकार—तब प्रश्न उठता है कि यहाँ क्यों आये थे, टिकिट का व्यय भी क्यों किया, खम्भे और चौकियों से मतलब क्या है और इतने लोग यहाँ जमा क्यों हुए हैं ? बिलकुल एक धोखा है, सब अर्थहीन, बच्चों का खेल है। हाय रे भाग्य ! आनन्द का अभिनय जो मंच पर हो रहा था उसकी तो खबर ही नहीं लगी।

जीवन की आनन्द-लीला जो करते हैं वे तो भीतर रहकर ही करते हैं। उसके यह खम्भे, चौकी आदि तो बहिरंग-मात्र हैं। वे सब प्रधान सामग्री नहीं हैं। एक बार अन्तर की ओर आँख घुमाओ, तुरन्त ही समस्त अर्थ समझ में आ जायगा।

यह सब काण्ड समस्त अन्तर में ही खेला जा रहा है। यह अन्धकार हटकर अभी जो धीरे-धीरे सूर्योदय हो रहा है, यह क्या केवल तुम्हारे बाहर की घटना है ? यदि यह बाहर की होती तो तुम उसमें किस दिशा से प्रवेश करते ? विश्वकर्मा ने तुम्हारे चैतन्याकाश को इसी समय एकदम अरुण वरण में प्लावित कर दिया है। ध्यान से देखो, तुम्हारे ही अन्तर में तरुण सूर्य स्वर्ण पद्म की कलिकी के समान मस्तक उठाए है, थोड़ा-थोड़ा करके ज्योति की रश्मि चारों ओर छोड़ देने का उपक्रम कर रहा है तुम्हारे ही अन्तर में। यह है विश्वकर्मा का आनन्द। तुम्हारे जीवन की जमीन पर ही सुनहला, रुपहला और रंग-बिरंगा सूत लेकर अहरह इतनी बड़ी आश्चर्यमय बुनाई बुन रहे हैं, वह सब तुम्हारे भीतर ही, जो बिलकुल बाहर है वह तुम्हारा नहीं है।

इसलिए अब भी देखो। इस प्रभात को अपने अन्तर का प्रभात मानो, अपने ही चैतन्य में उनकी आनन्द-सृष्टि का निरीक्षण करो। यह और किसी का नहीं, और कहीं अलग नहीं—तुम्हारा प्रभात एकमात्र तुम्हारे ही अन्तर में हैं एवं वहाँ एकमात्र वह ही है। अपनी इस सुगम्भीर निर्जनता में, अपने अन्तहीन चिदाकाश में, उनकी यह अद्भुत विराट् लीला दिन-रात अविश्राम चल रही है। ऐसे आश्चर्य-प्रभात की ओर पीठ फेरकर उसे केवल बाहर देखने से आनन्द नहीं मिलेगा, कोई अर्थ प्राप्त नहीं होगा।

जब मैं इंगलैंड में था तो बालक ही था। लन्दन के कुछ दूर एक स्थान से मुझे निमन्त्रण मिला। मैं सन्ध्या-समय रेलगाड़ी पर सवार हुआ। शीतकाल था। उस दिन कुहेलिका से आच्छन्न दिशा थी और बरफ पड़ रहा था। लन्दन छोड़ने पर बाईं ओर स्टेशन आने लगे। जब गाड़ी ठहरती मैं खिड़की से सिर बाहर करके कुयाशालिप्त (कोहरे से ढकी) अस्पष्टता में किसी भी एक व्यक्ति को पुकारकर स्टेशन का नाम पूछ लेता। मेरा गम्य स्टेशन अन्तिम स्टेशन था। जब वहाँ गाड़ी ठहरी मैंने बाईं ओर ही देखा। उस ओर रोशनी नहीं, प्लेटफार्म नहीं, निश्चिन्त बैठा रहा। थोड़ी देर में गाड़ी फिर लन्दन के अभिमुख होकर लौटने लगी। मैंने कहा यह क्या हुआ? दूसरे स्टेशन पर जब गाड़ी रुकी तो मैंने पूछा, अमुक स्टेशन कहाँ है? उत्तर में सुना, वहीं से तुम आ रहे हो। जल्दी से उतरकर पूछा इसके बाद गाड़ी कब मिलेगी? उत्तर मिला, अर्ध-रात्रि को। गम्य स्टेशन दाहिनी ओर था।

हम लोग अपनी जीवन-यात्रा में केवल वाम ओर के स्टेशनों की खोज करके चलते हैं। दाहिनी ओर कुछ नहीं है, समझकर निश्चिन्त रहते हैं, एक के पीछे एक पार करते-करते जीवन बीतता है। जहाँ उतरना चाहिए वहाँ भी संसार की ओर उस वाम ओर ही देखते रहते हैं। देखते हैं समस्त अन्धकार, समस्त कोहरे की अस्पष्टता। जो सुयोग मिलता है वह खो बैठते हैं, गाड़ी लौट जाती है। जहाँ नियन्त्रित

होते हैं वहाँ का आमोद-आह्लाद अतीत हो जाता है। अब गाड़ी मिलेगी कब ? जैसा सुयोग मिला था, ठीक वैसा ही कब मिलेगा, किस अर्ध-रात्रि में ?

मानव-जीवन में होकर ही एक चरम स्थान पर पहुँच सकते हैं, यह ऐसा एक स्टेशन है। वहाँ यदि न उतरें, उसका प्लेटफार्म जिधर है उधर यदि न देखें, तो समस्त यात्रा हमारे लिए एक नितान्त कुहेलिकावृत्त निरर्थक व्यापार होगा, इसमें सन्देह ही क्या ? क्यों टिकिट के पैसे खरचे, क्यों गाड़ी में बैठे, अन्धेरी रात्रि में क्यों यात्रा की, यह सब क्या हुआ, कुछ समझ में नहीं आता। हमारा निमन्त्रण कहाँ का था, भोजन का आयोजन कहाँ हुआ था, क्षुधा हमारी कहाँ शान्त होगी, आश्रय मुझे कहाँ मिलेगा, इस प्रश्न का कोई उत्तर प्राप्त किये बिना ही हतबुद्धि होकर यात्रा समाप्त करनी होती है।

हे सत्य ! और कुछ नहीं चाहिए, जिधर आप हैं, जिधर सत्य है, उसी ओर हमारा मुँह फेर दो, क्योंकि हम असत्य की ओर ही देखते रहे हैं। आपने अपने आनन्द-लीला-मञ्च पर दीपावली कर रखी है, हम उसके उल्टी दिशा में देखकर और विचार कर मरते रहते हैं, यह समस्त काण्ड क्या है ? अपनी ज्योति की ओर हमें घुमाइये—हमें केवल मृत्यु ही दिखाई पड़ती है। उसका कुछ अर्थ ही समझ में नहीं आता, भय में ही मरे जा रहे हैं। ठीक उसके समीप ही अमृत है, उसमें सब अर्थ भरा है, यह बात हमें कौन समझायेगा ? हे आविः ! आप प्रकाश रूप में जो निरन्तर विद्यमान हैं, उसी प्रकाश की ओर हमारी दृष्टि नहीं रही। हम अभागे हैं। इसीलिए आपका स्वरूप हम देखते हैं, आपकी प्रसन्नता हमारी आत्मा को सदा परिवेष्टित किये हुए है यह जान ही नहीं पा रहे हैं। माता की ओर पीठ करके शिशु अन्धकार देखकर रोता हुआ जान देता है, एक बार घूमकर ही दिखाई देता है कि माता तो उसे आलिंगन ही किये बैठी है। अपनी प्रसन्नता की ओर ही हमें घुमा लीजिये, हे माता ! घूमते ही पता लग जायगा कि हम सदा सुरक्षित हैं, अनन्त

काल से सुरक्षित—नहीं तो अरक्षा के भय का क्रन्दन रुकेगा ही नहीं।

मरण

मनुष्य का ईश्वर के साथ एक अत्यन्त विचित्र ढंग की योग-रक्षा का मतलब दिखाई पड़ता है। जो जहाँ है उसे ठीक वहीं रखते हुए और उसके ही साथ वैसे ही ईश्वर को भी रखने की चेष्टा रहती है। उसमें कुछ भी उलट-पलट करना नहीं चाहता। ईश्वर से कहता है, "आप घर में आइए, किन्तु सब चीज बचाते हुए। कहीं मेरा काँच का फूल-दान न गिर जाय, घर में जगह-जगह जो अनेक गुड़ियाँ सजाकर रख छोड़ी हैं, वे टक्कर खाकर टूट न जायँ। इस आसन पर मत बैठियेगा, इस पर तो अमुक व्यक्ति बैठते हैं; इस जगह नहीं, क्योंकि यहाँ तो मैं अमुक कार्य करता हूँ; यह घर नहीं, इसको तो मैंने अमुक के वास्ते सजा कर रख छोड़ा है।" ऐसा करते-करते सबसे कम जगह एवं सबसे अना-वश्यक स्थान हम उनके लिए छोड़ते हैं।

मुझे याद पड़ता है, पिताजी के किसी भृत्य से बाल्य काल में एक गप्प सुनी थी कि वह जब पुरी तीर्थ-यात्रा को गया तो उसे बड़ी फिकर यह हुई कि जगन्नाथजी को चढ़ावा क्या चढ़ाये। उन्हें जो भेंट कर देगा, उसे वह फिर भोग नहीं कर सकता। इसीलिए जिस वस्तु को भी भेंट के लिए सोचता वही जँचती नहीं। उसका जिसमें अल्पमात्र भी लोभ था उसे पुरानी आदत के अनुसार देने के नाम उसका मन व्याकुल होने लगता। अन्त को विस्तार से सोच-समझकर वह जगन्नाथजी को एक सड़ा बैंगन चढ़ा आया। इसी चीज पर उसका सबसे कम लोभ था।

हम भी ईश्वर के लिए उतना ही छोड़ते हैं, जिसमें हमें सबसे कम लोभ हो, जो हमारे लिए नितान्त उद्वृत्त-से-उद्वृत्त (बचा-कुचा, बेकार) हो। ईश्वर के नाम वाले एक-दो मन्त्र पाठ कर लिये, दो-एक संगीत सुन लिये, जो अच्छी तरह से वक्तृता कर सकते हैं, उनकी नियमित वक्तृता सुन ली, मन बस पवित्र हो गया। मैंने ईश्वर की उपासना

कर ली ।

बस इसी को हम उपासना कहते हैं। जब विद्या की, धन की, मनुष्य की उपासना करते हैं, तो भी इतनी सरल नहीं होती, उस समय उपासना किसे कहते हैं, समझने में कसर नहीं रहती। केवल ईश्वर की उपासना ही, उपासनाओं में सबसे अधिक खिलवाड़ की वस्तु है।

इसके माने और कुछ नहीं, केवल यह है कि अपने अंश को सबसे बड़ा मानकर एक वृत्त बनाकर उसमें ईश्वर को एक π[1] (पाई) भर अंश में शरीक करके समझते हैं। मैं सकल दिशाओं से सुरक्षित हूं। हमारे देश में एक उक्ति प्रचलित है—"या द्वय लोक साधनी तनूभ्रतां सा चातुरी-चातुरी"। जिससे दोनों लोक सधें मनुष्य की वह चातुरी, चातुरी है।

किन्तु जो चातुरी दोनों लोकों की रक्षा का भार लेकर अन्त में उन दोनों लोकों में से एक लोक की बात ही न पूछे, उसकी चातुरी खतम हो लेती है। जो लोक हमारी तरफ का लोक होता है, अधिकांश उसके स्थल की सीमा नहीं, ज्ञात या अज्ञात, वह बढ़ता ही रहता है। ईश्वर के लिए वह एक पाई-भर जो जमीन रखी थी, यदि उसमें कोई पदार्थ है, यदि वह नितान्त बालुकामयी मरुभूमि नहीं है, तो थोड़ा-थोड़ा-सा हल चलाकर उसे अपना लेने की चेष्टा करते हैं। 'मैं' नामक एक बड़ा-सा पत्थर है, उसका भार बड़ा भयानक है। जिस ओर से भी उस 'मैं' को उठाना चाहें उस ओर से ही धीरे-धीरे समस्त उधर खिसक पड़ता है। यदि रक्षा चाहते हो तो उसे एकदम जल में फेंकने में ही भलाई है।

असल बात यह है कि यदि सब-का-सब ही ईश्वर को दे सकें तो दोनों लोकों की रक्षा हो सकेगी, चातुरी से नहीं। उनमें ही दोनों लोक हैं। अपने को उन्हीं के बीच यदि ले जायँ तो एक साथ ही उनको और अपने को, दोनों को प्राप्त कर सकेंगे और उनके साथ यदि भाग-विभाग

१. ग्रीक अक्षर।

करें, सीमा बनायें, पट्टा लिखाकर काम करना चाहें, तो वह एकदम पक्का काम नहीं, वह तो विषय-कर्म का नामान्तर है, जो विषय-कर्म की गति वही उसकी, अर्थात् उसमें नित्यता के लक्षण नहीं हैं, उसमें विकार उत्पन्न होता है एवं क्रमशः मृत्यु दिखाई पड़ती है।

समस्त चातुरी छोड़कर ईश्वर को सम्पूर्ण आत्म-समर्पण करना होगा, यही बात पक्की करनी है। हमें दोनों की आवश्यकता नहीं है, हमारे लिए एक ही अच्छा। हमारी अन्तरात्मा में सती का एक लक्षण है, वह चतुरा नहीं होती, वह यथार्थ में दो नहीं चाहती, वह चाहती है एक को ही। वह एक को पाकर समस्त को प्राप्त करती है।

एकाग्रचित्त से उसी एक की साधना करूँगा, किन्तु कठिन संकट यह है कि उसके लिए आज पर्यन्त कोई आयोजन नहीं किया। उस परम को दूर रखकर ही समस्त व्यवस्था होती रही। जीवन इस भाव में बन चुका है कि किसी प्रकार ठूँस-ठाँसकर भी उनके लिए जगह निकाल लेना बिलकुल असम्भव हो गया है।

पृथ्वी पर और सब जगह हिसाब में कोई-न-कोई विध बिठा सकते हैं, जहाँ पाँच आदमियों का बन्दोबस्त है, वहाँ छः को घुसेड़ देना कोई बहुत मुशिकल चीज नहीं। किन्तु उनके सम्बन्ध में किसी प्रकार की घपलचौथ करना बिलकुल ही सम्भव नहीं। उनके पास 'पुनश्च निवेदन' करें ऐसी सामग्री नहीं। उनको यदि आदि से ही भूलता रहूँ, और शुरू में ही यदि भूल संशोधन न कर लूँ, तो फिर कोई उपाय नहीं। जो हो गया सो हो गया, अब तो किसी प्रकार काम चला लो, यह बात उनके सम्बन्ध में कभी लागू नहीं होगी।

ईश्वर-विवर्जित जो जीवन तैयार किया है उसका आकर्षण कितना प्रबल है, वह उसी समय समझ में आएगा जब उनकी ओर अग्रसर हों। जब उनके मध्य में ही बैठा हूँ, वह मुझे बाँधे हैं, यह समझ में ही नहीं आ सकता। किन्तु प्रत्येक अभ्यास, प्रत्येक संस्कार कितना कठिन ग्रंथि है। ज्ञान में उसे कितना ही तुच्छ क्यों न मान लो, व्यवहार में

उससे छूटना अति कठिन है। एक से छूटे तो पीछे और पाँच खड़े हैं।

संसार को चरम आश्रय मानकर, इतने दिन से बहु यत्नपूर्वक एक-एक करके, दिन-प्रतिदिन अनेक वस्तुएँ संग्रह कर रखी हैं, उन प्रत्येक के बीच में कितनी जड़ें जम गई हैं कि जिनका ठिकाना नहीं, वे सब हमारी ही हैं। उनमें से एक को भी स्थान-च्युत करने से विचार होता है कि इसके बिना बचेंगे कैसे ? ये वस्तुएँ बचाने वाली नहीं हैं यह भी मुझे खूब पता है, तब भी जीवन के यह चिर-संस्कार उनको प्राणपण से कसके पकड़कर कहते हैं, 'इनके न रहने से हम कैसे जीवित रहेंगे ?' धन को अपना कहने का तो नितान्त ही अभ्यास हो गया है। उसका ठीक तोल आँकने की शक्ति ही आज हममें कहाँ है। बहु दीर्घकाल से 'मैं' के भार से वह धन पर्वत के समान भारी हो उठा है, उसे तनिक भी हिलाने का प्रयास करने से पंजर ढीले हो जाते हैं।

इसीलिए भगवान् यीशु ने कहा है कि धनी व्यक्ति के लिए मुक्ति प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। धन का अर्थ यहाँ केवल पैसा नहीं—जीवन जिस किसी को भी दिनों-दिन अपना-अपना कहकर संचय करता रहता है, जिसको भी वह अपना कहकर मानता है और अपनी ही ओर खींचकर रखता है, वह चाहे धन हो अथवा ख्याति हो, चाहे पुण्य भी क्यों न हो।

और तो क्या, इस पुण्य का संचय भी कम बाधा नहीं खड़ी करता। उसका एक भाव है, जिसके द्वारा वह जो-कुछ प्राप्त करता है सब ईश्वर को अर्पण करता है। लोक-हित हो रहा है, त्याग हो रहा है, कष्ट भी स्वीकार हो रहा है, अतएव और दूसरी भावना नहीं, मेरे समस्त उत्साह ईश्वर के उत्साह, समस्त कर्म ईश्वर के कर्म। किन्तु इन सबके बीच में अनेक चीजें अपने लिए जो जमा करते हैं उसका खयाल मात्र ही नहीं।

जैसे मन में सोचो हमारा यह विद्यालय है। क्योंकि यह मंगल-कार्य है, इस कारण इसका कोई हिसाब देखने की आवश्यकता नहीं, जैसे यह

सभी ईश्वर के खाते में जमा हो रहा हो। प्रतिदिन हम गबन करते रहते हैं और उसका कोई निशान भी नहीं रहने देते। यह विद्यालय हमारा विद्यालय है, इसकी सफलता में हमारी सफलता है, इसके द्वारा हम हित कर रहे हैं—इसी प्रकार से धीरे-धीरे इस विद्यालय की ओर हमारी पूँजी जमा हो रही है। वह संग्रह हमारा अवलम्बन बन गया है, वह एक विषय सम्पत्ति के समान बन जाता है। इसी कारण उसके लिए लड़ाई-झगड़ा, खींचातानी हो सकती है। उसके लिए मिथ्या साक्षी खड़ा करने की भी इच्छा होती है। फिर यह डर लगता है कि कोई बाद को हमारी त्रुटि पकड़ न ले, लोगों के सामने अनिन्दनीयता का प्रमाण हो सके, इसलिए विशेष भाव में लीपा-पोती कर देने का आग्रह जन्म लेता है। क्योंकि यह सब हमारा अभ्यास, हमारा खाद्य, हमारा नशा बन चुका है, इससे यदि ईश्वर ही बचाए तो बचें, नहीं तो समस्त प्राण व्याकुल हो जाता है। प्रतिदिन के अभ्यास द्वारा विद्यालय से जो अंश अपना भाग समझकर संचय कर रहे हैं उसे जरा हटाकर देखो, तो मालूम पड़ेगा कि जैसे उसका और कोई आश्रय है ही नहीं। ईश्वर आश्रय है यह विचार पैदा ही नहीं होगा।

इसलिए सञ्चयी के लिए एक कठिन समस्या है। वह संचय को ही चरम आश्रय मानने का अभ्यास करके बैठा है, ईश्वर को चारों दिशाओं में सत्य मानकर अनुभव नहीं कर सकता, अन्त तक वह अपने सञ्चय को चिपटाये बैठा रहता है।

दीर्घकाल से जो अनेक सञ्चय किये बैठे हैं, उसमें से कुछ भी कमी करने की इच्छा नहीं होती। उसके वास्ते मन में एक चतुर हिसाबी, जो कान में कलम लगाकर बैठा है, वह यही परामर्श देता है, कुछ कमी करने की आवश्यकता नहीं, इसी के बीच में किसी प्रकार ईश्वर को थोड़ी-सी जगह दे देने से चल जायगा।

नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, उससे अधिक असाध्य और कुछ नहीं। तो कर्तव्य क्या है? एक बार सम्पूर्ण मौत देखनी है—तब ही नये सिरे

से भगवान् में जन्म लेना कहलाता है। एकदम नये सिरे से, मरकर।

यह अच्छी प्रकार से जान लेना होगा कि जो जीवन हमारा था, उसके सम्बन्ध में हमारी मृत्यु हो गई है। मैं वह नहीं हूँ जो था, और जो मेरा था वह भी कुछ नहीं। मैं धन के लिए, ख्याति के लिए, आराम के लिए मृत हूँ, केवल जीवित हूँ भगवान् के लिए। नितान्त सद्योजात शिशु के समान निरुपाय, असहाय, अनावृत्त, होकर उनकी कोख से जन्म लिया है। उन्हें छोड़ कोई गति नहीं। इसलिए उनकी सन्तान होकर जन्म लेना सम्पूर्ण भाव में शुरू कर दो, किसी भी वस्तु पर ममता मत रखो।

पुनर्जन्म से पूर्व की यह मृत्यु-वेदना है। जिसे निश्चित चरम माना था, अत्यन्त सत्य समझ रखा था, एक-एक करके, थोड़ा-थोड़ा करके, उससे अपने को विच्छिन्न करना होगा। आओ, मृत्यु, आओ, आओ, अमृत के दूत, आओ।

आओ अप्रिय विरस तिक्त,
आओ हे अश्रु-सलिल सिक्त,
आओ हे भूषणविहीन रिक्त,
आओ हे चित्त पावन।
आओ हे परम दुःख निलय,
आशा अंकुर करो विलय,
आओ संग्राम आओ महाजय,
आओ हे मरण साधन॥

फल

भीतरी साधना जब आरम्भ हो जाती है, तो बाहर उसके कई एक लक्षण प्रकाशित होने लगते हैं। वे लक्षण किस प्रकार के हैं, यह मैं एक उपमा के सहारे व्यक्त करने की चेष्टा करता हूँ।

वृक्ष के फल की, मनुष्य बराबर अपनी सार्थकता के साथ तुलना

करता आया है। वस्तुतः मनुष्य की लक्ष्य-सिद्धि का मनुष्य की चेष्टा के परिणाम के साथ सादृश्य यदि जगत् को किसी वस्तु से है तो वह वृक्ष के फल से। अपने कर्म के रूप को, अपने जीवन के परिणाम को, मानो फल में हम चक्षु से प्रत्यक्ष देख सकते हैं।

जैसे फल समस्त वृक्ष का अन्तिम लक्ष्य है, परिणत मनुष्य उसी प्रकार समस्त संसार-वृक्ष का अन्तिम लाभ है।

किन्तु मनुष्य में परिणति आरम्भ हो गई इसका लक्षण क्या है ? एक आम का फल पक रहा है इसका लक्षण क्या है ?

सर्वप्रथम देखने से उसके एक प्रान्त में रंग बदलना आरम्भ होता है फिर उसका श्याम-वरण कम होते-होते सुवर्ण हो जाने की चेष्टा होती है। हमारे अन्तर में भी जब परिणति आरम्भ होती है तो बाहर उसकी दीप्ति दिखाई देती है। किन्तु सब जगह समान नहीं, कहीं काला और कहीं स्वर्णिम। उसके सकल कार्य और सकल भाव उज्ज्वलता को प्राप्त नहीं करते, यहाँ-वहाँ ज्योति दिखाई पड़ती रहती है।

अपने ही पत्तों के साथ जो वर्ण-सादृश्य था वह क्रमशः कम होता जाता है। चारों ओर आकाश का जो रंग है उसी रंग के साथ उसका मेल हो जाता है। जिस वृक्ष पर उसका जन्म हुआ, उसी वृक्ष के साथ अपने रंग का पार्थक्य अब उससे किसी प्रकार संवरण नहीं होता। चारों दिशाओं की निविड़ श्यामलता के आच्छादन में से बाहर के आकाश में प्रकाश पाकर सामने आ जाता है। उसके बाद उसका बाह्य अंग कोमल होने लगता है। पहले बड़ा सख्त था, किन्तु अब वह कठोरता जाती रही। दीप्तिमय, सुगन्धमय कोमलता आ गई।

पूर्व जो रस था उसमें तीव्र आम्लता थी, अब सब-का-सब माधुर्य से परिपूर्ण हो गया, अर्थात् अब उसका बाहरी पदार्थ समस्त बाहर का ही हो गया, सबके भोग के योग्य, सबको आह्वान करता है, किसी के लिए भी बाधा उत्पन्न नहीं करता। सबके लिए वैसा ही कोमल तथा सुन्दर है। गम्भीरतर सार्थकता के अभाव में ही मनुष्य की तीव्रता

और कठिनता इतना उग्र भाव धारण कर लेती है, आनन्द की दैन्यता से उसकी दैन्यता है, इसी कारण वह बाहर पर आघात करने को उद्यत होता है।

उसके पश्चात् उसके भीतर की जो असल वस्तु है, उसकी कठोर गुठली जो बाहर दिखाई नहीं देती, उसके साथ उसके बाह्य अंश की एक विश्लिष्टता (पार्थक्य) होती रहती है। बाहर का उसके लिए नित्य पदार्थ नहीं है, वह क्रम से स्पष्ट हो जाता है। उसके शस्य अंश (फल के गूदे का अंश) के साथ उसका छिलका पृथक् होता रहता है। छिलके को अनायास ही गूदे से अलग कर सकते हैं, और फिर उसके गूदे और गुठली से उसे आसानी से अलग किया जा सकता है। उसका डण्ठल अभी तक जो वृक्ष को पकड़े था, वह भी अलग हो जाता है। वृक्ष के साथ अब वह अत्यन्त एकता का सम्बन्ध नहीं रखता, बाह्य आच्छादन के साथ भी अपनी भीतर की गुठली को अब नितान्त एकाकार करके रखे हुए नहीं है।

साधक भी उसी प्रकार अपने भीतर अमरत्व को प्राप्त करता है, वह जब सुदृढ़, सुसम्पूर्ण हो जाता है, तो उसका बाह्य पदार्थ क्रमशः शिथिल होता जाता है। तब प्राप्ति तो करता है, भीतर और देता है बाहर।

उसे फिर भय नहीं रहता, क्योंकि फिर उसे बाहर की क्षति से भीतर की क्षति नहीं होती। फिर गूदे को गुठली पकड़े नहीं रहती। गूदा काट देने पर गुठली की मृत्यु नहीं हो जाती। फिर पक्षी टोंग मार दे तो भी क्षति नहीं, आँधी के आघात से भी कोई विपत्ति नहीं, और वृक्ष यदि सूख भी जाय तो कोई हानि नहीं। कारण यह कि फल फिर अपने अमरत्व को निश्चित रूप से अपने अन्तर में प्राप्त करके वह 'अति मृत्युमेति'। तब वह अपने को नित्यता के सत्य में अनुभव करता है। अनित्यता के बीच फिर अपने को अनुभव नहीं करता, अपने को वह गूदा नहीं समझता, खोखला छिलका नहीं समझता, डंठल भी नहीं

समझता, इसलिए अब गूदे, छिलके और डंठल के लिए उसमें कोई भय की भावना ही नहीं रह गई।

इस अमृतत्व को अपने अन्तर में विशेष रूप में प्राप्त करने की एक आवश्यकता है। इसीलिए उपनिषदों में बारम्बार कहा है, अमरता लाभ करने की एक विशेष अवस्था है। "य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति।"

भीतर जब अमृत का संचार होता है तब अमरात्मा बाहर का एकान्त रूप में भोग करना नहीं चाहता। तब उसका जो गन्ध, जो वर्ण, जो रस या जो आच्छादन है उसमें उसका अपना कोई निजी प्रयोजन नहीं, क्योंकि वह समस्त के बीच ही एकान्त निर्लिप्त है, इसके अच्छे-बुरे से उसका कोई सम्पर्क नहीं, इससे वह किसी वस्तु के लिए प्रार्थना नहीं करता।

अन्तर में प्राप्ति और बाहर दान करता रहता है, भीतर दृढ़ता और बाहर कोमलता, भीतर से वह नित्य सत्य का और बाहर से विश्व-ब्रह्माण्ड का, भीतर से पुरुष, बाहर से प्रकृति। फिर बाहर उसका अपना कोई प्रयोजन न रहने से पूर्ण भाव में बाहर के प्रयोजन की साधना करता है, तब वह फल-भोगी पक्षी का धर्म त्यागकर फलदर्शी पक्षी का धर्म ग्रहण कर लेता है, फिर अपने-आप ही अपने को समाप्त करके, सबके लिए निर्भय और निःसंकोच होकर अपने को समर्पण कर सकता है। फिर जो-कुछ भी है उस समस्त प्रयोजन से अतीत होने के कारण सभी उसका ऐश्वर्य बन जाता है।

सात....

सत्य का दर्शन

सृष्टिकर्ता को उनकी सृष्टि के बीच ही हम ध्यान में लाते हैं। भूर्भुवः स्वः के उच्चारण के साथ ही सृष्टि आरम्भ हो जाती है, सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, तारा आदि प्रति मुहूर्त ही उनसे प्रकाश पा रहे हैं, हमारा चैतन्य प्रति मुहूर्त उनसे प्रेरणा पा रहा है, उन्हीं का अवतरित प्रकाश हो रहा है। यह है हमारा ध्यान।

इस दर्शन को ही सत्य का दर्शन कहते हैं। हम समस्त घटनाओं को केवल बाह्य घटना समझते हैं। उससे हमें कोई आनन्द नहीं मिलता, वह हमारे लिए पुरातन होकर स्वयं-चालित कल का-सा आकार धारण कर लेता है, इसलिए पत्थर के रोड़े पर से जैसे स्रोत बहता रहता है, उसी प्रकार जगत्-स्रोत हमारे मन के ऊपर होकर अविश्राम बहता रहता है। चित्त पर उसका कोई असर नहीं, चारों ओर के दृश्य तुच्छ एवं दिन अकिञ्चित्कर दिखाई देते हैं। इसीलिए कृत्रिम उत्तेजना एवं नाना वृथा कर्मों की सृष्टि द्वारा हम चेतना को जाग्रत रखकर आमोद प्राप्त करते हैं।

जब तक केवल घटनाओं की ओर देखते रहते हैं तब तक ऐसा ही होता है। उसमें हमें कोई रस नहीं मिलता, खाद्य भी नहीं। वह केवल हमारी इन्द्रियों को, मन को, हृदय को कुछ दूर-पर्यन्त अधिकार में रखता है, अन्त तक नहीं पहुँचाता। इसलिए उसमें जो-कुछ थोड़ा-बहुत रस होता है वह ऊपर से ही सूखने लगता है, वह हमारी गम्भीरतर चेतना को उद्बोधित नहीं करता। सूर्य उदय होता है होने दो, नदी बहती है तो बहने दो, वृक्षादि बढ़ रहे हैं तो बढ़ने दो, प्रतिदिन जो कार्य सम्पन्न

हो रहा है तो होने दो । इसलिए कोई ऐसा दृश्य देखने की इच्छा रहती है जो प्रतिदिन नहीं देखते, ऐसी कोई घटना जानने के लिए कौतूहल उठता है जिसका हमारी अभ्यस्त घटना के साथ मेल न हो ।

किन्तु जब हम सत्य को जान जाते हैं तो हमारी आत्मा परितृप्त हो जाती है । सत्य चिर-नवीन होता है, उसका रस अक्षय है । समस्त घटनावली के बीच उस अन्तरतम सत्य का दर्शन करके दृष्टि सार्थक होती है । फिर समस्त जगत् महत्त्व, विस्मय और आनन्द से परिपूर्ण हो उठता है ।

इसलिए अपने ध्यान के मन्त्र में हम प्रतिदिन अनन्त (कम-से-कम) एक बार समस्त विश्व-व्यापार के बीच विश्व के उन परम सत्य का ध्यान करने की चेष्टा करते रहते हैं । घटना-पुञ्ज के मध्य जो एक मूल शक्ति है, उसके दर्शन करने के लिए दृष्टि को अन्तर की ओर घुमाते हैं । उस समय दृष्टि के ऊपर से जगत् का आवरण नष्ट हो जाता है, जगत् एक यन्त्र की भाँति हमारे अभ्यास का कक्ष बनकर खड़ा नहीं होता, प्रति मुहूर्त यह अनन्त आकाश-व्यापी प्रकाण्ड प्रकाश एक ज्ञानमय सत्य से निःसृत होता रहता है, विकीर्ण होता रहता है । इसी का अनुभव प्राप्त करके हमारी चेतना परिपूर्ण हो जाती है । उस समय अग्नि, जल, औषधि, वनस्पति के बीच खड़े होकर कह सकते हैं, अनन्त ज्ञान, अनन्त ब्रह्म, सर्वत्र आनन्द-रूप में, अमृत-रूप में, उन्हीं का प्रकाश है ।

अगण्य घटनाओं को अगण्य घटनाओं के रूप में देखकर ही नहीं रह जाऊँगा, उनके बीच में अनन्त सत्य को स्थिर होकर स्तब्ध होकर देखूँगा, इसीलिए हमारे ध्यान का मन्त्र गायत्री है ।

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धीयो यो नः प्रचोदयात् । अर्थात् भूलोक, भुवलोक, स्वर्लोक की जिन्होंने नियमित सृष्टि की है, उन ही देवता की वरणीय शक्ति का ध्यान करें, जो हमारी धी शक्ति को भी नियमित रूप से प्रेरणा देती रहती है ।

सृष्टि

हम लोग जो थोड़े-से मनुष्य यहाँ प्रार्थना करने बैठते हैं, यह भी एक सृष्टि ही है। इसके बीच भी वह सविता हैं।

हम कहते थे, यह सब ऐसे ही बन गया है। हममें से दो-चार ने परामर्श किया, फिर एकत्र होकर बैठ गए, उसके बाद रोज-रोज वैसा ही हो रहा है।

घटना चाहे यही हो, किन्तु सत्य यह नहीं है। घटना के विचार से यह सामान्य-सा व्यापार है, किन्तु सत्य के विचार से यह एक बड़ा आश्चर्य है, प्रतिदिन वही आश्चर्य। सत्य बीच में आकर नाना अपरिचित लोगों को नाना दिशाओं से खींचकर एक उपासना-मण्डली की निरन्तर रचना कर रहे हैं। हम सोचते हैं कि हमारे यहाँ थोड़ी-सी देर बैठकर काम चल जायगा, उसके पीछे अन्य कार्यों में लग जायँ, बस इतना पर्याप्त है। किन्तु यह तो कोई छोटा काम नहीं। हम जब पढ़ते हैं, खाते हैं, घूमते हैं, तब भी हमारी इस मण्डली के सृष्टि-कर्ता इसी सृष्टि का कार्य करते रहते हैं। वह 'जनानां हृदये संन्निविष्टः' विश्वकर्मा हमारे मध्य कार्य करते ही रहते हैं, वह हमारे कई-एक भिन्न-भिन्न पुरुषों में भिन्न भाव में उनके लिए उपकरण तैयार करते हैं, जैसे कोई उनको अन्य कार्य ही नहीं है। जैसे विश्व की सृष्टि करना जितना बड़ा कार्य है, उतना ही बड़ा यह भी। हमारे इस उपासना-लोक की सृष्टि बराबर होती ही रहती है। होती ही है दिन-रात और रात-दिन। जब हम सोते रहते हैं तो भी होती है, जब हम भूले हुए हों तो भी होती है। सत्य जहाँ हो वहाँ या तो कुछ भी नहीं होता या एक क्षण के लिए भी विराम होना अशक्य है।

विश्व-भुवन में एक 'सत्य' है, इसीलिए प्रतिदिन विश्व-भुवन को यथास्थान और यथानियम में हम पाते हैं। हम लोगों में भी यह 'सत्यं' कार्य कर रहे हैं, इसीलिए प्रतिदिन प्रातःकाल यहाँ आकर बैठ जाते हैं।

विश्व-भुवन भी उसी एक सत्य की प्रदक्षिणा करके प्रणाम करता है। जहाँ हमारी दूरबीन नहीं पहुँच सकती, मन नहीं पहुँच सकता, वहाँ भी कितने ज्योतिर्मय लोक उन्हें वेष्टन करके कहते हैं, 'नमो नमः'। हम भी उसी प्रकार अपने उपासना-लोक के सत्य को वेष्टन करके बैठे हैं…जो लोक-लोकान्तर के बीच बैठे हैं, वही इस प्रांगण में बैठे हैं। वह केवल हमारे मध्य ही चैतन्य विकीर्ण नहीं कर रहे, हमारे में से कई जनों द्वारा जो विशेष कार्य हो रहे हैं उन्हें भी शक्ति प्रदान कर रहे हैं। हममें से कई लोगों के मन को विशेष व्यापार में नाना प्रकार से लगा रहे हैं, हममें से कई लोगों के प्रकृति-संस्कार तथा शिक्षा के नाना वैचित्र्य को वह एक ही क्षण ऐक्य में सूत्रपात करते हैं एवं जब यहाँ से उठकर अन्यत्र चले जायँगे तब भी वह अपने इस कार्य से विश्राम नहीं लेंगे।

अपने अन्तर के इस सत्य का, अपने उपासना-जगत् के इस सविता का, यहाँ ही प्रत्यक्ष दर्शन करके जायँगे, उनकी प्रदक्षिणा करके उन्हें एक संग प्रणाम करके जायँगे। हम प्रत्यह यह जानकर जायँगे कि सूर्य, चन्द्र, ग्रहतारा जिस प्रकार उनकी अनन्त सृष्टि है, उसी प्रकार हम लोग, जो कुछ यहाँ बैठे हैं, वह भी उनकी वैसी ही सृष्टि है। इस कार्य में उनका अविराम आनन्द प्रकाश पा रहा है, उसी प्रकाशक के दर्शन करके हम जायँगे।

मृत्यु व अमृत

सम्प्रति (हाल में) मेरे एक बन्धु की अकस्मात् मृत्यु हो गई। इसी उपलक्ष्य में जगत् में जो सबसे अधिक परिचित वस्तु—मृत्यु है, उसके साथ एक बार फिर नया परिचय हो गया।

जगत् हमसे शरीर से चमड़े की तरह अत्यन्त चिपटा हुआ था, बीच में कोई अन्तर नहीं था। जब मृत्यु प्रत्यक्ष आई तो वह जगत् हमसे दूर हो गया और प्रतीत हुआ कि जैसे वह हमसे अत्यन्त संलग्न था ही नहीं।

इस वैराग्य द्वारा आत्मा को अपने स्वरूप का कुछ अनुभव हुआ।

वह जगत् से एकदम अच्छेद्य भाव में जड़ित नहीं है, उसकी एक स्वकीया प्रतिष्ठा है, मृत्यु से जो शिक्षा मिली उससे यह अनुभव हुआ।

जिनकी मृत्यु हुई वह भोगी थे एवं उनके ऐश्वर्य का भी अभाव नहीं था। उनका वह भोग का जीवन और भोग का आयोजन केवल उन्हीं को सत्य नहीं लगता था, सर्वसाधारण को भी प्रतीयमान हो रहा था। जिसने कितने प्रकार की सजधज से, चमक-दमक से, लोगों के चक्षु तथा कर्णों को ईर्ष्या और लुब्धता में आकृष्ट करके सिर ऊँचा कर रखा था, वह एक क्षण में ही श्मशान की मुष्टि-मात्र भस्म में अनादृत होकर लुप्त हो गया।

संसार कितना मिथ्या है! वह केवल स्वप्न है, केवल मरीचिका है। निश्चित मृत्यु को स्मरण करके, शास्त्र इसी बात पर विचार करने के लिए बार-बार उपदेश करते हैं, नहीं तो हम कुछ भी त्याग नहीं कर सकते, एवं भोग के बन्धन में जड़ित होने से आत्मा अपने विशुद्ध स्वरूप को उपलब्ध नहीं कर सकता।

किन्तु संसार को मिथ्या मरीचिका बताकर, त्याग को सहज बनाकर, मानने में भी न सत्य है न गौरव। जिस देश में हमारा सिक्का चलता ही न हो उस देश में यहाँ के सिक्के के बोझ को जंजाल मानकर मिट्टी में फेंक देना कोई औदार्य नहीं है। किसी प्रकार संसार को एकदम अलीक (मिथ्या) मानकर उसे यथार्थ सप्रमाण कर सकें तो धन-जन-मान मन से हटकर एकदम शून्य में विलीन हो जायँगे।

किन्तु इस प्रकार से छोड़ देना, फेंक देना, नितान्त एक विरक्तता-मात्र है। वह स्वप्न-भंग के समान है।

वस्तुत: संसार तो मिथ्या नहीं, जबरदस्ती उसे मिथ्या कहने से फायदा क्या? जो चला गया वह चला तो अवश्य गया, किन्तु संसार में उसके बिना किसी क्षति का लक्षण नहीं। सूर्य के आलोक में कोई कालिमा नहीं पड़ी, आकाश की नील निर्मलता में मृत्यु के चक्र से कोई क्षति की एक रेखा भी नहीं खिंच सकी, अन्तहीन संसार की धारा आज भी पूर्ण वेग से

चल रही है ।

तब असत्य है क्या ? इस संसार को ही अपना बताना । इसके एक सूच्यग्र, बिन्दु-मात्र को भी अपना कहकर, हम पकड़कर नहीं रख सकेंगे। जो व्यक्ति जीवन-पर्यन्त 'मेरा' के ऊपर समस्त वस्तुओं की प्रतिष्ठा करना चाहता है, वह बालू के ऊपर अपना घर बना रहा है । जब मृत्यु ठोकर लगाती है तो समस्त धूलि-धूसरित हो पड़ता है ।

'मैं-मैं' करने वाला कंगाल सभी वस्तुओं को जाल में रखना चाहता है, सबको ही अपनी मुट्ठी में देखना चाहता है, मृत्यु केवल उसे ही धोखा देती है, वह तब मन में दुखी होकर, समस्त संसार को 'धोखा' कहकर गाली देता है, किन्तु संसार तो जैसा-का-तैसा ही रहता है, मृत्यु उसके शरीर पर एक खरोंच भी नहीं मार सकती ।

अतएव मृत्यु को कहीं एक जगह देखने के पश्चात् सर्वत्र उसे देखना मन का एक विकार है । वास्तव में जहाँ अहं है वहीं मृत्यु का हाथ पहुँच सकता है, और कहीं नहीं । जगत् कुछ भी नहीं खोता, खोता है तो केवल अहं को ही ।

अतएव हमें जो देना हो तो किसे दें ? संसार को ही दें, अहं को नहीं । कारण है कि संसार को देने से ही सत्य को देना है, और अहं को देना मृत्यु को देना है । संसार को जो देंगे, संसार उसे रखेगा, अहं को जो देंगे वह शत चेष्टा करने पर भी नहीं रख सकेगा ।

जो व्यक्ति भोगी होता है वह अहं की हाथ जोड़कर पूजा करता है, वह जीवन-पर्यन्त इस अहं का ही मुँह ताकते मरता है । मृत्यु के समय वह भोगस्फीत, क्षुधार्त अहं कपाल पर हाथ धरकर कहता है—'सभी पड़ा रह गया, कुछ भी ले जा नहीं सका ।'

मृत्यु का विचार करके इस अहं को यदि चिरन्तन न समझें तो भी यथेष्ट प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि इस प्रकार के वैराग्य से केवल शून्यता ही मिलती है । उसके साथ यह भी जानना होगा कि यह संसार तो टिकेगा ही, अतएव मुझे जो-कुछ देना हो उसे शून्य में त्याग के रूप में

देना बेकार है, संसार में उसे दान के रूप में देना चाहिए। इस दान द्वारा आत्मा का ऐश्वर्य प्रकाशित होगा, त्याग द्वारा आत्मा अपने लिए लेना कुछ भी नहीं चाहता, वह केवल देना ही चाहता है, इसी में उसका महत्व है। संसार उसके दान का क्षेत्र है एवं अहं उसके दान की सामग्री।

भगवान् इस संसार में केवल अपने को दान कर रहे हैं, अपने लिए वह कुछ भी नहीं लेते। हमारा आत्मा भी भगवान् के उसी स्वभाव को पाकर सत्य का लाभ करता है। वह भी संसार में भगवान् के पास उनके सखा-रूप में खड़े होकर संसार के लिए उत्सर्ग करेगा, अपने भोग के लिए लालायित होकर समस्त अपनी ओर नहीं खींचेगा। इस देने में ही अमृत और लेने में ही मृत्यु। पैसा, कौड़ी, शक्ति, सामर्थ्य समस्त ही सत्य हैं यदि उन्हें दान कर दें, और समस्त ही मिथ्या है यदि उसका संग्रह करना चाहें। यह बात जब हम भूल जाते हैं तो सब उल्टा-पल्टा हो जाता है, तब ही शोक, दुःख, भय, तब ही काम, क्रोध, लोभ। तब ही स्रोत के मुख में जो नौका हमें आसानी से वहन करके ले जाती, वजन के मारे प्राण-पण से वहन करने के लिए उसे ठेला-ठेली, खींचातानी करके मारना पड़ता है। जो वस्तु स्वभावतः देने की हो, उसे संग्रह की चेष्टा करने का यही पुरस्कार होता है। जब यह विचार करते हैं कि हम लेते हैं तो उसे दे देते हैं मृत्यु को, एवं उसके साथ शोक, चिन्ता, भय, प्रभृति मृत्यु के अनुचरों को उनकी खुराक-स्वरूप अपने हृदय के रक्त से जीवित रखते हैं।

नाव की लदाई

'सोने की नाव' शीर्षक मैंने एक कविता लिखी थी, इसी उपलक्ष्य में उसका अर्थ यहाँ बताया जा सकता है।

मनुष्य समस्त जीवन-भर फसल तैयार करता है। उसका जीवन-रूपी खेत द्वीप के समान है, चारों ओर से अव्यक्त द्वारा वेष्टित, बस वही थोड़ा-सा उसके लिए व्यक्त है। इसीलिए गीता में कहा है—

"अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्त मध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥"

जब समय निकट आ रहा हो, जब चारों ओर से जल बढ़ रहा हो, जब दुबारा अव्यक्त के बीच उसकी अपनी भूमि बह जाने का समय आ गया हो, तब उसके समस्त जीवन के कर्म का जो-कुछ नित्य फल है वह संसार-रूपी तरणी में लाद दिया जा सकता है। संसार सब ग्रहण कर लेगा, एक कण भी नहीं फेंक देगा। किन्तु मनुष्य जब यह कहता है—"उसके साथ मुझे भी ले लो, मुझे भी रख लो," तब संसार कहता है, 'तुम्हारे लिए स्थान ही कहाँ हैं? तुम्हें लेकर मुझे लाभ? तुम्हारे जीवन की फसल में से कुछ रखने योग्य है वह सब रख लिया जायगा, लेकिन तुम तो रखने योग्य नहीं हो।'

प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन-कर्म द्वारा संसार को कुछ-न-कुछ दान करता है, संसार उस समस्त को ही ग्रहण करता है, रक्षा करता है, कुछ भी नष्ट होने नहीं देता। किन्तु मनुष्य उसके साथ जब अहं को भी चिरन्तन बनाकर रखना चाहे तो उसकी चेष्टा विफल हो जाती है। इस जीवन का जो भोग किया है, अहं को उसका भाड़ा-स्वरूप, मृत्यु के हाथ में देकर, हिसाब चुकाकर जाना होगा। वह किसी प्रकार भी संग्रह की वस्तु नहीं है।

स्वभाव प्राप्ति

हमारे जीवन की एकमात्र साधना यह है, अपने आत्मा के स्वभाव को बाधामुक्त कर दें।

आत्मा का स्वभाव क्या है? जो परमात्मा का स्वभाव वही आत्मा का भी है। परमात्मा का स्वभाव क्या है? वह ग्रहण नहीं करते, केवल दान करते हैं।

वह सृष्टि-रचना करते हैं। सृष्टि का अर्थ ही विसर्जन करना है। वह जो विसर्जन करते हैं, उसमें कोई कठिनाई नहीं, कोई बाध्यता नहीं।

आनन्द का धर्म है स्वतः दान, स्वतः विसर्जन। हमें भी इसकी प्रतीति है। हमारा आनन्द, हमारा प्रेम कारण के बिना ही, आत्म-विसर्जन करने में अपने को चरितार्थ करता है। इसलिए उपनिषद् में कहा है, "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते"। उस आनन्दमय का स्वभाव ही यह है।

आत्मा का परमात्मा के साथ एक साधर्म्य है। हमारा आत्मा भी लेकर खुश नहीं, देकर ही खुश होता है। लेऊँगा, छीनूँगा, संचय करूँगा, यही वेग यदि व्याधि के विकार के समान जाग उठे तो क्षोभ और ताप की सीमा ही न रहे। जब हम पूर्ण हृदय से कहते हैं, देंगे, तभी हमारे आनन्द का दिन होता है। तभी सब क्षोभ दूर होते हैं, तभी समस्त ताप शान्त होते हैं।

आत्मा के इस आनन्दमय स्वरूप की उपलब्धि करनी है वह कैसे हो? वह जो एक क्षुधित अहं हैं, जो कंगाल चीज हथियाना चाहता है, जो कृपण लेने के सिवा देना बिलकुल नहीं जानता, फलाशा के लिए ही सब-कुछ करता है, उस अहं को बाहर करना होगा, उसके लिए एक परमात्मीय के समान अन्तःपुर में प्रवेश का निषेध रहेगा। वस्तुतः वह आत्मा का आत्मीय नहीं है, क्योंकि वह तो मरता है और आत्मा है अमर।

आत्मा तो "न जायते म्रियते वा", न जन्मता है न मरता है। किन्तु अहं का तो जन्म भी हुआ, नामकरण भी हुआ, और कुछ भी न हो तो अन्त तक उसी नाम को स्थायी रखने के लिए प्राणपण से यत्न करता है।

अपने इस अहं को एक बाहरी व्यक्ति के समान हम देखेंगे। जब उसे दुःख होगा तो कहेंगे, उसे दुःख हुआ। केवल दुःख ही क्यों, उसके धन, जन, ख्याति, प्रतिपत्ति (मान) किसी में भी हाथ नहीं बँटायेंगे।

मैं नहीं कहूँगा कि यह सब मैं पा रहा हूँ और ले रहा हूँ। प्रतिदिन यही चेष्टा करूँगा कि मेरा अहं जिसे पकड़कर रखना चाहे उसे

मैं ग्रहण नहीं करूँगा। मैं बारम्बार यही कहूँगा, वह तो मेरा नहीं बिराना है।

जो बाहर की वस्तु है, उसे बाहर रखने से काम नहीं चलता, ऐसा विचार करके आवर्जना से परिपूर्ण हो गया और बोझ के मारे चलना दूभर हो गया।

उस मृत्युमय उपकरण के विकार से हम प्रतिदिन मरे जाते हैं। इस मरण-धर्मी अहं को आत्मा के साथ जोड़कर उसके शोक, उसके दुःख, उसके भार से हम क्लान्त होते हैं।

अहं का स्वभाव है अपनी ओर आकर्षण करना और आत्मा का स्वभाव है बाहर की ओर देते रहना, इसलिए इन दोनों के योग से एक भारी पाक की रचना होती है। एक वेग बाहर प्रवाहित हो जाना चाहता है और दूसरा वेग केवल भीतर की ओर ही आकर्षण करता रहता है। इस तरह एक भारी संकट खड़ा हो जाता है। आत्मा अपने स्वभाव के विरुद्ध आकृष्ट होकर घूर्णित हो जाता है। वह अनन्त के अभिमुख होकर नहीं चल पाता, वह एक ही बिन्दु के चारों ओर घानी के बैल के समान चक्कर काटता रहता है। वह चलता भी है तो प्रगति नहीं। सुतरां इस चलने में उसे केवल कष्ट ही होता है, कोई सार्थकता नहीं।

इसीलिए कह रहा था कि इस संकट से उद्धार पाना होगा। अहं के साथ एकदम मिलकर नहीं चलूँगा, उसके साथ विच्छेद ही रखूँगा। दान करूँगा, कर्म करूँगा, किन्तु अहं जब उस कर्म के फल को हाथ में लेकर, लेहन करके, दर्शन करके नाचते-नाचते उपस्थित होगा तब उसके उच्चिष्ट फल को किसी प्रकार ग्रहण नहीं करूँगा। "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।"

अहं

तो फिर अहं की आवश्यकता ही क्या है ? इस अहं के योग से आत्मा जगत् की किसी वस्तु को अपना बताना क्यों चाहता है ?

उसका एक कारण है ।

ईश्वर को अपनी सृष्टि करने के लिए कोई संग्रह करने की आवश्यकता नहीं है । उनका आनन्द स्वभावतः ही दान-रूप में विकीर्ण हो रहा है ।

हमारी तो ऐसी क्षमता नहीं । दान करने के लिए हमें उपकरण चाहिए । किन्तु केवल आनन्द द्वारा हम उपकरण की सृष्टि नहीं कर सकते । इसलिए फिर हमारा अहं उपकरण का संग्रह करता है । वह जिसे संग्रह करता है उसे 'मेरा' कहता है, क्योंकि उसे अनेक बाधाओं में होकर संग्रह करना पड़ता है और इन बाधाओं का नाश करने में उसे अपनी शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है । इस शक्ति द्वारा उसका उपकरण पर अधिकार जन्मता है ।

शक्ति द्वारा अहं केवल उपकरण ही संग्रह नहीं करता, उपकरण को वह विशेष भाव में सजाता है, उसे एक विशेषत्व दान करके देखता है । विशेषत्व के दान द्वारा वह जो-कुछ भी बनाता है उसे अपनी निजी वस्तु मानकर गौरव-बोध करता है ।

भगवान् ने उसे यह गौरव ही भोग के लिए दिया है । इस गौरव का यदि उसे बोध नहीं, तो वह दान ही किस प्रकार करेगा ? यदि कुछ भी उसके लिए 'मेरा' न हो तो देगा ही क्या ?

अतएव दान की सामग्री को पहले एक बार 'मेरा' कर लेने के लिए इस अहं की आवश्यकता है । विश्व-जगत् के सृष्टिकर्ता ईश्वर ने कह रखा है, "जितने कुछ को भी मेरी आत्मा इस अहं के घेरे में रख सकेगा उन्हें ही वह अपना कहने देंगे······क्योंकि उसके प्रति यदि ममत्व का अधिकार न उत्पन्न हो तो आत्मा बिलकुल ही दरिद्र हो जायगा । वह

देगा ही क्या ? विश्व-भुवन की किसी वस्तु को भी उसे 'अपना' कहने का अधिकार नहीं।"

यहाँ पर ईश्वर अपना अधिकार छोड़ देने को राजी हो गए हैं, बाप जिस प्रकार छोटे बच्चे के साथ कुश्ती का खेल खेलते-खेलते इच्छा-पूर्वक हार मान जाता है। नहीं तो कुश्ती का खेल ही न हो, और न स्नेह में आनन्द मिले, और न शिशु के मुख पर हास्य-रेखा आये। वह हताश हो जायगा, उसी प्रकार ईश्वर हमारे जैसे अनधिकारी शक्तिहीन से एक जगह हार मान लेते हैं, एक जगह प्रसन्न मुख होकर कहते हैं, "तुम्हारी जीत हो गई", और कहते हैं, "तुम्हारी अपनी ही शक्ति से जीत हुई।" कहते हैं, "तुम्हारे ही पैसा-कौड़ी, धन-जन, तुम्हारी ही ससागरा वसुन्धरा।"

यदि वह ऐसा न करें तो जो खेल वह खेलते हैं, उस आनन्द के खेल में, उस सृष्टि के खेल में, हमारा आत्मा बिलकुल भी योग न दे सकेगा। उन्हें खेल बन्द करके और हताश होकर चुप बैठ जाना पड़ेगा। इसीलिए वह गिलहरी की पीठ पर अपना करुण हस्त थपथपाकर कहते हैं, "बाबा, तुमने भी सचमुच काल-समुद्र पर पुल बाँध लिया, तुम्हें शाबाश है।"

यह 'अपना' कहने का अधिकार जो उन्होंने दिया है, यह क्यों ? इसका चरम उद्देश्य क्या है ?

इसका चरम उद्देश्य यह है कि परमात्मा के साथ आत्मा का जो एक समान धर्म है वह धर्म सार्थक हो सके। वह धर्म है सृष्टि का धर्म, अर्थात् देने का धर्म, देने का धर्म ही आनन्द का धर्म; आत्मा का यथार्थ स्वरूप ही है आनन्दमय स्वरूप—उसी स्वरूप से वह सृष्टिकर्ता हैं अर्थात् दाता हैं। उस स्वरूप में वह कृपण नहीं और कंगाल भी नहीं। अहं द्वारा हम 'अपनी' वस्तु संग्रह करते हैं, नहीं तो विसर्जन करने का आनन्द ही म्लान हो जाय।

नदी का जल जब तक नदी में रहता है तब तक वह सबका ही है,

जब उसे अपने घड़े में भर लाए तो फिर हमारा है, तब वही जल हमारे घड़े में विशेषत्व-प्राप्ति द्वारा सीमाबद्ध हो जाता है। किसी तृष्णातुर से जाकर कह दें, "नदी से जाकर जल पी लो" तो वह जलदान नहीं कहलाता, यद्यपि जल वहाँ प्रचुर मात्रा में अवश्य है एवं नदी भी वहाँ चाहे निकट ही है। किन्तु मुझे अपने पात्र में से उसी नदी के जल का एक गंडूष (चुल्लू) भी देना जल-दान है।

वन के फूल देवता के सम्मुख ही खिलते रहते हैं। किन्तु उन्हें एक बार अपनी डाली में सजाकर, अपना बनाकर फिर उनके द्वारा देवता की पूजा होती है। फिर देवता भी हँसकर कह उठते हैं, "हाँ ! तुम्हारा फूल मिल गया।" उस मुस्कान में ही हमारे फूल चुनने की सार्थकता हो जाती है।

अहं हमारे लिए वह घट है, वह डाली है। उसके वेष्टन में जो आ पड़े उसे ही 'अपना' कहने का अधिकार हो जाता है। एक बार उसे वह अधिकार प्राप्त हुए बिना दान का अधिकार नहीं मिलता।

तभी हमें दीखता है कि अहं का धर्म ही संग्रह करना है, संचय करना है। वह केवल लेता ही रहता है। 'पा गया', कहकर उसे जितना-जितना गौरव-बोध होता है उतना-उतना उसमें पाने का आग्रह बढ़ता जाता है। अहं का यदि इस प्रकार सभी वस्तुओं पर अपने नाम की सील-मुहर चिह्नित करने का स्वभाव न रहता, तो आत्मा का यथार्थ काम नहीं चलता, वह दरिद्र एवं जड़वत् होकर रहता।

किन्तु अहं का यह लेने का धर्म यदि एकाकी बन जाय, और आत्मा का देने का धर्म यदि आच्छन्न हो जाय, तो केवलमात्र लेने की लोलुपता द्वारा हमारा दारिद्र्य वीभत्स होकर खड़ा हो जाता है। तब फिर आत्मा दिखाई नहीं देता, अहं ही सर्वत्र भयंकर रूप में प्रकाशित होता रहता है। तब फिर मेरा आनन्दमय स्वरूप कहाँ है ? फिर तो केवल झगड़ा, केवल रोना, केवल भय और केवल भावना।

फिर डाली के फूल द्वारा आत्मा की पूजा नहीं हो पाती। अहं

कहता है, "यह समस्त ही 'मैंने' ले लिये।" वह सोचता है, मुझे मिल गया। किन्तु डाली के फूल तो बन के फूल नहीं, जो खत्म नहीं होंगे और नित्य नूतन-नूतन फूल खिलते रहेंगे। 'पा गया' कहकर जब वह निश्चिन्त होता है तो फूल उधर सूखने लगता है। दो दिन में वह काला होकर, मुरझाकर, धूल हो जाता है और 'पा गया' एकदम धोखा बन जाता है।

तब समझ में आता है कि 'पाना' और 'लेना' नित्य की वस्तु नहीं हो सकती। हम पायेंगे, लेंगे, जो-कुछ हम करेंगे, सब देने के ही लिए। लेना केवल देने का ही उपलक्ष्य है, अहं केवल अहंकार के विसर्जन करने के लिए ही होता है। अपनी ओर सब खींचकर रखेंगे, विश्व की ओर उत्सर्ग कर देने के अभिप्राय से ही। धनु पर तीर की योजना कर अपनी ओर जो पहले आकर्षण करते हैं, वे स्वयं को विद्ध करने के लिए नहीं, किन्तु उसे सम्मुख क्षेपण करने के लिए।

इसीलिए पहले कह रहा था, अहं जब अपना संचय लाकर आत्मा के सम्मुख रख देगा तो आत्मा को कहना पड़ेगा, 'नहीं, यह मेरी नहीं है, यह मैं नहीं लूँगा। यह सब बाहर ही रखो, इसका एक कण भी मैं भीतर नहीं रखूँगा।' अहं के इस समस्त निरन्तर संचय द्वारा आत्मा के बद्ध हो जाने से काम नहीं चलेगा क्योंकि बद्धता आत्मा में स्वाभाविक नहीं है, आत्मा दान द्वारा मुक्त होता है। जिस प्रकार परमात्मा सृष्टि द्वारा बद्ध नहीं, किन्तु वह सृष्टि द्वारा ही मुक्त हैं, क्योंकि वह ग्रहण नहीं त्याग ही करते हैं, उसी प्रकार आत्मा ने भी अहं की रचना बद्ध होने के लिए नहीं की। इस रचना द्वारा वह मुक्त होगा, उसका आनन्द स्वरूप मुक्त होगा, क्योंकि इन्हीं को वह दान करेगा। इस दान द्वारा ही उसका यथार्थ में प्रकाश होता है। ईश्वर का भी आनन्द-रूप, अमृत-रूप विसर्जन करने से प्रकाश होता है। इसीलिए अहं तभी आत्मा का यथार्थ प्रकाश बनता है, जब आत्मा उसे उत्सर्ग कर देता है, जब आत्मा स्वयं ही उसे ग्रहण नहीं करता।

नदी तथा कूल

अमर आत्मा के साथ यह मरणधर्मी अहं प्रकाश के साथ छाया की भाँति सदा ही लगा रहता है। शिक्षा द्वारा, अभ्यास द्वारा, घटना-संघात द्वारा, स्थानिक एवं सामयिक नाना प्रभाव द्वारा, शरीर, मन और हृदय की प्रकृतिगत प्रवृत्ति के वेग द्वारा, अहरह नाना संस्कारों की रचना हो रही है एवं केवल इस संस्कार रूपी देह में केवल परिवर्तन हो रहे हैं, और हमारी आत्मा के लिए नामरूपमय चिर-चंचल परिवेष्टन तैयार हो रहा है। इस अहं को यदि बिलकुल मिथ्या माया कहकर उड़ा देने की चेष्टा करें तो वह अपने स्थान पर जाकर मर जायगा ऐसी सम्भावना नहीं है। जिस प्रकार संसार को मन के क्षोभ में मिथ्या कह उठने से संसार मिथ्या नहीं हो जाता, उसी प्रकार अहं से अप्रसन्न होकर उस पर किसी मिथ्या अपवाद का आरोप लगाने से उसकी क्षति-वृद्धि नहीं होती।

आत्मा के साथ उसका एक वास्तविक सम्बन्ध है, वहाँ वह सत्य है, उस सम्बन्ध में विकार उत्पन्न होते ही वह मिथ्या हो जाता है। इस उपलक्ष्य में एक उपमा अवतरण करना चाहता हूँ।

नदी की धारा चिरन्तन है। वह पर्वत की गुहा से निःसृत होकर समुद्र के अतल के मध्य प्रवेश कर रही है। वह जिस क्षेत्र के ऊपर से प्रवाहित हो रही है उसी क्षेत्र से उपकरण-राशि उसी के गतिवेग में आहरित होकर मुंडेर खड़ा कर रहे हैं। कहीं कंकर, कहीं बालू, कहीं मिट्टी जम रही है, उसके साथ नाना देशों के कितने ही धातु-कण और कितने ही जैव-पदार्थ आकर मिलते हैं। यह किनारा कितनी ही बार टूटता है, कितनी ही बार बनता है, कितने स्थान और आकार का परिवर्तन करता है। इससे कहीं खेती होती है और कहीं मरुभूमि उत्पन्न होती है। कहीं जलाशय पर पक्षी उड़ते हैं तो कहीं बालू पर मगर के बच्चे मुँह खोले धूप सेकते हैं।

यह चिर-परिवर्तनशील चर (भूमि) भी यदि एकान्त प्रबल हो जायँ तो भी नदी की चिरन्तन धारा को बाधा उत्पन्न हो जाती है। क्रम से फिर नदी तो हो जाती है गौण और किनारे हो जाते हैं मुख्य। अन्त को फल्गु की भाँति नदी एकदम आच्छन्न हो जा सकती है।

आत्मा एक चिरस्रोत नदी की भाँति है। उसका उत्पत्ति-शिखर अनादि है, उसका संचार-क्षेत्र भी अनन्त है। आनन्द उसे गतिवेग प्रदान करता है, इस गति को विराम नहीं।

यह आत्मा जिस देश और जिस काल में होकर प्रवाहित होता है उसके गतिवेग में उस देश और उस काल के नाना उपकरण संचित होकर उसका एक संस्कार-रूप बनता जाता है। यह वस्तु सदा टूटती रहती है, बनती भी रहती है और सदा आकार का परिवर्तन होता रहता है।

किन्तु सृष्टि किसी-किसी अवस्था में सृष्टिकर्ता को भी ढक सकती है। आत्मा को भी उसका देश-काल-जात अहं प्रबल होकर अवरुद्ध कर सकता है। यहाँ तक हो सकता है कि अहं को ही हम उसके स्तूपाकार उपकरण-समेत देखें और आत्मा को देख ही न पायें। अहं चारों ओर से ही ऊँचा होकर आत्मा से कहने लगे, "तुम मेरा साथ नहीं दे पाओगे, तुम यहाँ ही रहो, तुम इस धन-दौलत में रहो, इस घर-बार में ही रहो, इस ख्याति और प्रतिपत्ति में ठहरे रहो।"

आत्मा को यदि बन्धन प्राप्त होता है तो उसका स्वरूप क्लिष्ट होता है, उसका स्वभाव नष्ट होता है। उसकी गति रुक जाती है। अनन्त के अभिमुख होकर अब नहीं चलता, वह डूब जाता है और मर जाता है।

आत्मा देश-काल-पात्र के बीच होकर नाना उपकरणों द्वारा अपनी उपकूल-रचना करता रहता है, उसकी प्रधान सार्थकता यह है कि इस कूल के द्वारा उसकी गति को सहायता प्राप्त होती है। यह कूल न रहे तो वह व्याप्त होकर, विक्षिप्त होकर, अचल होकर रह जाय। अहं लोक-लोकान्तर में आत्मा के गतिवेग को उसके गति-पथ पर अग्रसर करता है। उपकूल से ही नदी की सीमा और नदी का रूप है। अहं ही आत्मा की सीमा तथा

आत्मा का रूप है। इस रूप के मध्य होकर ही आत्मा का प्रवाह तथा आत्मा का प्रकाश है। इस प्रकाश-परम्परा में होकर ही वह अपनी नित्य उपलब्धि करता है, और अनन्त के मध्य संचरण कर रहा है। इन उपकूलों के घात-प्रतिघात द्वारा ही उसके तरंग और संगीत जन्म लेते हैं।

किन्तु जब भी उपकूल प्रधानता प्राप्त कर ले, जब यह नदी का आनुगत्य न करे, तब वह गति का सहायक न होकर गति का विरोधक हो जाता है। उसी प्रकार अहं भी व्यर्थ हो जाता है और आत्मा भी व्यर्थ। जितनी बाधा से आत्मा को वेग-प्राप्ति होती है उससे अधिक बाधा होने में वह अवरुद्ध होता है। तब उपकूल नदी की सामग्री न होकर नदी ही उपकूल की सामग्री हो जाती है, एवं आत्मा अहं के वशीभूत होकर, अपना अमरत्व भूलकर, संसार में नितान्त दीन होकर वास करता है। अपने को दान देकर जो सार्थक होता था, अब वह संचय के बहुतर शुष्क बालूमय वेष्टन के बीच मृत्यु-शैया पर पड़ा है। तब भी दम नहीं निकलता, अपनी दुर्गति का ही भोग करता है।

आत्मा का प्रकाश

प्रकाश में, और जिनका प्रकाश है, उन दोनों में एक वैपरीत्य है, उस वैपरीत्य में सामञ्जस्य होने से ही दोनों की सार्थकता है। वस्तुतः विरोध में मिलन बिना प्रकाश हो ही नहीं सकता।

कर्म में शक्ति के लिए एक बाधा है। उस बाधा को अतिक्रम करके शक्ति जब कर्म के संगत होती है तभी शक्ति कहलाती है। कर्मों में शक्ति का यदि विरोध नहीं हो तो उसे शक्ति ही नहीं कहते।

जगत् में जगदीश्वर का जो प्रकाश है वह सीमा में असीम का प्रकाश है। असीम का सीमा से वैपरीत्य है, यदि वह न होता तो असीम का प्रकाश हीं न होता। किन्तु यदि केवल वैपरीत्य ही रहता तो भी सीमा असीम को आच्छादित किये रहती।

किन्तु एक स्थान पर सीमा का असीम के साथ सामञ्जस्य है।

वह कहाँ ? जहाँ सीमा अपनी सीमा से स्थिर होकर नहीं बैठी रहती, जहाँ वह अहरह असीम की ओर चलती रहती है। उस गति में ही उसका शेष नहीं, उस गति में ही असीम को सीमा प्रकाशित करती है।

अनुमान कीजिये कि एक बृहत् दैर्घ्य स्थिर है, छोटा माप-दण्ड उस दैर्घ्य के बृहत्व को किस प्रकार प्रकाशित कर सकता है ? क्रमागत उसी शुद्ध दैर्घ्य के पास-पास चंचल होकर अग्रसर होते-होते ही तो वह प्रत्येक बार अग्रसर होकर कहता है, "नहीं, अभी भी पूरा नहीं हुआ।" यदि वह चुपका पड़ा रहता तो बृहत्व के साथ उसे केवल-मात्र अपना वैपरीत्य ही अनुभव होता, क्योंकि वह चलता है, उसी चाल द्वारा वह बृहत्व की पद-पद पर उपलब्धि कर रहा है। इस चलने के द्वारा ही मापदण्ड क्षुद्र होते हुए भी बृहत्व का प्रचार करता है। इस रूप में क्षुद्र में और बृहत् में, वैपरीत्य के बीच जहाँ एक सामञ्जस्य घटता है, वहाँ भी क्षुद्र द्वारा बृहत् का प्रकाश होता है।

जगत् भी उसी प्रकार सीमाबद्ध-भाव में केवल स्थिर और निश्चल नहीं है, उसके मध्य निरन्तर एक अभिव्यक्ति है, एक गति है। रूप से रूपान्तर करते-करते वह क्रमागत होते हुए कहता है, "मैं अपनी सीमा द्वारा उनके प्रकाशित को शेष नहीं कर सका हूँ।" इस रूप में रूप द्वारा जगत् सीमाबद्ध होकर गति द्वारा असीम को प्रकाश करता है। रूप की सीमा नहीं रहने से गति भी नहीं रह सकती थी, उसकी गति नहीं होने से असीम भी अव्यक्त ही रह जाता।

आत्मा को प्रकाश करने वाले अहं के साथ आत्मा का एक वैपरीत्य है। "आत्मा न जायते न म्रियते"—न जन्मता है न मरता है। अहं जन्म-मरण के बीच में होकर ही चलता है। आत्मा दान करता है और अहं संग्रह। आत्मा चाहता है कि अनन्त में संचरण करे और अहं विषयों में आसक्त रहता है।

इस वैपरीत्य के विरोध में यदि एक सामञ्जस्य स्थापित न हो सके तो अहं आत्मा को प्रकाशित न करके उसे आच्छन्न कर देगा।

अहं अपनी मृत्यु द्वारा ही आत्मा के अमरत्व को प्रकाशित कर रहा है। कोई सीमाबद्ध पदार्थ निश्चल होकर इस अमर आत्मा को अपने भीतर एक भाव में रुद्ध करके नहीं रख सकता। अहं की मृत्यु द्वारा आत्मा रूप को वर्जन करते-करते अपने रूपातीत स्वरूप को प्रकाशित करता है। रूप केवल यही कहता है, "मैं इसे नहीं बाँध सका, यह मुझे निरन्तर छोड़ता हुआ चला जाता है।" यह जन्म-मृत्यु का द्वार आत्मा के पक्ष में रुद्ध द्वार नहीं है। वह उसके राजपथ के विजय-तोरण के समान उसमें होकर प्रवेश करता हुआ चला जाता है, यह केवल अपनी गति का परिमाप-मात्र करता है। अहं नित्य चंचल होकर आत्मा को केवल नाप रहा है और कह रहा है, "ऊँहूँ, इसे मैं सीमाबद्ध करके नहीं रख सका।" जिस प्रकार वह सभी वस्तुओं को बद्ध करके रखना चाहता है उसी प्रकार आत्मा को भी वह बाँधना चाहता है। बद्ध करके रखना ही उसका धर्म है। अथच सदा के लिए बद्ध करके रखना उसकी क्षमता के बाहर है। जिस प्रकार बद्ध करने की उसकी प्रवृत्ति है, उसी प्रकार उसकी यह क्षमता भी होती, तो उसके समान सर्वनाशी और कौन होता।

इसीलिए कह रहा था, अहं आत्मा को बाँधता भी है और छोड़ता भी है। इसी बाँधने और छोड़ने में वह आत्मा के मुक्त स्वभाव को प्रकाशित करता है। यदि नहीं बाँधता तो मुक्ति का प्रकाश कहाँ रहता ? यदि छोड़ता नहीं तो वह कहाँ रहता ?

आत्मा दान करता है और अहं संग्रह करता है, इसी वैपरीत्य के बीच सामञ्जस्य कहाँ है, इस विषय की आलोचना मैंने कल की थी। आत्मा क्योंकि दान करता है, इसीलिए अहं संग्रह करता है, यही है उसमें सामञ्जस्य। अहं इस बात को भूलता है। वह सोचता है, संग्रह भोग के लिए ही होता है। इस मिथ्यात्व को वह जितना ही पकड़कर रखना चाहता है मिथ्या उतना ही उसके लिए दुःखदायी होता है, धोखा देता है। आत्मा अपने अहं वृक्ष में फल लगायेगा अवश्य, किन्तु फल आत्मसात्

न करके दान ही कर देगा।

हमारे जीवन की साधना यह है कि अहं द्वारा हम आत्मा को प्रकाशित करें! उसे न करके जब धन, मान, विद्या को प्रकाशित करना चाहें तो अहं अपने को प्रकाशित करता है, आत्मा को नहीं। जब भाषा अपनी बहादुरी दिखाना चाहती है, भाव म्लान हो जाता है।

जो पुरुष साधु होते हैं उन्हें अहं दिखाई ही नहीं देता, वे लोग आत्मा ही देखते हैं। इसीलिए उन्हें महाधनी, महामानी और महाविद्वान् नहीं कहते—उन्हें कहते हैं महात्मा। उनके जीवन में आत्मा का ही प्रकाश होता है, सुतरां उनका ही जीवन सार्थक है, उनका अहं आत्मा को मुक्त करता है, बाधाग्रस्त नहीं।

इसलिए हमारी प्रार्थना है कि हम अपने इस मानव-जीवन में सत्य को ही प्रकाशित करें, असत्य को लेकर ही दिन-रात व्यस्त न रहें। हम प्रवृत्ति के अन्धकार में आत्मा को प्रच्छन्न करके न रखें, आत्मा कहीं इस घोर अंधकार में अपने को न खो बैठे, मोहमुक्त निर्मल ज्योति में स्वयं ही अपने को उपलब्ध करे, वह कहीं नाना अनित्य उपकरणों के संचय में पद-पद पर आघात खाकर मारा-मारा न फिरे, वह अपने अमृत-स्वरूप को, अपने आनन्द रूप को, प्रभु, आपके बीच प्राप्त करे। हे स्वयं प्रकाश, आत्मा अपने पूर्ण प्रकाश में आपका ही प्रकाश करे, अपने अहं का नहीं। मानव-जीवन को एकदम निरर्थक न कर डाले।

आदेश

कौन-कौनसे हेय कर्म हमें नहीं करने चाहिए, इसका विशेष उल्लेख करके कर्म-शास्त्रों ने उन्हें ईश्वर के विशेष निषेध किये हुए रूप में प्रचार किया है।

इस भाव में प्रचार करने से विचार होता है कि जैसे ईश्वर ने कितने ही आईन (नियम, कानून) अपनी इच्छानुसार ही रच दिए हैं, इनका लंघन करने से विश्वराज के कोप का भाजन होना पड़ता है। इस

बात को मैं इतने क्षुद्र तथा कृत्रिम-भाव में नहीं मान सकता। उन्होंने कोई विशेष आदेश नहीं जारी किया, उन्होंने केवल एक ही आदेश की घोषणा की है। समस्त विश्व-ब्रह्मांड के लिए वही एक आदेश लागू है, वही एकमात्र आदेश।

उन्होंने तो केवल यही कहा है कि स्वयं को प्रकाशित करो। सूर्य से भी यही कहा, पृथ्वी से भी यही कहा, मनुष्य से भी यही कहा। सूर्य इसीलिए ज्योतिर्मय है, पृथ्वी इसीलिए जीवधात्री है, मनुष्य को भी इसीलिए अपनी आत्मा का प्रकाश करना होगा।

इस विश्व-जगत् के किसी प्रान्त में यदि इस आदेश को बाधा पहुँचती है, तो वहीं कली का विनाश होता है, नदी वहीं स्रोत-विहीन होकर शैवाल के जाल में रुद्ध हो जाती है, वहीं बन्धन विकार और विनाश हो जाता है।

बुद्धदेव जब वेदनापूर्ण होकर ध्यान द्वारा इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ने लगे, कि मनुष्य का बन्धन विकार और विनाश क्यों है, दुःख, जरा, मृत्यु क्यों हैं, तब वह कौनसा उत्तर प्राप्त करके आनन्दित हो उठे थे? तब उन्हें यही उत्तर मिला था कि मनुष्य आत्मा को प्राप्त करके ही, आत्मा का प्रकाश करके ही मुक्ति पाता है। उस प्रकाश में बाधा होने से ही उसे दुःख मिलता है, वही उसका पाप है।

इसीलिए उन्होंने प्रथम तो कितने ही निषेध स्वीकार करके मनुष्य को शील ग्रहण करने का आदेश दिया है। उन्होंने कहा—तुम लोभ मत करो, हिंसा मत करो, विलास में आसक्त मत होओ। जो समस्त आवरण मनुष्य को वेष्टन किये हुए हैं, उन सबसे प्रतिदिन नियत अभ्यास द्वारा मुक्त होकर उन्हें फेंक देने का उपदेश दिया है। आवरणों से मुक्त होते ही आत्मा अपना विशुद्ध स्वरूप लाभ कर लेगा।

वह स्वरूप क्या है? शून्यता नहीं है, नैष्कर्म्य भी नहीं। वह है मैत्री, करुणा, विश्व-प्रेम। बुद्ध ने केवल वासना-त्याग के लिए ही नहीं कहा, उन्होंने प्रेम-विस्तार करने को भी कहा है, क्योंकि प्रेम-विस्तार

करने पर ही आत्मा अपना स्वरूप प्राप्त करता है, जिस प्रकार सूर्य आलोक विकीर्ण करके ही अपना स्वभाव प्राप्त करता है। सर्व-लोकों में परिकीर्ण होना आत्मा का धर्म है। परमात्मा का भी वही है। उनका यह धर्म परिपूर्ण है, क्योंकि वह 'शुद्ध' अपाप विद्ध'' हैं, वह निर्विकार हैं। उन्हें पाप की बाधा नहीं होती। इसीलिए सर्वत्र उनका प्रवेश है।

पाप के बंधन-मोचन होते ही हमारा प्रवेश भी अव्याहत होगा, तब हम क्या हो जायँगे ? परमात्मा की भाँति उसी स्वरूप का लाभ करेंगे, जिस स्वरूप में वह कवि, मनीषी, परिभू, स्वयम्भू। हम भी आनन्दमय कवि होंगे, मन के अधीश्वर होंगे, दासत्व से मुक्त होंगे, अपने ही निर्मल आलोक में प्रकाशित होंगे। तब आत्मा समस्त चिन्ता में, वाक्य में, कर्म में, अपने को 'शान्तं शिवं, अद्वैतम्' रूप में प्रकाशित करेगा। अपने को क्षुब्ध, लुब्ध, खण्ड-विखण्डित करके नहीं दिखाएगा।

मैत्रेयी की प्रार्थना भी उसी प्रकाश के लिए है। जो प्रार्थना विश्व की समस्त कलिकाओं के बीच, समस्त किशलयों (कोंपल) के बीच, जो प्रार्थना देश-काल की अपरितृप्त गम्भीरता के बीच सदा उठती रही है, विश्व-ब्रह्माण्ड के प्रत्येक अणु-परमाणु में जो प्रार्थना, जो प्रार्थना कि युग-युगान्तर-व्यापी क्रन्दन में परिपूर्ण है; इसलिए वेद में अन्तरिक्ष को 'क्रन्दसी', 'रोदसी', कहा है, वही मानव-आत्मा की चिरंतन प्रार्थना मैत्रेयी की प्रार्थना है। 'मुझे प्रकाशित करो'। मैं असत्य से आच्छन्न हूँ। मुझे सत्य में प्रकाशित करो, मैं अन्धकार में आविष्ट हूँ, मुझे ज्योति में प्रकाशित करो, मैं मृत्यु में आविष्ट हूँ, मुझे अमृत में प्रकाशित करो। हे आविः, हे परिपूर्ण प्रकाश, तुम्हारे बीच ही मेरा प्रकाश हो, मुझमें तुम्हारे प्रकाश को कोई बाधा प्राप्त न हो, उस प्रकाश के निर्मुक्त होते ही तुम्हारे दक्षिण मुख की ज्योति से मुझे चिरकाल रक्षा मिलेगी। उस प्रकाश में बाधा प्राप्त होने से ही तुम्हारी अप्रसन्नता मिलती है।

भगवान् बुद्ध ने अपने को समस्त मानव का बनाकर ही अपने जीवन में इस परिपूर्ण प्रकाश के लिए प्रार्थना की था, उसे छोड़कर

मनुष्य के लिए और कोई प्रार्थना ही नहीं है।

साधना

हममें से अनेक प्रतिदिन यही आक्षेप करते हैं कि हम ईश्वर को क्यों नहीं पा सकते ? हमारा मन क्यों नहीं लगता ? हमारा भाव स्थिर क्यों नहीं होता ?

वह क्या ऐसे ही अपने-आप हो जायगा ? इतने बड़े लाभ के लिए क्या एक बड़ी साधना नहीं करनी पड़ेगी ? ईश्वर की प्राप्ति का अर्थ हमें ठीक-ठीक समझ जाने पर इस सम्बन्ध की वृथा चंचलता अनेक मात्राओं में दूर हो जाती है।

ब्रह्म की प्राप्ति यदि मन की किसी चिन्ता का कोई समाधान होता, अथवा मन को किसी एक भाव के रस से पूर्ण करना हो, तो कोई बात ही नहीं थी, किन्तु ब्रह्म की प्राप्ति तो कोई ऐसा क्षुद्र व्यापार नहीं है। उसके लिए शिक्षा कहाँ ली है ? उसके लिए समस्त चित्त को एकाग्र नियुक्त कब किया है ? 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञास्व', अर्थात् तप द्वारा ब्रह्म को विशेष रूप से जानने की इच्छा करो। यह जो उपदेश है इस उपदेश के उपयुक्त कोई तपस्या की है ?

केवल क्या नियमित समय पर नाम-उच्चारण और श्रवण ही क्या तपस्या है ? जीवन में एक अल्प उद्वृत्त स्थान उनके लिए छोड़ देना ही क्या तपस्या है ? उतनी-सी जगह छोड़ देने से तुम रोज उसका हिसाब करने का तकाजा भी करते हो और कहते हो, उपासना तो करता हूँ किन्तु ब्रह्म को पाता क्यों नहीं ? इतनी सस्ती कौन वस्तु है ?

केवल पाँच-सात मनुष्यों के साथ मिल बैठने के उपयुक्त होने के लिए ही क्या यह तपस्या नहीं करते—माँ-बाप से शिक्षा, प्रतिवेशी से शिक्षा, बन्धु से शिक्षा, शत्रु से शिक्षा, स्कूल में शिक्षा, ऑफ़िस में शिक्षा राजा का शासन, समाज का शासन, शास्त्र का शासन। इस प्रकार क्रमागत प्रवृत्ति का दमन हो रहा है, व्यवहार संयत करना पड़ रहा है,

इच्छा वृत्ति परिमित करनी पड़ रही है। इतना करते भी परिपूर्ण सामाजिक जीवन उत्पन्न नहीं हुआ। कितनी असतर्कता, कितने शैथिल्यवश हम कितने अपराध करते हैं, जिसका ठिकाना नहीं! इसीलिए जीवन की अन्तिम घड़ी तक हमारी समाज-साधना चलती रहती है।

समाज-विहार के लिए हम यदि इतनी कठिन और निरन्तर साधना करते हैं, तो ब्रह्म-विहार के लिए हम समझते हैं कि केवल बीच-बीच में नियमपूर्वक दो-चार बात सुनकर या दो-चार बात कहकर ही काम चल जायगा।

इस प्रकार की आशा यदि कोई करता है तो समझा जायगा कि वह व्यक्ति मुँह से कुछ भी कहे, साधना का लक्ष्य जहाँ उसने स्थापन किया है वह छोटा ही स्थान है। उस स्थान पर ऐसा कुछ नहीं जो तुम्हारे संसार से भी बड़ा हो, वरञ्च कुछ ऐसा है कि जिससे तुम्हारे संसार की अधिकांश वस्तुएँ कुछ बड़ी ही होंगी। यह स्मरण रखना होगा कि प्रतिदिन सकल कर्मों में अपनी साधना को जाग्रत रखना चाहिए। इस साधना का हमें निर्माण करना होगा। शरीर को, मन को तथा हृदय को चारों ओर से ब्रह्म-विहार के अनुकूल बनाना होगा।

समाज के लिए तो हम अपने शरीर, मन तथा हृदय को थोड़ा-थोड़ा करके अनुकूल बनाते रहते हैं। शरीर को समाज के लिए उपयोगी बनाने का अभ्यास हमने किया। शरीर ने समाज के लिए उपयोगी लज्जा और संकोच को सीखा है। अपने हाथ, पैर, चितवन, मुसकान सामाजिक प्रयोजन के अनुसार शायस्ता बना लिए। सभा-स्थल में स्थिर होकर बैठने में अब कष्ट नहीं होता। परिचित भद्र पुरुष देखकर, स्मितमुख होकर शिष्ट भाषण करने के लिए अब किसी चेष्टा की आवश्यकता नहीं रही। समाज से मेल खा जाने के लिए विशेष अभ्यास द्वारा अनेक अच्छी-बुरी आदतें, अनेक घृणा तथा भय, इस प्रकार निर्मित हो गए हैं कि वे शारीरिक संस्कार में परिणत हो गए हैं, इतना कि हमारे सहज संस्कारों से भी अधिक बड़े हो गए हैं। इस प्रकार से

केवल शरीर ही नहीं, हृदय और मन को भी प्रतिदिन समाज की लोलुपता के योग्य बनाने के लिए हथौड़े से पीटकर ठीक करना पड़ा।

ब्रह्म-विहार के लिए भी हमें अपने शरीर, मन तथा हृदय सबको सकल ओर से, सकल प्रकार से अपनी चेष्टा द्वारा निर्माण करना होगा। यदि अभी कोई प्रश्न करने को है तो यही कि क्या मैं ठीक चेष्टा कर रहा हूँ ? मुझे क्या ब्रह्म-प्राप्ति हो गई ? अभी इस प्रश्न को रहने दो।

प्रथम शरीर को विशुद्ध बनाना है। अपनी आँख, नाक, मुँह, हाथ, पाँव को ऐसा अभ्यस्त करना है कि पवित्र संयम उनके लिए बिलकुल सहज संस्कार के समान हो जायँ। यदि सम्मुख कोई लज्जा का विषय उपस्थित हो, तो मन के लज्जित होने से पूर्व ही चक्षु अपने-आप लज्जित हो जायँ। जिस घटना में सहिष्णुता का प्रयोजन हो वहाँ मन के विवेचना करने के पूर्व वाक्य स्वयं ही क्षान्त हो जाय और हाथ-पैर स्वयं ही स्तब्ध। इसके लिए हमें प्रत्येक मुहूर्त चेष्टा करने की आवश्यकता है। इस तन को भागवती तनु निर्माण करना है। यह तन भगवान् से कभी विरोध नहीं करे, अति सहज भाव में सर्वत्र उनके अनुगत हो।

हमें प्रतिदिन प्रत्येक आचरण में अपनी वासना को संयत करके अपनी इच्छा को मंगल में विस्तीर्ण करना होगा, अर्थात् भगवान् की जो इच्छा सब जीवों में प्रसारित है, अपने राग, द्वेष, लोभ, क्षोभ को भूलकर उनकी इच्छा के साथ सचेष्ट भाव में युक्त कर देना होगा। हमें प्रत्यह अपनी इच्छा उसी इच्छा में अल्प-अल्प करके व्याप्त कर देनी होगी। जिस परिमाण में यह व्याप्ति होती रहेगी, उसी परिमाण में हमें ब्रह्म की प्राप्ति होती रहेगी। एक स्थान पर चुप खड़े होकर यदि कहें कि दूर लक्ष्य स्थान पर क्यों नहीं पहुँचते, जिस प्रकार यह कथन असंगत है, उसी प्रकार अपनी क्षुद्र कुण्डली के बीच स्वार्थ-वेष्टन के केन्द्र में अचल बैठकर केवलमात्र जप-तप द्वारा ब्रह्म क्यों नहीं प्राप्त होता है यह प्रश्न भी उतना ही अद्भुत है।

ब्रह्म-विहार

बुद्धदेव ने मनुष्य को ब्रह्म-विहार के साधन-पथ पर प्रवर्तित करने के लिए विशेष रूप से उपदेश दिया है। उन्हें ज्ञात था कि कोई पाने योग्य वस्तु धोखा देकर प्राप्त नहीं होती, इसलिए उसके विषय में अधिक न कहकर उन्होंने तुरन्त नींव की खुदाई से ही कार्य आरम्भ कर दिया है।

उन्होंने कहा है कि शील ग्रहण करना ही मुक्ति-पथ का पाथेय ग्रहण करना है। चरित्र का अर्थ ही है कि जिसके द्वारा आचरण हो। शील द्वारा उस चरित्र का निर्माण होता है, शील हमारी गति के लिए सम्बल है।

"पानं न हाने" प्राणी की हत्या मत करो—यह वचन शील है। "न च दिन्नमादिये" जो तुम दे नहीं सकते वह लो भी मत—यह भी एक शील है। "मुसा न भासे" मृषा (मिथ्या) भाषण मत करो—यह भी शील है। "न च मज्जपो सिया" मद्य मत पियो—यह और एक शील है। इस प्रकार यथासाध्य एक-एक करके शील संचय करना चाहिए।

आर्य श्रावक प्रतिदिन अपने इस शील का स्मरण करते हैं, "ईध अरिय सावको अन्तनो सीलानि अनुसरति।"

इन शीलों को किस प्रकार अनुस्मरण करते हैं?

"अखण्डानि, अच्छिद्दानि, असवलानि, अकस्मासानि, भूंजिस्सानि, विञ्ञूप्पसंखानि, अपराभट्ठानि, समाधिसंवत्तनिकानि"—अर्थात् मेरा शील खंडित नहीं है, इसमें छिद्र नहीं है, मेरा यह शील बल लगाकर रक्षित नहीं है, अर्थात् इच्छापूर्वक ही रखता हूँ, पाप इसको स्पर्श नहीं करता, इस शील का धन-मान प्रभृति किसी स्वार्थ-साधन के लिए आचरण नहीं होता, यह शील विज्ञजनों से अनुमोदित है, यह शील विदलित नहीं होता एवं यह मुक्ति-प्रवर्तन करेगा। यह कहकर आर्य-श्रावकगण अपने-अपने शील के गुण बारम्बार स्मरण करते हैं।

यह शील मंगलकारी है। मंगल-लाभ प्रेम है और मुक्ति-लाभ का सोपान है। बुद्धदेव किसे मंगल बताते हैं, वह मंगल-सूत्र में वर्णित है। उनको अनुवाद सहित बताता हूँ—

"बहु देवा मनुस्साच मंगलानि अचिंतयूँ।
आकांक्ष-मारणा सोत्थानं ब्रूहि मंगल मूतं॥"

भगवान् से प्रश्न किया गया कि देवता और बहु मनुष्य जिनकी शुभ आकांक्षा करते हैं, जिस मंगल की चिन्ता करते आये हैं, वह मंगल है क्या, बताइये।

उन्होंने उत्तर दिया—

"असेवना च बालानं पण्डितानांच सेवना।
पूजा च पूजनेय्यानं एतं मंगल मुतमं॥"

असज्जन की सेवा न करना, सज्जन की सेवा करना, पूजनीय की पूजा करना, यह है उत्तम मंगल।

"पतिरूप देसवासो पूब्बे च कत पुञ्ञाता।
अत्त-सम्माप-निधि च एतं मंगल मुतमं॥"

जिस देश में धर्म के साधन में बाधा न हो उस देश में वास, पूर्वकृत पुण्य को वर्धित करते रहना, अपने को सत्कर्म में प्रणिधान करना—यह है उत्तम मंगल।

"बहु संखं च सिप्पंच विनपो च सुसिक्खितो।
सुभासिता च य वाचा एतं मंगल मुतमं॥"

बहु शास्त्र-अध्ययन, बहु शिल्प-शिक्षा, विनय में सुशिक्षित होना एवं सुभाषित वाक्य-उच्चारण—यह है उत्तम मंगल।

"माता पितू उपट्ठानं पुत्तदारस्संग हो।
अनुकूला च कम्मानि एतं मंगल मुत्तमं॥"

माता-पिता की पूजा करना, स्त्री-पुत्र का कल्याण करना, अनकूल कर्म करना—यह है उत्तम मंगल।

"दानंच धर्म चरियं च ञ्ञात कानञ्च संग हो।
अनवज्जानि कम्मानि एतं मंगल मुत्तमं ॥"

दान, धर्मचर्या, ज्ञानी वर्ग का उपकार, अनिन्दनीय कर्म—यह है उत्तम मंगल।

"आरती विरति पापा मज्जपाना च सञ्ञमो।
अप्पमादो च धम्मेसु एतं मंगल मुत्तमं ॥"

पाप में अनासक्ति एवं विरति, मद्यपान से वितृष्णा, धर्म-कर्म में अप्रमाद—यह है उत्तम मंगल।

"गारवो च निवातो च सन्तुट्ठी च कत ञ्ञूता।
कालेन धम्म-सावनं एतं मंगल मुत्तमं।"

गौरव तथा नम्रता, सन्तुष्टि, कृतज्ञता, यथाकाल धर्म-कथा-श्रवण—यह है उत्तम मंगल।

खन्ती च सोवचस्सता समणानं च दस्सनं।
कालेन धम्म-साकच्छा एतं मंगल मुत्तमं ॥"

क्षमा, प्रियवादिता, साधुगण के दर्शन, यथाकाल धर्मालोचना—यह है उत्तम मंगल।

"तपो च ब्रह्मचरियं च अरिय संच्चान दस्सनं।
निब्बान सच्छिकिरिया एतं मंगल मुत्तमं ॥"

तपस्या, ब्रह्मचर्य, आर्यसत्य का ज्ञान, मुक्ति-लाभ के उपयुक्त सत्कार्य—यह है उत्तम मंगल।

"फुट्ठस्स लोक धम्मे हि चित्तं यस्स न कम्पति।
असोक विरजं खेमं एतं मंगल मुत्तमं ॥"

लाभ, क्षति, निन्दा, प्रशंसा, प्रभृत्ति लोक-धर्म द्वारा आघात पाकर भी जिसका चित्त कम्पित न हो, जिसे शोक न हो, मलिनता न हो, भय न हो—उसे उत्तम मंगल प्राप्त है।

एतादि-सानि कत्वान संवत्थमपराजिता।
संव्वत्थ सोंत्थि गच्छन्ति तेसं मंगल मूतमन्ति ॥"

इस प्रकार जिन्होंने आचरण किया है वे सदा अपराजित रहे हैं, वे सर्वत्र स्वस्ति प्राप्त करते हैं—उनका मंगल उत्तम होता है।

जो यह कहते हैं कि धर्म-नीति ही बौद्ध धर्म की पराकाष्ठा है वे ठीक नहीं कहते। मंगल एक उपाय-मात्र है। तो क्या निर्वाण चरम है ? हो सकता है, किन्तु वह निर्वाण क्या है ? क्या वह शून्यता है ?

यदि शून्यता ही है तो पूर्णता द्वारा वहाँ पहुँचना कैसे होता ? केवल समस्त को अस्वीकार करते-करते, 'नहीं-नहीं' कहते-कहते, एक के पीछे एक का त्याग करते-करते उस सर्वशून्यता में 'निर्वापन' (बुझ जाने की अवस्था) का लाभ हो सकता था।

किन्तु बौद्ध धर्म में तो ठीक इसका उलटा पथ दिखाई पड़ता है। उसमें केवल मंगल ही तो नहीं है, मंगल से भी बड़ी वस्तु दिखाई देती है।

मंगल में भी एक प्रयोजन का भाव है, अर्थात् उसमें एक उत्तम उद्देश्य की साधना करके एक सुख अथवा एक सुयोग की प्राप्ति होती है।

किन्तु प्रेम तो सकल प्रयोजनों से गुरुतर है, क्योंकि प्रेम तो स्वतः ही आनन्द और स्वतः ही पूर्णता है, क्योंकि उसे कुछ लेने की अपेक्षा नहीं, केवल देता ही है।

जिस दान में कोई लेने का सम्बन्ध नहीं, वही है अन्तिम गति, वही है ब्रह्म का स्वरूप, वह लेते नहीं।

इस प्रेम के भाव में, इस आदान-विहीन प्रदान के भाव में, आत्मा को क्रमशः परिपूर्ण बनाने के निमित्त बुद्धदेव के उपदेश हैं, और उन्होंने उसकी साधन-प्रणाली भी बता दी है।

यह कोई वासना-संहरण की प्रणाली नहीं है, विश्व से विमुख होने की प्रणाली नहीं है, यह तो सबके अभिमुख होकर आत्मा को व्याप्त करने की पद्धति है। इस प्रणाली का नाम है 'मेत्ति भावना'—मैत्री-भावना।

प्रतिदिन इस विषय का चिन्तन करना होगा। "सब्बे सत्रा सुखिता होन्तु, अवेरा होन्तु, आव्यापज्भा होन्तु, सुखी अतानं परिहरन्तु, सब्बे सता मा यथालब्ध सम्पत्ति-तो विगच्छन्तु।"

सकल सुखी हों, शत्रुहीन हों, अहिंसित हों, आत्मा सुखी होकर काल-हरण करे, सकल प्राणी अपनी-अपनी यथालब्ध सम्पत्ति से वंचित न हों।

मन में क्रोध, द्वेष, लोभ, ईर्ष्या रहने से मैत्री-भावना सत्य कैसे होगी, इसीलिए शील-ग्रहण और शील-साधन प्रयोजनीय हैं। किन्तु शील साधना का परिणाम होता है, सर्वत्र मैत्री, दया का बाधाहीन विस्तार। इसी उपाय द्वारा ही आत्मा को सकल में उपलब्ध करना सम्भव है।

इसी मैत्री-भावना द्वारा आत्मा को सकल के मध्य प्रसारित करना तो शून्यता का पन्थ नहीं है, जिसे भगवान् बुद्ध ब्रह्म-विहार कहते हैं उसी के अनुशीलन करने से यह समझ में आता है।

"करणीय मत्थ कुसलेन
यन्तं सन्तं पदं अभिसमेच्च
सक्को ओजूच सुन्हुजू च
सुवचो चस्स मुदु अनतिमानी।"

शान्त पद प्राप्त करके परमार्थ कुशल व्यक्ति को क्या करना है वह यह है—उसको शक्तिमान, सरल, अति सरल, सुभाषी, मृदु, नम्र एवं अनभिमानी होनी चाहिए।

"सन्तुस्सको च सुभरोच,
अप्पकिच्चो च मल्लन्हुक वृत्ति
सन्तिन्द्रियो च निपको च
अप्प गब्मो कूलेसु अननुगिद्धो।"

उन्हें सन्तुष्ट हृदय होना चाहिए, अल्प से ही उनका भरण होना चाहिए, उन्हें निरुद्वेग, अल्पभोजी, शान्तेन्द्रिय, सद्विवेचक, अप्रगल्भ (सुशील) एवं संसार से अनासक्त होना चाहिए।

नचू खूद्दं समाचरे किंचि
येन जजपरे उपवदेय्युं
सुखिनो वो खमिनो वा
सव्वे सत्ता भवन्तु सुखितता:

ऐसा क्षुद्र व्यवहार भी नहीं करेंगे, जिससे उनकी निन्दा हो सके। वे कामना करेंगे कि सकल प्राणी सुखी हों, निरापद हों, स्वस्थ हों।

ये केचि प्राणभूतन्थि तसा वा थावरा वा अनवसेसा।
दीघा वा ये महन्ता वा मज्झिमा रस्सका अनुकथूला।
दिट्ठा वा ये च आदिट्ठा ये च दूरे वसन्ति अविदूरे।
भूतो वा सम्भवेसी वा सव्वे सत्ता भवन्तु सुखिसत्ता।

जो भी प्राणी हो, सबल अथवा दुर्बल, दीर्घ अथवा प्रकाण्ड, मध्यम अथवा ह्रस्व, सूक्ष्म अथवा स्थूल, दृश्य अथवा अदृश्य, दूरस्थित अथवा निकट, जिनका जन्म हुआ है अथवा होगा, वे सकल ही पूर्ण भाव में सुखी आत्मा हों।

न परोपरं निकूव्वेथ नातिभञ्ञेथ कन्थचि न कंचि।
व्यारोसना पटिघ सञ्ञा न ञ्ञसमञ्ञ्ञस्स द्रुकखमिच्छेय्य।

परस्पर वंचना (धोखा) मत करो, कहीं किसी की अवज्ञा (अनादर) मत करो, मन, बचन और कर्म से क्रोध करके किसी अन्य के दुःख की इच्छा मत करो।

माता यथा नियम पूतं
आयूसा एक पूतमनुर कूथे
एवस्पि सव्व भूतेषु
मानसं भावये अपरिमाणं।

माँ जिस प्रकार इकलौते पुत्र की अपनी आयु देकर भी रक्षा करती है, उसी प्रकार वह अपरिमित मानस समस्त प्राणियों की रक्षा करे।

मेतञ्च सव्वलोकस्मिं मानसं भावये अपरिमाणं
उद्धं अधो च तिरियञ्च असंबोधं अवेरमसपतं

उद्‌र्ध्व अन्धः चारों ओर समस्त जगत् के प्रति बाधाहीन, हिंसाहीन, शत्रुताहीन होकर अपरिमित मानस मैत्री-भाव की रक्षा करे।

तिट्ठं चरं निसिन्नो वा सयाना यावतस्स विगतमिद्धो,
एतं सति अधिट्ठेय्य ब्रह्ममेतं विहारमिदमाहु।

चलते हो या खड़े हो, बैठे हो या सोये हो, जब तक निद्रा न आ जाय तब तक इसी प्रकार की स्मृति में अधिष्ठित होकर रहने को ब्रह्म-विहार कहते हैं।

अपरिमित मानस को प्रीति-भाव में, मैत्री-भाव में, विश्वलोक-भाव में जाग्रत करना ब्रह्म-विहार कहलाता है। वह प्रीति सामान्य प्रीति नहीं, वह माँ के इकलौते पुत्र की ममता के समान है। ब्रह्म के अपरिमित मानस का, जो विश्व में सर्वत्र व्याप्त हो चुका है, इकलौते पुत्र पर माता का प्रेम जिस प्रकार होता है उसी प्रकार का उसका प्रेम सर्वत्र है। उनके मानस के संग उसका मानस, उनके प्रेम के संग उसका प्रेम युक्त किये बिना तो ब्रह्म-विहार संभव नहीं।

यह विषय है खूब बड़ा-सा। किन्तु इसे छोटा मान लेने में कोई लाभ नहीं, क्योंकि यह विषय बड़ा है। ब्रह्म-प्राप्ति की इच्छा का अर्थ सबसे महान् प्राप्ति की इच्छा है। उपनिषद् कहते हैं—"भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य," भूमा ही सबसे महान् जानने की इच्छा करने योग्य है।

उस इच्छा का, उस प्राप्ति का रूप क्या है? उसे स्पष्ट और परिष्कृत करके सामने रखना होगा। भगवान् बुद्ध ने ब्रह्म-विहार का रूप सुस्पष्ट करके रख दिया है—उसे छोटा मानकर, आँख पर जाला चढ़ाकर सब लोगों में चलता करने की चेष्टा मत कीजियेगा।

अपरिमित मानस में अपरिमित मैत्री को सर्वत्र प्रसारित कर देने पर ब्रह्म के विहार-क्षेत्र में ब्रह्म के साथ मिलन होता है।

यह है लक्ष्य, किन्तु यह एकदम तो प्राप्त नहीं हो जायगा। इस

ओर हमें प्रत्यह अग्रसर होना पड़ेगा और इस लक्ष्य के साथ प्रत्यह तुलना करके समझ सकेंगे कि कितनी दूर तक अग्रसर हो पाए हैं।

ईश्वर के प्रति हमारा प्रेम उदय हो रहा है कि नहीं—इस सम्बन्ध में हम अपने को भुला सकते हैं। किन्तु सकल के प्रति हमारा प्रेम विस्तृत हुआ है कि नहीं, हमारी शत्रुता का क्षय हो रहा है कि नहीं, हमारा मंगल-लाभ अधिकाधिक हो रहा है कि नहीं, इनका परिमाण स्थिर करना कठिन नहीं है।

किसी एक निर्दिष्ट साधना का सुस्पष्ट पथ प्राप्त करने के लिए मनुष्य में एक व्याकुलता है। बुद्धदेव ने जिस प्रकार एक ओर उद्देश्य को तिरोभूत नहीं होने दिया, उसी प्रकार पथ को भी भली भाँति निर्दिष्ट कर दिया है। किस प्रकार विचार करना चाहिए और किस प्रकार आचरण करना चाहिए, यह उन्होंने खूब अच्छी तरह स्पष्ट करके बता दिया है। प्रत्यह शील-साधना द्वारा उन्होंने आत्मा को मोह से मुक्त करने के लिए उपदेश दिया है एवं मैत्री-भावना द्वारा आत्मा को व्याप्त करने का पथ प्रदर्शित किया है। प्रतिदिन यह बात याद रखो कि मेरा शील अखण्ड रहे, अच्छिद्र रहे, एवं चित्त को इस भावना में निविष्ट करो कि क्रमशः सकल विरोध दूर होकर मेरा आत्मा सर्वभूतों में प्रसारित हो रहा है, अर्थात् एक ओर बाधाएँ कटती हैं तो दूसरी ओर स्वरूप की प्राप्ति हो रही है। इस पद्धति को तो किसी प्रकार भी शून्यता-लाभ की पद्धति नहीं कहा जा सकता, यह तो निखिल लाभ की पद्धति कही जा सकती है। यह तो निखिल लाभ की पद्धति है, आत्म-लाभ की पद्धति है और परमात्मा-लाभ की पद्धति है।

पूर्णता

और एक महापुरुष ने, जो अपने परम पिता की महिमा का प्रचार करने जगत् में आये थे, कहा था—"जिस प्रकार तुम्हारे पिता सम्पूर्ण हैं, उसी प्रकार तुम भी पूर्ण होओ।"

यह कोई छोटी-सी बात नहीं है—मानवात्मा की सम्पूर्णता का आदर्श लेकर उसे परमात्मा में स्थापन करके हमारा लक्ष्य उसी ओर स्थिर करने का आदेश दिया है। उसी सम्पूर्णता में ही हमारा ब्रह्म-विहार है, किसी क्षुद्र सीमा में नहीं। पिता जिस प्रकार सम्पूर्ण, उसी प्रकार पुत्र भी सम्पूर्ण होने की नियमित चेष्टा करेगा, नहीं तो पिता और पुत्र में सत्ययोग होगा कैसे ?

इस सम्पूर्णता का एक लक्षण निर्देश किया है वह भी छोटा नहीं है। उन्होंने कहा है कि अपने पड़ोसी को अपने जैसा ही प्यार करो। बात बिलकुल अस्पष्ट नहीं है—यह नहीं कहा है कि पड़ौसी को प्यार करो, किन्तु यह कहा है कि पड़ोसी को अपने ही समान प्यार करो। जो ब्रह्म-विहार की कामना करते हैं उन्हें प्यार के इस दर्जे पर पहुँचना होगा—इस पथ पर उन्हें चलना आवश्यक है।

भगवान् यीशु ने कहा है—शत्रु से भी प्रीति करो। शत्रु को केवल क्षमा ही करो कहकर भय से बीच रास्ते में ही नहीं रुक गए हैं। शत्रु से प्रीति करेंगे कहकर वह लक्ष्य को ब्रह्म-विहार तक घसीटकर ले गए हैं। उन्होंने कहा है, जो तुम्हारे अंग से वस्त्र उतारे उसे तुम अपना उत्तरीय पर्यन्त भी दान कर दो।

संसारी लोगों को यह एकदम अत्युक्ति प्रतीत होती है, क्योंकि संसार से बड़े किसी लक्ष्य का उनके मन में विश्वास ही नहीं होता। संसार को वे अपना कुरता ही क्या उतरीय पर्यन्त दे डाल सकते हैं, यदि उससे उनका कोई सांसारिक प्रयोजन सिद्ध होता हो। किन्तु ब्रह्म-बिहार को यदि वे अपने प्रयोजन से भी छोटा समझें तो कुरता भी देना कठिन काम है। किन्तु जो जीव के लिए ब्रह्म की, सकल से महान् की, घोषणा करने आये हैं, उन्होंने तो संसारी लोगों की दुर्बल वासना के माप से ब्रह्म को अति छोटा करके दिखाना नहीं चाहा। उन्होंने 'वह सकल से महान् हैं' इसी बात को निःसंकोच बिलकुल शेष होने पर्यन्त दुहराया है।

इतनी बड़ी बात इतनी बड़ी करके कहने के कारण उन्होंने हमें एक महान् आश्वासन दिया है। इसके द्वारा उन्होंने यह प्रकाशित किया है कि मनुष्य की गति इतनी दूर तक जा सकती है, उसका प्रेम, इतना बड़ा प्रेम, उसका त्याग, इतना बड़ा त्याग हो सकता है।

अतएव यह बड़ा लक्ष्य बड़े पथ में हमें हताश करके साहस ही प्रदान करेगा, अपने अन्तरतर माहात्म्य के प्रति हमारी श्रद्धा बढ़ा देगा, हमारी समस्त चेष्टा को पूर्ण भाव में उद्‌बोधित कर देगा।

लक्ष्य को असत्य द्वारा छाँटकर क्षुद्र करने से, उपाय को दुर्बलता का घेरा देकर संकीर्ण करने से, हमारा भरोसा आघात पाता है—हमें जो मिलना चाहिए वह मिलता नहीं, और जो कर सकते हैं वह नहीं कर पाते।

किन्तु महापुरुषों ने हमारे लिए जब महालक्ष्य स्थापित किये हैं उस समय उन्होंने हमारे प्रति श्रद्धा प्रकाशित की है। बुद्ध ने जब कहा—"मानसं भाव्ये अपरिमाणं" तब उन्होंने हमारे किसी के भी प्रति अश्रद्धा अनुभव नहीं की। ईसा ने भी जब कहा कि जैसे तुम्हारा पिता सम्पूर्ण है वैसे ही तुम भी सम्पूर्ण होओ, तब उन्होंने हममें से क्षुद्रतम के प्रति भी अश्रद्धा प्रकाशित नहीं की।

उनकी उस श्रद्धा द्वारा जब हम अपने प्रति श्रद्धा-लाभ करते हैं, तब हम भूमा को पाने के लिए इस दुरूह पथ को असाध्य पथ नहीं कहते, तब हम उनके कण्ठस्वर को लक्ष्य करके, उनकी माभैः वाणी (अभय वाणी) अनुसरण करके इस अपरिमाण की महायात्रा में आनन्द के साथ यात्रा करते हैं। ईसा की वाणी में अतिशयोक्ति नहीं है। यदि अपना श्रेय चाहते हो तो इस सम्पूर्ण सत्य की सम्पूर्णता को श्रद्धा के साथ ग्रहण करो।

एक बार अन्तर में ठीक से मन लगाकर देखो, प्रतिदिन हमारा मन कहाँ जाकर टकराता है। किसी एक मनुष्य से भी जब मिलने जाते हैं तो कितनी जगह टक्कर खाते हैं और उससे मिलने की पूर्ति नहीं होती।

अहंकार से टक्कर, स्वार्थ से टक्कर, क्रोध से टक्कर, लोभ से टक्कर—अविवेचना द्वारा आघात करते हैं और उद्धत होकर आघात पाते हैं। किसी प्रकार वह नम्रता मन में प्रवेश नहीं होने पाती, जिसके द्वारा आत्म-समर्पण अत्यन्त मधुर और सहज होता है। ये बाधाएँ ही जब हमें स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ती हैं तब फिर ब्रह्म की हमारी प्रकृति से मिलने में कितनी असंख्य बाधाएँ हैं, इसमें भी कोई सन्देह है ? जो बाधा हमें एक मनुष्य के साथ भी सम्पूर्ण भाव में मिलने नहीं देती वह फिर ब्रह्म के मिलने में भी उपस्थित होगी ही। जिस आचरण से प्रतिवेशी पराया होता है, उसी आचरण से वह भी पराये हो जायँगे, और जिसके द्वारा शत्रु पर आघात पहुँचता है उससे उन पर भी पहुँचेगा। इसलिए ब्रह्म-विहार की बात करते समय संसार की किसी भी बात को बचाकर कहने की हिम्मत नहीं। जो महापुरुष हुए हैं उन्होंने कुछ बचाकर नहीं रखा, कुछ भी छिपाकर बात नहीं कही। उन्होंने कहा है, एक बार निःशेष मरण के उपरान्त ही उनको रक्षा मिलती है। उनका पथ अवलम्बन करने के पश्चात् हमें प्रतिदिन ही अहंकार की ओर से, स्वार्थ की ओर से, निःशेष मरना पड़ेगा एवं मैत्री के लिए, प्रेम के लिए, परमात्मा के लिए अपरिमाण रूप में अपनी रक्षा करनी होगी। जिन्होंने इस महापथ पर यात्रा करने के लिए मानव को चलने के लिए अभय दान दिया है, उन्हें एकान्त भक्ति के साथ प्रणाम करके शरणापन्न हो जायँ।

नीड़ शिक्षा

इस अपरिमाण-पथ को निःशेष किये बिना परमात्मा की प्राप्ति अलभ्य है, यह सोचकर मनुष्य अपनी चेष्टा से विमुख हो जाता है। फिर इतने दिन खुराक क्या मिलेगी ? मनुष्य जीवित कैसे रहेगा ?

शिशु मातृभाषा कैसे सीखता है ? माँ के मुँह से सुन-सुनकर, खेलते-खेलते, आनन्द में सीखता है। और जितना सीखता जाता है

उनने का प्रयोग भी करता जाता है। उस समय उसके आधे-आधे वाक्य व्याकरण की भूल से परिपूर्ण होते हैं। और फिर अपनी असंपूर्ण भाषा में जितने भाव व्यक्त कर पाता है वे भी अत्यन्त संकीर्ण होते हैं। किन्तु, फिर भी शैशव-काल में भाषा सीखने का यही एक स्वाभाविक उपाय है।

शिशु की भाषा में अशुद्धता और संकीर्णता देखकर यदि विधान बना दिया जाय कि यत्क्षण पर्यन्त (जब तक) व्याकरण के नियमों में पूर्ण पक्का नहीं हो जायगा, तत्क्षण (तब तक) भाषा पर शिशु का कोई अधिकार नहीं रहेगा, तत्क्षण उसे न बोलने दिया जायगा, न सुनने, एवं वह बोल ही न सकेगा—इस प्रकार भाषा-शिक्षा उसके लिए कष्टकर ही नहीं नितान्त असाध्य हो जायगी।

मुख द्वारा शिशु जो भाषा ग्रहण करता है, उसे वह व्याकरण में होकर शुद्ध करके सीखनी पड़ेगी, उसे सर्वत्र पक्का कर लेना पड़ेगा, केवल साधारण मोटा कामचलाऊ ही नहीं उसे गम्भीरतर, उच्चतर, व्यापकतर भाव में सुनने में, बोलने में और लिखने में व्यवहार करने के लिए उपयोगी बनाना होगा, इसलिए रीति के अनुसार चर्चा करते हुए शिक्षा देनी पड़ेगी। एक ओर है प्राप्ति और एक ओर शिक्षा। प्राप्ति मुख से मुख को, प्राण से प्राण को, भाव से भाव को, और शिक्षा नियम में, कर्म में, क्रम-क्रम और पद-पद पर। प्राप्ति और शिक्षा यदि साथ-साथ न चलें तो प्राप्ति या तो कच्ची और अधूरी रह जायगी या शिक्षा नीरस और व्यर्थ हो जायगी।

बुद्धदेव ने कठोर शिक्षक की भाँति दुर्बल मनुष्य से कहा था, "लोग भारी भूल करते हैं—किसे क्या समझते हैं और किसे क्या कहते हैं, कुछ भी ठीक से नहीं। उसका एकमात्र कारण है कि वे सीखने के पहले ही प्राप्त कर लेने की बात उठाते हैं। इसलिए उन्हें चाहिए कि पहले शिक्षा की व्यवस्था करें, उसके द्वारा फिर प्राप्ति की वस्तु वे यथासमय स्वयं ही पा लेंगे। समय से पहले चरम अनुभूति के विषय में बात उठाने की

आवश्यकता नहीं रहेगी।"

किन्तु यह चरम बात केवल गम्य स्थान तो नहीं है, वह पाथेय भी अवश्य है। वह केवल स्थिति ही तो प्राप्त नहीं कराएगी, गति भी देगी। अतएव हम जितनी भी भूल करें, जो भी करें, केवल व्याकरण को ही शिक्षा का आधार नहीं मान सकते। केवल पाठशाला में ही शिक्षक से सीखूँ यह नहीं हो सकता, माँ से भी शिक्षा लूँगा।

माँ से शिक्षा ग्रहण करने में अनेक कठिन नियम अज्ञात भाव में जो अन्तःस्थ होते जाते हैं, उस सुयोग को क्या छोड़ा जा सकता है?

इसमें सन्देह नहीं कि पक्षिशावक को एक दिन आकाश में विचरण करना पड़ेगा, एक दिन अपने पंख विस्तृत कर उड़ना पड़ेगा; किन्तु इतिमध्य (इस बीच में) वह माँ के मुख से ही चुग्गा पाता है। यदि उससे कह दें, "जब तक अपने आप उड़ने की शक्ति न प्राप्त कर लें तब तक खाने को ही नहीं मिलेगा', तो वह सूखकर मर जायगा।

हम जब तक अशक्त रहते हैं तब तक जैसे अल्प-अल्प करके शक्ति की चर्चा करते हैं, उसी प्रकार प्रतिदिन ईश्वर के प्रसाद के लिए अपना क्षुधित चंचुपुट प्रसारित करना होगा, उनसे उनकी सहज कृपा का दैनिक खाद्य पाने के लिए व्याकुल होकर कलरव करना होगा। इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं।

अभी अनन्त में उड़ान मारने के लिए पंख में बल नहीं है, अभी घोंसले में ही पड़े हैं, छोटे-मोटे काठकूट लेकर जो वासा (घोंसला) तैयार हुआ है वही आश्रय है। इसी आश्रय में बद्ध रहने से अनन्त आकाश द्वारा आहरित खाद्य की प्रत्याशा यदि एकदम छोड़नी पड़े, तो हमारी क्या दशा होगी।

तुम कह सकते हो, यदि उस खाद्य की ओर ही तुम ताकते रहो तो चिरकाल तक निश्चेष्ट रहोगे, और अपनी शक्ति का परिचय भी नहीं पाओगे।

उस शक्ति का बिलकुल संचालन नहीं करेंगे यह मैं नहीं कहता।

उड़ने के प्रयास में दुर्बल पंख जो आन्दोलन (फड़फड़ाना) करते हैं वह आवश्यक है, किन्तु कृपा का खाद्य, प्रेम की थोड़ी पुष्टि, भी प्रतिदिन साथ-साथ चाहिए।

इसे यदि नियमपूर्वक प्राप्त करें तो जब भी पूरा-पूरा बल प्राप्त हो जायगा तो घोंसले में पकड़कर रखने की किसकी साध्य है। द्विज-शावक (पक्षी शिशु) का स्वाभाविक धर्म ही है कि वह अनन्त आकाश में उड़े। तब अपनी प्रकृति के वशीभूत होकर ही वह घोंसले में वास करेगा जरूर, किन्तु विहार करेगा अनन्त आकाश में।

अभी अक्षम पंख लेकर घोंसले में पड़े-पड़े कल्पना भी नहीं कर सकता कि उसके लिए आकाश में उड़ना भी सम्भव है। जो-कुछ शक्ति उसके पास है उसका अधिक-से-अधिक अनुमान करने से, केवल एक डाल से दूसरी पर फाँद लेने भर की बात सोच सकता है। जब वह अपने किसी प्रवीण सहोदर से आकाश में उड़ान करने की बात सुनता है तो वह सोचता है, 'बड़े भाई अत्युक्ति का प्रयोग कर रहे हैं—जो-कुछ कह रहे हैं उसके माने यह नहीं है कि सचमुच आकाश में उड़ा जाता है। जो फुदकने से जमीन का संस्रव छूटकर जरा-सा निराधार हो ऊर्ध्व जो उठ जाते हैं, उसी थोड़े-से उठ जाने को वे आकाश में उड़ना कहकर प्रकाश कर रहे हैं—यह केवल कवित्व-मात्र है, उसका अर्थ कभी इतना विशाल नहीं हो सकता।

वस्तुत: इस संसार के घोंसले के बीच जिस अवस्था में हम हैं उसमें जिसे बुद्धदेव ब्रह्म-विहार कहते हैं, भगवान् ईसा जिसे सम्पूर्णता लाभ कहते हैं, उसे किसी प्रकार भी सम्पूर्ण सत्य नहीं कह सकते।

किन्तु यह सब विचित्र बातें उन्हीं की हैं जिन्होंने जाना और जिन्होंने पाया। इस आश्वासन के आनन्द को हम एकान्त भक्ति से पूर्ण होकर प्राप्त करें। हमारी द्विज शावक आत्मा आकाश में उड़ने के लिए प्रस्तुत होती है, यह वार्ता जिन्होंने बताई है उनके प्रति हमें श्रद्धा रखनी चाहिए, उनकी वाणी को हम व्यर्थ न कर उसकी प्राण-शक्ति को नष्ट

करने की चेष्टा न करें। प्रतिदिन ईश्वर से जब हम उनके प्रसाद की सुधा माँगें, उसके साथ यह भी कहें, मेरे पंख भी आप सक्षम कर दें। मैं केवल आनन्द ही नहीं माँगता, शिक्षा भी चाहता हूँ, केवल भाव ही नहीं मांगता, कर्म भी चाहता हूँ।

भूमा

बुद्धदेव से प्रश्न किया, "यह सब कहाँ से उत्पन्न हुआ, हम कहाँ से आये, कहाँ जायँगे", तो उन्होंने कहा "तुम्हें इन बातों से क्या प्रयोजन ? जिससे तुम्हारा आपाततः (इसी क्षण) अत्यन्त प्रयोजन है उसी का विचार करो। तुम बहुत दुखी हो—जो तुम चाहते हो वह पाते नहीं और जो पाते हो वह रख नहीं पाते, और जो रख पाते हो उससे आशा-पूर्ति नहीं होती। इसी सबसे तुम्हारे दुःख की अवधि नहीं। इसको मिटाने का उपाय किये बिना दूसरी बात मत करो।" यह कहकर दुःख निवृत्ति को परम लक्ष्य बताकर उससे मुक्त होने के पथ की ओर उन्होंने हमें आह्वान किया।

किन्तु बात यह है कि एकान्त दुःख-निवृत्ति को ही तो मनुष्य परम लक्ष्य मानकर बैठा नहीं रह सका। वह उसके स्वभाव के विरुद्ध है। मैं स्पष्ट ही देखता हूँ, वह दुःख को अंगीकार करने में आपत्ति नहीं करता। अनेक बार वह अदबदाकर दुःख वरण कर लेता है।

आल्प्स पर्वत के दुर्गम शिखर पर केवल एक बार पदार्पण कर आने के निमित्त प्राणपण चेष्टा करना उसके लिए सम्पूर्ण अनावश्यक ही है, किन्तु फिर भी बिना कारण ही मनुष्य उस दुःख को स्वीकार करने को प्रस्तुत होता है। ऐसे ढेर से दृष्टान्त मिलते हैं।

उसका कारण क्या है ? उसका कारण यह है कि दुःख के सम्बन्ध में मनुष्य में एक स्पर्धा है। 'मैं दुःख सह सकता हूँ, मुझमें वह शक्ति है', यह बात मनुष्य अपने को और अन्य को जताना चाहता है।

असली मूल की बात यह है कि मनुष्य की सबसे बड़ी सत्य-इच्छा है

सबसे बड़े होने की इच्छा। अलेक्ज़ेण्डर की हठात् इच्छा हो गई कि दुर्गम नदी, गिरि, मरु, समुद्र-पार करके दिग्विजयी हो जाऊँ। राज-सिंहासन का आराम छुड़वाकर ऐसे दुःसह दुःख में होकर रस्ते-कुरस्ते घुमाये-घुमाये कौन फिरता है ? असल में राज्य-लोभ नहीं, बड़े होने की, महान् होने की इच्छा, महान् होने के द्वारा अपनी शक्ति को महान् रूप में उपलब्ध करने के लिए। इस अभिप्रायवश मनुष्य अपने को किसी दुःख से नहीं बचाना चाहता।

जो लखपति होने के लिए दिन-रात पैसा जमा करते हैं—विश्राम का सुख नहीं, खाने का सुख नहीं, रात्रि को सोने का सुख नहीं, लाभ और क्षति के निरन्तर आन्दोलन में मन की चिन्ता की कोई सीमा नहीं—उन्होंने ये सब कष्ट किसलिए स्वीकार किये हैं ? धन के मार्ग द्वारा जितने भी बड़े हो सकें इसलिए।

उनसे यह कह देना मिथ्या ही है, 'तुम्हें दुःख-निवारण का पथ बताता हूँ।' उनसे यह कहना भी मिथ्या है कि भोग की वासना त्याग दो, आराम की आकांक्षा ही मत रखो। भोग और आराम का जैसे उन्होंने त्याग किया है, ऐसे और कौन कर सकता है ?

बुद्धदेव ने जो दुःख-निवृत्ति का पथ निदर्शन किया है, उस पथ का सबसे बड़ा आकर्षण क्या है ? यही कि अत्यन्त दुःख स्वीकार करके अग्रसर होना। इसी दुःख को स्वीकार करने के द्वारा मनुष्य अपने को बड़ा समझता है। खूब बड़ा त्याग, खूब बड़े व्रत-पालन का माहात्म्य मनुष्य की शक्ति को बड़ा करके दिखाता है, इसीलिए मनुष्य का मन उस ओर भागता है।

इस पथ पर अग्रसर होकर सचमुच मनुष्य यदि किसी ऐसे स्थान पर जाकर टिकता जहाँ एकान्त दुःख-निवृत्ति छोड़कर और कुछ न होता, तो व्याकुल होकर उसे जगत् में दुःख के सन्धान में (खोज में) निकल जाना पड़ता।

अतएव जब मनुष्य से हम कहें, "दुःख-निवृत्ति के उद्देश्य से

तुम्हें समस्त सुख की वासना छोड़नी होगी," तो वह रोषपूर्वक कह सकता है, मुझे नहीं चाहिए दुःख-निवृत्ति। उससे भी बड़ी वस्तु देनी होगी, क्योंकि मनुष्य बड़े को ही माँगता है।

इसीलिए उपनिषद् में कहा है, "भूमैव सुखम्।" अर्थात् सुख सुख ही नहीं है, बड़ा ही, महान् ही, सुख है। "भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यः" इस भूमा, इस महान् को ही जानना चाहिए, इसे ही पाना चाहिए। इस वाक्य का तात्पर्य यदि ठीक से समझें तो यह कभी न कहें कि तुम्हारा महान् मुझे नहीं चाहिए।

क्योंकि धन की कहो, चाहे विद्या की, चाहे ख्याति की, किसी-न-किसी विषय का सुख त्यागकर हम महान् को ही चाहते हैं, अथच जिसको महान् कहना चाहते हैं, वह इतना बड़ा नहीं है जिसे पाकर हमारा आत्मा कह सके, 'मुझे सब मिल गया।'

अतएव जो ब्रह्म हैं, जो भूमा हैं, जो सबसे महान् हैं, उसी को मनुष्य के सामने रखने से उसके मन को सान्त्वना हो सकती है, दुःख-निवृत्ति से नहीं।

कोई-कोई यह भी कह सकते हैं, "उन्हें उद्देश्य रूप में स्थापन करने से या न करने से क्या बनता-बिगड़ता है। इसकी सिद्धि इतनी दूर है कि अभी से इसके सम्बन्ध में चिन्ता न करके भी काम चल सकता है। पहले वासना दूर करो, शुद्ध होओ, सबल होओ, पहले कठोर साधना के सुदीर्घ पथ को निःशेष उत्तीर्ण करो, उसके पीछे कहीं इसकी बात उठाओ।"

उद्देश्य को यदि आरम्भ से ही साधना के पथ पर थोड़ा-थोड़ा प्राप्त न करते रहें, तो इस दीर्घ अराजकता के अवकाश में साधना ही सिद्धि के स्थान पर अधिकार जमा लेगी, शुचिता को ही अन्तिम प्राप्ति समझ लेंगे और अनुष्ठान ही देवता बन जायगा। पद-पद पर सकल विषयों में ही मनुष्य पर यह विपद् आती दिखाई दी है। दिन-प्रतिदिन व्याकरण पढ़ते-पढ़ते मनुष्य केवल व्याकरणी बन जाता है। व्याकरण जिस

साहित्य का सोपान है उसमें प्रवेश ही नहीं होता ।

दूध में इमली डालकर दूध को दही बनाने की चेष्टा करने में कदाचित् अनेक चेष्टाएँ करने से भी दूध नहीं जमता, किन्तु जिस दही के जामन से उसकी परिणति होती है, वह दही का आरम्भ में ही योग देने से देखते-देखते सहज में दही बन जाता है । उसी प्रकार जो हमें परिणाम में मिलता है उसका आरम्भ में ही योग कर देने से स्वभाव के सहज नियम में ही वह परिणाम सुसिद्ध हो जाता है ।

हम जिन्हें साधना द्वारा प्राप्त करना चाहते हैं, आरम्भ से ही उन्हें अपना हाथ समर्पण कर देना चाहिए, वह स्वयं ही फिर हाथ पकड़कर अपनी ओर लिये चले जायँगे । फिर चलने में भी आनन्द और पहुँचने में भी आनन्द मिलेगा । ऐसा करने से अभाव से भाव नहीं होगा, असत् से सत् नहीं होगा और बिलकुल अप्राप्ति की अवस्था से प्राप्ति नहीं होगी । यह उपदेश मन में रखकर चलना होगा । जो आनन्द-रूप में चिरकाल हमारे पास होंगे, वही कृपारूप से हमें प्रतिदिन लिये चले जायँगे ।

ओ३म्....

ओ३म्

ओ३म् शब्द का अर्थ है 'हाँ', है और मिल गया इसी बात की स्वीकृति। कल हमने 'छांदोग्य उपनिषद्' की आलोचना करते-करते ओ३म् शब्द के इस तात्पर्य का आभास पाया था।

हमारी आत्मा को जहाँ उत्तर मिलता है 'हाँ', वही कहता है, ओ३म्। देवता जब इस हाँ को ढूँढने निकले तो कहाँ उन्होंने खोज की, और कहाँ अन्त को उसे पाया? पहले तो उन्होंने इन्द्रियों के द्वार पर आघात किया। सोचा कि आँख के देखने में हाँ मिलता है। किन्तु मालूम पड़ा कि आँख के देखने में सम्पूर्णता नहीं है—वह हाँ और ना से खण्डित है, उसमें परिपूर्ण विशुद्धता नहीं—क्योंकि वह अच्छा भी देखती है और बुरा भी, कुछ देर देखती है और कुछ देर नहीं, देखती है किन्तु सुनती नहीं।

इस प्रकार कान नाक, वाक्य, मन में सर्वत्र संधान करके देखा, सर्वत्र खण्डता और सर्वत्र द्वन्द्व पाया।

अन्त को प्राणी के प्राण में जाकर जब पहुँचे तब इस शरीर में एक जगह 'हाँ' मिला, क्योंकि यह प्राण ही शरीर के सब प्राणों पर अधिकार किये है। इस प्राण में ही सकल इन्द्रियों का और सकल शक्तियों का ऐक्य है। जब तक यह महाप्राण है तब तक आँख को दिखाई देता है, कान को सुनाई देता है, नासिका सूँघ सकती है। इसमें ऐसा नहीं हो सकता कि एक में 'ना' और दूसरे में 'हाँ', इसमें तो दृष्टि, शक्ति, आघ्राण आदि सब ही एक जगह आकर 'हाँ' करती हैं। इसलिए शरीर में यहाँ आकर ही 'ओ३म्' की प्राप्ति होती है। बस, यहाँ ही पूर्णता मिलती है।

'छान्दोग्य उपनिषद्' में कहा है, मिथुन में ही, अर्थात् जहाँ दो मिलते हैं वहाँ ही यह 'ओ३म्' रहता है। जहाँ पर एक ओर से ऋक् और दूसरी ओर से साम, एक ओर से वाक्य और दूसरी ओर से स्वर, एक ओर से सत्य, दूसरी ओर से प्राण आकर ऐक्य-लाभ करते हैं वहाँ ही इस परिपूर्णता का संगीत 'ओ३म्' बज उठता है।

जिनमें कोई बाधा खड़ी नहीं होती, जिनमें समस्त खण्ड अखण्ड हो जाते हैं, समस्त विरोध शान्त हो जाते हैं, उनको हमारा आत्मा करबद्ध 'हाँ' कहकर स्वीकृति देना चाहता है। इससे पूर्व वह अपनी परम परितृप्ति स्वीकार करने में असमर्थ है, उसके मार्ग में बाधाएँ हैं—विचार करता है इन्द्रियों में ही, धन में ही, या मन में ही 'हाँ' की प्राप्ति हो जायगी। किन्तु शेषकाल में पता चलता है कि इन सबमें पाप है, द्वन्द्व है, 'ना' उसमें मिश्रित है।

सकल द्वन्द्वों के समाधान में उपनिषद् ने उस परम परिपूर्ण का दर्शन किया है, इसलिए उन्होंने सत्य की ओर ही एकदम न झुककर उसकी अन्य दिशा को बिलकुल निर्मूल कर देने की चेष्टा नहीं की। इसीलिए उन्होंने जैसे कहा है—

"एतज् ज्ञेय नित्यमेवात्म संस्थं, नातः परं वेदितव्यं हि किंचित्।" अर्थात् जो आत्मा में ही नित्य स्थिर हैं वह जानने योग्य हैं, उनके परे जानने योग्य कुछ भी नहीं है।

वैसे ही दूसरी जगह कहा है—

"ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीराः युक्तात्मानं सर्वमेवाविशन्ति"; अर्थात् वे धीर पुरुष युक्तात्मा होकर ही सर्वव्यापी को सकल दिशाओं से प्राप्त करके सर्वत्र प्रवेश करते हैं।

"आत्मन्येवात्मानं पश्यति" ही नहीं, केवल आत्मा से आत्मा को ही नहीं देखना है—देखना सर्वत्र है।

हमारे ध्यान-मन्त्र में एक सीमा पर हैं 'भूर्भुवः स्वः;' अन्य पर, हमारी धी, हमारी चेतना; और मध्य में इन दोनों को बाँधे हुए हैं,

हमारे वरणीय देवता, जो एक ओर 'भूर्भुवः स्वः' की सृष्टि कर रहे हैं और दूसरी ओर हमारी धी-शक्ति को प्रेरणा दे रहे हैं। दोनों में से किसी को भी छोड़कर वह नहीं रहते। इसलिए वह हैं ओ३म्।

इसीलिए उपनिषदों में कहा है, जो अविद्या को ही, एकमात्र संसार को ही जानते हैं, वे अन्धकार में पड़ते हैं, और फिर जो विद्या को ही, ब्रह्मज्ञान को ही ऐकान्तिक और विच्छिन्न करके जानते हैं वे गम्भीरतर अन्धकार में पड़ते हैं। एक ओर विद्या और दूसरी ओर अविद्या, एक ओर ब्रह्मज्ञान और दूसरी ओर संसार। इन दोनों का ही जहाँ समाधान होता है वहाँ ही हमारे आत्मा की स्थिति है। दूर द्वारा निकट वर्जित है और निकट द्वारा दूर, गति द्वारा स्थिति वर्जित है और स्थिति द्वारा गति, अन्तर द्वारा बाह्य, और बाह्य द्वारा अन्तर वर्जित है, किन्तु "तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तदवन्तिके"।

"तदन्तरस्य सर्वस्य तद् सर्वस्यास्य वाह्यतः", अर्थात् वह चलते भी हैं और नहीं भी चलते, वह दूर भी हैं और निकट भी, वह सकल के अन्तर में भी और सबके बाहर भी, अर्थात् चल-अचल, दूर-निकट, भीतर-बाहर समस्त को लिये हुए बैठे हैं, किसी का त्याग करके नहीं : इसीलिए हैं वे ॐ।

वह प्रकाश में भी और अप्रकाश में भी हैं। एक ओर तो वह सबको प्रकाशित करते हैं, दूसरी ओर उन्हें कोई भी प्रकाशित नहीं कर सकता। इसीलिए उपनिषद में कहा है—

"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं, नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तम् अनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।"

वहाँ सूर्य का प्रकाश काम नहीं देता, न चन्द्र-तारागण का, न इस विद्युत् का ही, फिर अग्नि की कौन कहे—उनके प्रकाश से ही ये सब प्रकाशमान् होते हैं और उनकी आभा से ही सब विभात है।

वह शान्तम्, शिवम् और अद्वैतम् हैं। शान्तम् कहते ही यह भान होता है कि वहाँ गति का संभव नहीं। सकल विरुद्ध गतियों ने शान्ति

में ऐक्य लाभ कर लिया। केन्द्रातिग एवं केन्द्रानुग गति, आकर्षण एवं विकर्षण की गति, परस्पर-विरोधी होती हैं, किन्तु क्योंकि ये दो विरुद्ध गतियाँ उनमें अविरुद्ध हो जाती हैं इसीलिए वह हैं शान्तं। मेरा स्वार्थ तुम्हारे स्वार्थ को स्वीकार नहीं करना चाहता, और तुम्हारा मेरे स्वार्थ को, किन्तु मध्य में जहाँ मंगल की प्राप्ति है वहाँ तो जो मेरा स्वार्थ वह तुम्हारा भी स्वार्थ, और जो तुम्हारा स्वार्थ वह मेरा स्वार्थ हो जाता है। वे शिव हैं इसलिए उनमें सबका स्वार्थ मंगल में निहित होता है। वह अद्वितीय हैं, वह एक हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि यह समस्त जगत् कुछ भी नहीं। इसके माने हैं कि यह समस्त उनमें एक होकर है। मैं कहता हूँ कि 'मैं' तुम नहीं और तुम 'मैं' नहीं, ऐसे एक-दूसरे से विरुद्ध मुझे और तुम्हें, जो एक करके रखे हैं वह हैं अद्वैतम्।

मिथुन का जहाँ संयोग है, वहाँ ही हैं वह, जहाँ कोई वर्जित नहीं वहाँ ही हैं वह। यह परिपूर्णता, जो समस्त को धारण किये है अथच किसी खण्ड का आश्रय नहीं लिए है—जो चन्द्र का नहीं, सूर्य का नहीं, मनुष्य का नहीं अथवा समस्त सूर्य, चन्द्र मनुष्य में हैं, जो कान का नहीं, आँख का नहीं, वाक्य का नहीं, मन का नहीं अथच समस्त कान, आँख, वाक्य और मन में है, उसी एक को ही, उसी 'हाँ' को ही, समस्त मन, प्राण देकर उस परिपूर्णता को ही स्वीकार करना है ओंकार—

स्वभाव-लाभ

एक समय था, जब मनुष्य जहाँ कुछ भी अद्भुत देखता वहाँ ही ईश्वर की कल्पना करता। यदि देखता कि कहीं जल से अग्नि उठ रही है, बस वहाँ ही पूजा का आयोजन करने लगता। तब वह कोई एक असामान्य लक्षण देखकर कल्पना करता और कहता, अमुक मनुष्य पर देवता आया हुआ है, अमुक वृक्ष में देवता का आविर्भाव हुआ है, अमुक मूर्ति में देवता जाग्रत हैं।

क्रमशः जब अखण्ड विश्व-नियम को, चराचर में सर्वत्र एक देखने की शिक्षा मनुष्य को हुई, तब उसे प्रतीत हुआ कि जिसे हम असामान्य समझते थे वह सामान्य नियम से भ्रष्ट नहीं है। तब ही से ब्रह्म के आविर्भाव को अखण्ड भाव में सर्वत्र व्याप्त करके देखने का अधिकार उसे प्राप्त हुआ एवं विराट् अविच्छिन्न ऐक्य की धारणा में उसे आनन्द तथा आश्रय प्राप्त हुआ। तब ही से मनुष्य का ज्ञान, प्रेम और कर्म, मोहमुक्त होकर प्रशस्त एवं प्रसन्न हो गया। उसकी धर्म से, समाज मे, राज्य से, मूढ़ता तथा क्षुद्रता दूर होने लगी।

यह दर्शन, यह अनुभव है, ब्रह्म के सर्वत्र दर्शन का, स्वभाव में दर्शन का। किन्तु समस्त स्वभाव से उन्हें वर्जित करके स्वेच्छापूर्वक किसी एक कृत्रिमता के विशेष भाव में देखने की चेष्टा अब भी मनुष्य में दिखाई पड़ती है। इतना ही नहीं, कोई-कोई तो स्पर्धापूर्वक कहते हैं कि उसी प्रकार का दर्शन ही प्रकृष्ट (अति उत्तम) दर्शन है। सब रूप त्याग कर, किसी एक विशेष रूप में, सब मनुष्य त्यागकर किसी एक विशेष मनुष्य में, ईश्वर का दर्शन करना ही चरम पूजा है।

मुझे मालूम है, मनुष्य इस प्रकार कृत्रिम उपाय द्वारा किसी एक हृदय-वृत्ति को अति परिमाण से, विक्षुब्ध होकर उठा सकता है, किसी एक रस को अत्यन्त तीव्र बनाकर खड़ा कर सकता है। किन्तु क्या इतना करना ही हमारी साधना का लक्ष्य है ?

अनेक बार देखा गया है कि अन्धे होने पर स्पर्शशक्ति अधिक बढ़ जाती है। किन्तु क्या इस प्रकार से शक्ति को एक स्थान से चुराकर दूसरे स्थान पर उपचय (अधिक संग्रह) करने को शक्ति की सार्थकता कहा जा सकता है ? जहाँ उसका नाश हुआ है क्या वहाँ का विचार नहीं करना चाहिए ? उस ओर की दण्ड-प्राप्ति से क्या हमारी निष्कृति हो जायगी ?

किसी भी प्रकार के बाह्य तथा संकीर्ण उपायों द्वारा सम्मोहन को, मेस्मेरिज्म को धर्म-साधना का प्रधान अंग मानकर हमारा चित्त अपने

स्वास्थ्य से, अपने स्वभाव से सुतरां मंगल से विच्युत होगा ही। हमारा सन्तुलन बिगड़ जायगा। हम जिधर भी इस प्रकार से असंगत बोझ डालेंगे, उसी दिशा को विपर्यस्त (झमेले में डालना) कर डालेंगे।

वस्तुतः स्वभाव का परिपूर्ण लाभ ही धर्म है, और धर्मनीति का श्रेष्ठ लाभ भी यही है। मनुष्य नाना कारणवश अपने स्वभाव का सन्तुलन नहीं रख पाता, वह सामञ्जस्य खो बैठता है—यही उसके पाप की जड़ है, एवं धर्म-नीति उसे इसलिए संयम में प्रवृत्त करती है।

इस संयम का काम क्या है? प्रवृत्ति को उन्मूलन करना नहीं? प्रवृत्ति को नियमित करना। कोई एक प्रवृत्ति जब विशेषरूप से आश्रय पाकर स्वभाव के सामञ्जस्य को पीड़ा पहुँचाती है तभी पाप की उत्पत्ति होती है। अर्जनस्पृहा जब अत्यन्त उग्र हो उठती है तो पैसा उपार्जन की ओर ही मनुष्य की शक्ति को एकान्त बन्धन में रखना चाहती है तभी वह लोभ का रूप बनकर खड़ी होती है, तभी वह मनुष्य के चित्त को उसकी समस्त स्वाविभक दिशाओं से चुराकर इसी एक दिशा में लगा देती है। इस प्रकार से मनुष्य जब स्वभाव से भ्रष्ट होता है तो कभी उसे मंगल की प्राप्ति नहीं हो सकती। सुतरां ईश्वर का लाभ उसके लिए असाध्य है। किसी मनुष्य के प्रति अनुराग जब हमें स्वभाव से विच्युत करता है तो वह काम का रूप धारण कर लेता है, वही काम हमारी ईश्वर-प्राप्ति में बाधा देता है।

इसलिए असामञ्जस्य से, विकृति से, मनुष्य के चित्त का स्वभाव में उद्धार करना ही धर्म-नीति की एकान्त चेष्टा है।

उपनिषद् में ईश्वर को सर्वव्यापी के साथ-साथ अपापविद्धं भी कहा है, तब उसका तात्पर्य यही था—वह अपने स्वभाव में अबाध रूप से परिव्याप्त हैं। उन्हें पाप किसी विशेष संकीर्णता में आकृष्ट और आबद्ध करके अन्यत्र से परिहरण करके नहीं लाता—इसी गुण द्वारा वह सर्व-व्यापी हैं। हमारे बीच पाप समग्र को क्षत करके किसी एक को ही स्फीत करता है। इस कारणवश केवल इतना ही नहीं कि अपने ही

स्वभाव में सामञ्जस्य नहीं रहता, चारों दिशाओं के साथ, समाज के साथ हमारा सामञ्जस्य नष्ट हो जाता है। धर्म-नीति में हम इसी स्वभाव-लाभ की साधना में प्रवृत्त हैं, समाज एवं नीति-शास्त्र इसी के लिए दिन-रात ताड़ना करता है। यहीं क्या इसकी समाप्ति है ? ईश्वर-साधना में भी क्या इस नियम के लिए स्थान नहीं है ? वहाँ भी क्या हम किसी एक भाव को, किसी एक रस को, संकीर्ण अवलम्बन द्वारा अति मात्रा में आन्दोलित करके उठाने को ही एक चरम लाभ में गणना करेंगे ?

दुर्बल के मन में एक उत्तेजना जाग्रत करके उसके हृदय को प्रलुब्ध करने के लिए ही इन सब उपायों का प्रयोजन है, ऐसा अनेक सज्जन कहते हैं। जो लोग मद पीकर आनन्दित होते हैं, उनके सम्बन्ध में भी क्या हम इसी प्रकार का तर्क उपस्थित कर सकते हैं ? क्या हम कह सकते हैं कि मद-पान में ही यदि उसे विशेष आनन्द प्राप्त होता है तो वह ही उसके लिए श्रेय है।

यदि यह कहें कि जिस स्वाभाविक सुख में शराबी का अनुराग उत्पन्न होता है, वही चेष्टा उचित है, तो अधिक अच्छा हो। जिसमें पुस्तक पढ़ना अच्छा लगता है, जिसमें लोगों के सहज मिलन में उसको सुख मिलता है, जिससे प्रात्यहिक कार्यक्रम में उसका मन सहज निविष्ट होता है, उसी पथ का अवलम्बन करना चाहिए, जिससे एकमात्र मद की संकीर्ण उत्तेजना में उसका मन आसक्त रहकर जीवन के बृहत् स्वभाव-क्षेत्र में सहज भाव से व्याप्त हो जाय, उसी के आचरण में मंगल है।

भगवान् की धारणा को संकीर्णता में बाँधकर भक्ति की उत्तेजना को उग्र नशे की तरह बनाने में मनुष्यत्व की सार्थकता है, कहने से तो काम नहीं चलेगा। भगवान् को भी उनके स्वभाव में ही प्राप्त करने की साधना करनी होगी—उन्हें हमारी अपनी किसी विकृति के लिए उपयोगी बनाकर, उनको लेकर बहुत जोश दिखाने को तो हम मंगल नहीं कह सकते। उसमें कहीं एक स्थान पर सत्य छिपा है, उसमें एक

ऐसा असामञ्जस्य है कि जिस क्षेत्र में उसका आविर्भाव है वहाँ फिर मोह को रोककर रख नहीं सकते। जो शक्तिमान् हैं, वही मद सहन कर सकते हैं, उनका काम किसी प्रकार चल जाता है, किन्तु उनके दल में आकर जो जमा होते हैं, उनका कुछ ठौर-ठिकाना नहीं—उनका आलाप क्रमशः प्रलाप हो उठता है एवं वे उत्तेजना, उन्मादन के पथ में अपघात (अकाल) मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

अखण्ड प्राप्ति

ब्रह्म को प्राप्त करना होगा। किन्तु प्राप्ति कहते किसे हैं ?

संसार में हम प्रतिदिन अशन-वसन आदि की कितनी ही अनेक वस्तुएँ पाते रहते हैं। जब पाते ही हैं तो सोचते हैं कि उसी प्रकार क्यों न पायें जिस प्रकार हम चाहें। और उस प्रकार यदि पायें तो समझते हैं कि पाते ही नहीं। तब ऐसी चेष्टा करना चाहते हैं कि जैसे भी हो हमारी अन्य प्राप्ति में, व्यस्त रहते हुए भगवान् को प्राप्त करना भी शामिल हो जाय, अर्थात् हमारे असबाब की तालिका में, जिसमें घोड़ा है, गाड़ी है, लोटा है, थाली है, अनेक चीजें हैं, उसी में उन्हें रख देंगे—कि हमारा एक भगवान् भी है।

किन्तु अच्छी तरह विचार करने की आवश्यकता यह है कि ईश्वर को पाने के लिए एक जो गम्भीर आकांक्षा हमारे आत्मा में है, उस आकांक्षा की प्रकृति क्या है ? क्या वह अन्यान्य वस्तुओं के साथ और एक महान् वस्तु को संग्रह करने की आकांक्षा है ?

यह कभी नहीं, क्योंकि संग्रह कर-करके और जोड़ते-जोड़ते तो हमारा नाश ही हो रहा है, उस प्रकार सामग्री को नित्य-नियमित रूप से जोड़ते रहने के निरन्तर कष्ट से बचने के लिए ही क्या हम ईश्वर को नहीं चाहते ? उन्हें भी क्या हम एक तीसरी ही सामग्री बनाकर अपनी विषय-सम्पत्ति के साथ जोड़कर बैठ जायँगे और जंजाल बढ़ा देंगे ?

किन्तु हमारा आत्मा, जो ब्रह्म को चाहता है, उसके माने ही हैं कि वह

बहु से पीड़ित है, इसीलिए एक को चाहता है, वह चंचल द्वारा विक्षिप्त है, इसीलिए वह ध्रुव को चाहता है—किसी नूतन, किसी विशेष को नहीं। 'जो नित्योऽनित्यानाम्' समस्त अनित्य में नित्य हैं, उसी नित्य की उपलब्धि करना चाहता है, जो 'रसानां रसतमः' समस्त रसों में जो उत्तम हैं, उन्हें ही चाहता है—किसी नूतन रस को नहीं।

इसलिए हमारे प्रति, साधना का यह उपदेश है, "ईशावास्यमिदं सर्वम् यत्किंच जगत्यां जगत्," जगत् में जो-कुछ भी है उस समस्त को ईश्वर से आच्छादित हुआ जानो—और किसी अतिरिक्त देखने की वस्तु का न सन्धान करना, न निर्माण, तभी आत्मा का आश्रय मिलेगा, आनन्द मिलेगा।

इस प्रकार तो उन्हें निखिल में जानोगे और भोग करोगे किस प्रकार ? "तेन त्यक्तेन भुंजीथाः" जो वह दान करें उसी का भोग; "मागृधः कस्यस्विद्धनम्, किसी के भी धन का लोभ न करें।

इसके माने हुए कि जिस प्रकार जगत् में जो-कुछ है उस समस्त को वह परिपूर्ण किए हैं और उसी में उनकी उपलब्धि करनी होगी, उसी प्रकार जो कुछ तुमने पाया है वह सब उनका ही दिया हुआ मानना पड़ेगा, उससे क्या होगा ? यही कि जो-कुछ तुमने पाया है उसीमें तुम्हारी तृप्ति होनी चाहिए। 'कुछ और भी हमारे संग्रह में बढ़ती कीजिये' यह हमारी प्रार्थना का विषय नहीं है, क्योंकि उस प्रकार देने का अन्त कहाँ है ? किन्तु जो-कुछ भी मुझे मिला वह उन्हीं का दिया हुआ है, इतनी ही उपलब्धि हमें हो सकती है। इस प्रकार अल्प भी बहुल होगा और इसी प्रकार सीमा में असीम की प्राप्ति हो सकेगी, नही तो सीमा को ही क्रमशः जोड़-जोड़कर बड़ा करने से असीम कभी नहीं मिलता एवं कोटि-अनुकोटि की उपासना करने से भी उस एक की उपासना की प्राप्ति सम्भव नहीं है। उनके अखण्ड प्रकाश में जगत् के समस्त खण्ड-प्रकाशों ने सार्थकता लाभ की है एवं हमारी असंख्य भोग की वस्तुओं ने भी सार्थकता लाभ की है, उनके दान में। इसे ठीक

प्रकार जान लेने से ईश्वर को पाने के लिए किसी स्थान-विशेष या किसी रूप-विशेष के द्वार-द्वार भटकने की आवश्यकता नहीं रहती एवं भोग की तृप्तिहीन स्पृहा मिटाने के लिए विशेष भोग की सामग्री के लिए विशेष रूप से लोलुप होने की भी आवश्यकता नहीं रहती।

आत्म-समर्पण

इसीलिए कह रहा था कि ब्रह्म-प्राप्ति की बात कहना समुचित नहीं होगा, वह तो अपने को दे ही चुके हैं, और न उनकी किसी स्थान पर कमी है—तो यह कहने से भी काम नहीं चलेगा कि उस स्थान पर उनका अभाव है, इसलिए उन्हें कहीं और ढूँढने चलें।

अतएव, 'ब्रह्म-प्राप्ति करनी होगी' कहना ठीक नहीं है—'हमें अपने को समर्पण करना पड़ेगा' यह कहना चाहिए। अभाव हमारे अन्दर हैं, इसलिए मिलन नहीं होता। उन्होंने तो अपने को दे डाला, हमने अपने को नहीं दिया। हमने नाना प्रकार के स्वार्थ के, अहंकार के, क्षुद्रता के, घेरे बनाकर अपने को अत्यन्त स्वतन्त्र, नहीं, नहीं, विरुद्ध बना लिया है।

इसीलिए भगवान् बुद्ध ने स्वातन्त्र्य के अति कठिन वेष्टन को नाना चेष्टाओं द्वारा क्रम-क्रम से क्षय कर डालनेका उपदेश दिया है। यदि इससे बड़ी सत्ता, इससे बड़ा आनन्द कुछ भी नहीं है तो इस व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य का निरन्तर अभ्यास करके नाश करने का कोई अर्थ नहीं। कारण यह है कि यदि कुछ भी नहीं है तो हमारा अहं, हमारा व्यक्तिगत विशेषत्व ही सम्पूर्ण लाभ है—और फिर इसको दृढ़तापूर्वक पकड़े न रहकर इसे नष्ट ही क्यों करें?

किन्तु असल बात तो यह है कि जिन्होंने परिपूर्ण रूप से अपने को हमें दान कर दिया है, हमें भी उनके लिए परिपूर्ण रूप से दान किये बिना उन्हें प्रतिग्रहण करना कठिन है। कमी हमारी ओर से है।

उनकी उपासना करना उन्हें प्राप्त करने के लिए उपासना नहीं है—अपने को दान करने की उपासना है। दिन-प्रतिदिन भक्ति द्वारा, क्षमा

द्वारा, सन्तोष द्वारा, सेवा द्वारा, उनमें अपने-आपको मंगल में, प्रेम में बाधाहीन रूप से व्याप्त कर देना ही उनकी उपासना है।

अतएव, हमें कहना न चाहिए कि उन्हें पाते क्यों नहीं हैं, किन्तु हम यह कह सकें कि उन्हें हम अर्पण क्यों नहीं करते ? हमारा प्रतिदिन आक्षेप तो यह है।

मेरा जो कुछ है सकल, दे सका न तुम्हें नाथ
लाज भय मेरी मान और अपमान सुख-दुख मेरी भावना।

दे डालो, दे डालो, दे डालो, समस्त क्षय कर डालो, समस्त खर्च कर डालो—तभी उनकी प्राप्ति से एकदम परिपूर्ण हो जाओगे।

मध्य में हैं आवरण शत कितने प्रकार
तभी रोता फिरूँ, अरु पाता नहीं तुम्हें
मन में स्थिर सभी ये मन की वेदना।

हमारा जितना दुःख, जितनी वेदना है, वह इसीलिए कि अपने अहं को हम मिटा नहीं पा रहे हैं, उसे मिटाते ही तत्क्षण दिखाई पड़ेगा कि हम अपनी सकल प्राप्ति को तो चिर-काल से प्राप्त किये बैठे हैं।

उपनिषद् में कहा है, "ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते", ब्रह्म ही उसका लक्ष्य है। यह लक्ष्य किसलिए ? किसी वस्तु का आहरण करके अपनी ओर खींचने के लिए नहीं, अपने को एकदम मिटा देने के लिए। "शरवत् तन्मयो भवेत्।" शर जिस प्रकार लक्ष्य में सम्पूर्ण प्रवेश करके तन्मय हो जाता है, उसी प्रकार उनके भीतर एकदम आच्छन्न हो जाना पड़ेगा।

यह तन्मय हो जाना केवल ध्यान का ही व्यापार है, मैं ऐसा नहीं मानता। यह तो है समस्त जीवन का कार्यक्रम। सकल अवस्थाओं में, सकल चिन्ताओं में, सकल कार्यों में यह उपलब्धि, मन में एक जगह कर लें कि मैं उनके बीच ही हूँ और कोई मेरा उनसे विच्छेद नहीं है। यह ज्ञान मन में प्रतिदिन क्रम-क्रम से एकान्त सहज होता जाय कि "कोह्योवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" मेरे शरीर तथा मन की तुच्छतम चेष्टा भी न होती यदि यह आकाश आनन्द

मे परिपूर्ण न होता। उनका ही आनन्द शक्ति-रूप से छोटे-बड़े सब कार्यों को चेष्टा प्रदान कर रहा है। मैं हूँ उनके ही बीच, मैं कर्म कर रहा हूँ उनकी ही शक्ति से, एवं भोग कर रहा हूँ उनके ही दान से, इस ज्ञान को सहज श्वास-प्रश्वास के समान जीवन में उतारना होगा—यह है हमारी साधना का लक्ष्य। इसको प्राप्त करने से ही जगत् में हमारी स्थिति एवं भोग, हमारा सत्य, हमारा मंगल एवं सुख समस्त सहज बन जायँगे—क्योंकि जो स्वयं भू हैं, जिनकी ज्ञान-शक्ति और कर्म स्वाभाविक हैं, उनके साथ अपने योग को हम चेतना में प्राप्त कर लेंगे। इसी की प्राप्ति के लिए हमारी सकल चाहना है।

समग्र एक

परमात्मा में आत्मा को इस रूप से योगयुक्त होकर उपलब्ध करना क्या केवल ज्ञान द्वारा हो सकेगा? कभी नहीं। इसके लिए प्रेम की भी आवश्यकता है।

क्योंकि हमारा ज्ञान जैसे समस्त खण्डता में उस एक अखण्ड परम सत्य को चाहता है, वैसे ही हमारा प्रेम भी समस्त क्षुद्र रसों में, उन सकल रसों में रसतम को, उस परमानन्द स्वरूप को चाहता है—इसके बिना तृप्ति नहीं।

जीवात्मा अपने में जो-कुछ सीमाबद्ध करके पाता है, उसे ही वह परमात्मा में असीम रूप में उपलब्ध करना चाहता है।

हम अपने भीतर क्या-क्या पाते हैं?

पहले तो देखते हैं, मैं हूँ और मैं सत्य हूँ। फिर देखते हैं कि जितना मैं इस समय हूँ उतना ही बस नहीं हूँ। जो मैं होऊँगा, जो अभी नहीं हुआ हूँ, वह भी मेरे अन्दर है। उसे पकड़ नहीं सकता, उसे छू भी नहीं सकता, किन्तु वह एक रहस्यमय पदार्थ के रूप में मेरे अन्तर में स्थित है।

इसे मैं शक्ति नाम देता हूँ, मेरे देह की शक्ति मेरे वर्तमान देह

को ही केवल प्रकाश देकर कृतार्थ कर रही है, इतना ही बस नहीं है—वही शक्ति दस वर्ष उपरान्त भी मेरे इस देह को पुष्टि प्रदान करेगी, वर्धित करेगी। जो परिणाम इस समय उपस्थित नहीं है उस परिणाम की ओर वह मुझे वहन कर रही है।

हमारी मानसिक शक्ति की प्रकृति का भी यही रूप है। हमारी चिन्ता-शक्ति भी केवलमात्र हमारे चिन्तित विषयों में ही सम्पूर्ण पर्याप्त है यह बात नहीं, जिसका अभी चिन्तन नहीं किया और भविष्य में करेंगे, उसके सम्बन्ध में भी वह है। जो चिन्ता कर सकते थे, प्रयोजन उपस्थित होने पर जो चिन्ता करते, उसके सम्बन्ध में भी वह मौजूद है।

अतएव यह देखा गया है कि जो प्रत्यक्ष सत्यरूप में विद्यमान है उसमें फिर एक पदार्थ विद्यमान है, जो उसे अतिक्रमण करके अनादि अतीत से अनन्त भविष्य तक में व्याप्त है।

यही शक्ति, जो हमारे सत्य को निश्चल जड़त्व में निःशेष करके नहीं रखती, जो उसे वहीं न छोड़कर अनन्त की ओर खींचे ले जा रही है, यह केवलमात्र गति-रूप में अहरह अपने को अनागत के अभिमुख प्रकाश करती हुई ही नहीं चल रही है, उसका और एक भाव भी है। वह एक के साथ और एक की, व्यष्टि के साथ समष्टि की योजना कर रही है।

जैसे हमारी यह देह-शक्ति, केवल हमारी आज की देह को कल की देह में परिणत नहीं कर रही है, हमारी इस देह को निरन्तर एक समग्र देह से बाँधकर रखती है, यह इस प्रकार कार्य कर रही है कि हमारे शरीर का 'आज' एकान्त स्वरूप न धारण कर सके, शरीर का 'कल' भी अपने स्वत्व (हक) की रक्षा कर सके—और उसी तरह हमारे शरीर का एक अंश ही एकान्त न हो उठे, शरीर के अन्य अंशों के साथ उसका ऐसा सम्बन्ध रहे कि परस्पर की सहायता करते रहें। पाँव के लिए हाथ, माथा, पेट सभी तत्पर हों और हाथ, माथा और

पेट के लिए पाँव। यह शक्ति हाथ के स्वार्थ को पाँव का स्वार्थ बनाये हुए है और पाँव के स्वार्थ को हाथ का स्वार्थ।

यह ही शरीर के पक्ष में मंगल क्रिया है। उसका प्रत्येक प्रत्यंग समस्त अंग की रक्षा कर रहा है और समग्र अंग प्रत्येक प्रत्यंग का पालन। अतएव, शक्ति आयु रूप में शरीर को अनागत परिणाम की ओर लिये चली जा रही है, एवं मंगल-रूप में उसे अखण्ड समग्रता के बन्धन में डालती है और धारण करती है।

इस शक्ति के प्रकाश का अन्त केवल मंगल में ही नहीं है, केवल उसके द्वारा रक्षा-कार्य एक यन्त्र के समान हो रहा है; इतना बस नहीं है, इसमें एक आनन्द का भी भान होता है।

आयु में आनन्द है। समग्र शरीर के मंगल में, स्वास्थ्य में, एक आनन्द है। इसी आनन्द का भाग कर देने से दो वस्तुएँ प्राप्त होती हैं—एक ज्ञान और दूसरा प्रेम।

हममें जो समग्रता है उसके साथ ही ज्ञान भी है—उसे मालूम है कि मैं, मैं हूँ और वह मैं एक सम्पूर्ण मैं हूँ। केवल मालूम ही नहीं है इस ज्ञान में एक प्रीति भी है। इस सम्पूर्णता के लिए उसे इतना प्यार है कि उसकी कोई क्षति उसे सह्य नहीं है। इसके मंगल में ही उसका लाभ है और उसकी सेवा में ही उसे आनन्द मिलता है।

इसलिए यह समझ में आता है कि शक्ति एक समग्रता को बाँधती है, रखती है, एवं अहरह एक भावी सम्पूर्णता की दिशा में उसे ठेल कर लिये जा रही है।

फिर यह प्रतीति होती है कि यह समग्रता, जिसमें एक सक्रिय शक्ति अंश-प्रत्यंश को एक करके स्थित है, अतीत, अनागत को भी एक करके वास करती है—उसी शक्ति में केवल मंगल है, अर्थात् सत्य केवल समग्र आकार में सुरक्षित है, और केवल परिणति ही नहीं होती, उसमें आनन्द की प्राप्ति भी होती है, अर्थात् उसमें एक समग्रता का ज्ञान एवं समग्रता का प्रेम भी है। वह समस्त को जानता भी है और समस्त

से प्रेम भी रखता है।

यह हम अपने में देखते हैं और ठीक इसी को फिर समाज में भी पाते हैं। समाज-सत्ता में एक शक्ति विद्यमान है जो समाज को केवल वर्तमान में ही आवद्ध नहीं करती, उसे उसकी भावी परिणति की ओर ले जा रही है और केवल इतना-भर ही नहीं, समाजस्थ मनुष्य के स्वार्थ को सकल का स्वार्थ एवं सकल के स्वार्थ को प्रत्येक का स्वार्थ बनाती रहती है।

किन्तु इस व्यक्तिगत स्वार्थ को समष्टिगत मंगल में परिणत करना केवल यन्त्रवत् जड़ शासन में घटित नहीं हो रहा, इसमें प्रेम है। मनुष्य के मनुष्य से मिलन में एक रस है। स्नेह, प्रेम, दया, दाक्षिण्य, हमारे परस्पर के योग को स्वेच्छाकृत, आनन्दमय, अर्थात् ज्ञान और प्रेममय योगरूप में जागृत करता रहता है। हम मजबूर होकर आनन्द में स्वार्थ का विसर्जन नहीं करते। माता इच्छापूर्वक ही सन्तान की सेवा करती है, मनुष्य अन्धभाव में नहीं। सज्ञान प्रेम के द्वारा समाज का हित कर रहा है, यह जो बृहत् में है, सामाजिक में, स्वादेशिक में, मानविक में, इसके प्रेम का जोर इतना कि यह चैतन्य जिस पर यथार्थ-भाव में अधिकार करता है, वह इस बृहत् के प्रेम में अपने क्षुद्र 'मैं' के सुख-दुःख, जीवन-मृत्यु, समस्त को अकातर होकर तुच्छ मानता है। समग्रता के बीच इतना आनन्द है, विच्छिन्नता में दुःख और दुर्बलता। इसीलिए उपनिषद् में लिखा है, "भूमैव सुखं नाल्पे सुखमस्ति।"

विश्व-व्यापी समग्रता में ब्रह्म की जो शक्ति है वह केवल सत्य के, सत्य व मंगल के मंगल-रूप में ही नहीं, वह शक्ति अपरिमेय आनन्द के रूप में भी विराजमान है। विश्व की समग्रता को ब्रह्म-ज्ञान द्वारा पूर्ण करके और प्रेम द्वारा आलिङ्गन करके यह शक्ति स्थित है। वह ज्ञान और प्रेमरूपी चिर-निर्झर धारा के रूप में जीवात्मा में होकर प्रवाहित होती रहती है, आज तक निःशेष नहीं हुई।

इसलिए आत्मा और परमात्मा का मिलन ज्ञान, प्रेम और कर्म का

मिलन है। उस मिलन में ही आनन्द का मिलन है। सम्पूर्ण से मिलना चाहो तो सम्पूर्णता द्वारा ही मिल सकते हो—तभी हमारा जो-कुछ है चरितार्थ हो सकता है।

आत्म-प्रत्यय

देह, प्राण, चैतन्य, बुद्धि, हृदय समस्त को लेकर मैं एक बना हूँ। यह सम्पूर्णता, समग्रता, सबको एक ही वस्तु मानकर अपने को जानता है तथा प्यार करता है।

केवल इतना ही नहीं, इसीलिए वह सर्वत्र उसी एक को ढूँढ़ता है और उस एक को ही पाकर आनन्दित होता है। विच्छिन्नता उसे क्लेश देती है, वह सम्पूर्णता को ही चाहता है।

वस्तुतः वह जो कुछ भी चाहता है वह किसी-न-किसी रूप से सम्पूर्णता का ही संधान है। वह अपने एक के साथ चारों ओर के बृहत् को बाँधकर क्षुद्र एक को बृहत्तर एक बनाकर देखना चाहता है।

हम प्रत्येक ने अपने में ऐक्य की सम्पूर्णता जो लाभ की है इसी शक्ति से हम जगत् के और समस्त ऐक्य को उपलब्ध कर सकते हैं। हम समाज की एकता समझ सकते हैं, मानव की भी एकता समझ सकते हैं, समस्त विश्व की भी एकता समझ सकते हैं—यहाँ तक कि जिसकी एकता न समझ सकें उसका कुछ तात्पर्य नहीं मालूम देता, उसे लेकर हमारी बुद्धि केवल इधर-उधर भटकती फिरती है।

अतएव, हम जिस परम एक की खोज करते हैं वह केवल अपने इस एकत्व के तगादे (तकाजे) से ही, वह अपने इस ऐक्य को इस सीमा तक पहुँचाये बिना मध्य में कहीं रुक नहीं सकता।

हम अपने समाज को एक मानते हैं, उसे एक मानने की भित्ति है, यह हमारा आत्मा; मानव को एक मानते हैं, उसे एक मानने की भित्ति भी यह आत्मा; विश्व को एक मानने की भित्ति भी यही आत्मा है, एवं परमात्मा को अद्वैतम् मानने की भित्ति भी है यह आत्मा। इसीलिए उप-

निषद में कहा है "आत्मन्येवात्मानम् पश्यति" आत्मा के द्वारा परमात्मा का दर्शन करते हैं। कारण यह है कि आत्मा में जो ऐक्य है वही ऐक्य परम ऐक्य की खोज करता है, एवं परम ऐक्य को पाता है, इसीलिए परमात्मा को 'एकात्म प्रत्यय सारम्' कहा है, अर्थात् आत्मा का जो अपने प्रति एक सहज प्रत्यय (बोध) है, उसी प्रत्यय का सार है वह। हमारा आत्मा स्वभाव से ही जो अपने को एक मानता आया है उस ज्ञान का सार है उस परम एक को जानना। उसी प्रकार हमारा जो आत्म-प्रेम है, आत्मा में आत्मा का आनन्द, यह आनन्द ही है मानवात्मा के प्रति प्रेम की भित्ति, अर्थात् इस आत्म-प्रेम का परिपूर्णतम, सत्यतम विकास है परमात्मा के प्रति प्रेम उस भूमा के आनन्द में ही आत्मा के आनन्द की परिणति। हमारे आत्म-प्रेम की चरम सीमा ही परमात्मा में आनन्द की प्राप्ति है।

"तदेतत् प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयो अन्यस्मात् सर्वस्मात् अन्तरनर यदयमात्मा।"

धीर युक्तात्मा

इस विषय की जब आलोचना होती है तो उसे केवल कठिन मानते हैं। यद्यपि है वह हमारा सबसे सहज विषय—बिलकुल आरम्भ का प्राथमिक विषय एवं शेष का भी शेष, हमने अपने अन्तर में उस एक को देखा है एवं उस एक को ही हम बहु के मध्य सर्वत्र ढूँढ़ते फिरते हैं, और तो क्या, शिशु भी जब नाना वस्तुओं को छूकर, सूँघकर, खाकर देखने के लिए चारों ओर हाथ बढ़ाता है। तब भी वह उस एक की ही खोज करता है। हम भी शिशु की भाँति ही नाना प्रकार की वस्तुओं को छूते हैं, सूँघते हैं, मुख में देते हैं, उन पर आघात करते हैं, उनसे आघात पाते हैं, उन्हें जमा करते हैं और फिर आवर्जना (कूड़े) की भाँति फेंक देते हैं—इस समस्त परीक्षा में, इस चेष्टाजनित समस्त दुःख में, समस्त लाभ में, हम उसी एक को प्राप्त करना चाहते हैं। हमारा ज्ञान उस तक पहुंचना चाहता है, हमारा प्रेम उससे मिलना

चाहता है। इसके अतिरिक्त और कोई बात ही नहीं।

"आनन्दाद्ध्येव खलु इमानि भूतानि जायन्ते" आनन्द अपने-आपको नाना रूप, नानाकाल में प्रकाशित कर रहा है, हम केवल देख रहे हैं, उन नाना रूपों को कि हमारा आत्मा देखना चाहता है उस नानात्व में होकर उस एक मूल आनन्द को, जब तक उस मूल आनन्द का आभास नहीं होता, तब तक वस्तु के परे वस्तु, घटना के परे घटना, हमें क्लान्त करते रहते हैं, क्लिष्ट करते रहते हैं, हमें अन्तहीन पथ पर दौड़ा-दौड़ा कर मारते हैं। हमारा विज्ञान समस्त वस्तुओं में एक सत्य वस्तु की खोज करता है, हमारा इतिहास समस्त घटनाओं में एक अभिप्राय ढूँढता है, हमारा प्रेम समस्त सत्ताओं में एक आनन्द खोजता है, नहीं तो वह कहीं 'ओ३म्' नहीं कह सकता, 'हाँ मिल गया' नहीं कह सकता।

हम जब किसी अन्धकारपूर्ण घर में अपनी प्रार्थनीय वस्तु को ढूँढते फिरते हैं तो चारों ओर माथा मारते रहते हैं, टक्कर खाते रहते हैं, तब कितनी छोटी वस्तु को बड़ा मानते हैं, कितनी तुच्छ वस्तु को बहुमूल्य मानते हैं, कितनी ही वस्तुओं को पकड़कर कहते हैं, यह मिल गई—फिर देखते हैं वह मुट्ठी में रहते-रहते मुड़कर धूल हो जाती है।

असली बात यह है कि इस अंधकार में मुझे पता ही नहीं कि क्या चाहिए? किन्तु जैसे ही एक प्रकाश प्रज्ज्वलित होता है वैसे ही एक मुहूर्त में समस्त सहज हो जाता है—उसी इतने दिन की इतनी खोज, इतनी माथापच्ची के बाद पलक मारते में जान सकते हैं कि जो कुछ समस्त हमारे हाथ को छू रहा था वह हमारी प्रार्थनीय वस्तु नहीं है। जो माता इस समस्त घर को सजाकर चुप होकर बैठी थी, वही है हमारी यथार्थ कामना—धन। जैसे ही प्रकाश हुआ वैसे ही तुरन्त सब वस्तुएँ छोड़, दोनों हाथ बढ़ाकर-दौड़कर उनके पास पहुंचूँगा।

अथच माँ को पाने-मात्र में ही सहज भाव में उनके साथ सारी वस्तुएँ एकत्रित मिल गईं, कोई विशेष वस्तु स्वतन्त्र होकर मेरे पथ में बाधा रूप होकर नहीं खड़ी है। माँ के परिचय-मात्र से यह सब सजा

हुआ घर मेरा हो गया और फिर घर की समस्त सामग्री में मेरा अबाध संचरण हो गया। वस्तु का ठीक जैसा व्यवहार है वैसा अधिकार मुझे मिल गया, अब वस्तु का अधिकार मुझ पर नहीं है, मेरा ही अधिकार उस पर है।

इसीलिए कह रहा था, कर्म हो, चाहे ज्ञान, चाहे प्रेम सबमें उसी एक को, उसी अमल चीज़ को पाते ही सब पर सहज अधिकार हो जाता है—और पदार्थों का समस्त भार तुरन्त लाघवता प्राप्त करता है। तैरना सीखकर जैसे अगाध जल का विहार हमारे लिए स्वाभाविक हो जाता है और फिर अतुल जल में डूबने से भी विनाश नहीं होता, अपने आप निकल आते हैं। तैरना नहीं जानने से जल हमें पग-पग पर बाधा उत्पन्न करता है, हमारा नाश करने को उद्यत होता है। जिस जल में संचरण करना तैरना जानकर एक लीला है, हमारे लिए आनन्द है, तैरना न जानकर उसी जल का संचरण हमारे लिए दुःख, हमारे लिए मृत्यु, उस समय थोड़े-से जल में भी हाथ-पैर मारने से साँस फूल जाती है और हम क्लान्त हो जाते हैं।

अपने असली जानने के विषय को, पाने के विषय को, ज्योंही हम प्राप्त करते हैं, त्योंही संसार की विचित्रता हमें बन्धन में नहीं डाल सकती, रुकावट नहीं कर सकती और मार नहीं सकती। फिर पहले जो विभीषिका थी वही अब सहज हो जाती है, संसार में फिर हम मुक्त-भाव से आनन्द प्राप्त करते हैं। फिर संसार का अधिकार हम पर नहीं, हमारा ही अधिकार संसार पर हो जाता है। फिर पहले जो पद-पद पर हमारे ऊपर आक्षेप-विक्षेप और शक्ति का अपव्यय हो रहा था वह सब समाप्त हो जाता है।

इसीलिए उपनिषद् में कहा है—"ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति।" उस सर्वव्यापी को जिन्होंने सब ओर से प्राप्त किया है, वे धीर होकर, युक्तात्मा होकर सबमें प्रवेश करते हैं। प्रथम तो वे धैर्य-लाभ करते हैं और फिर वे नाना विषय और नाना

व्यापार के बीच केवल विक्षिप्त होकर, उद्भ्रान्त होकर नहीं घूमते, वे अप्रगल्भ, अप्रमत्त और धीर होकर रहते हैं। वे युक्तात्मा होते हैं, उस परम एक के साथ योगयुक्त होते हैं। अपने को किसी अहंकार, किसी आसक्ति द्वारा स्वतन्त्र और विच्छिन्न नहीं करते, उस एक के साथ मिलकर आनन्द में विश्व के समस्त बहु के मध्य प्रवेश करते हैं, समस्त बहु तब उनके पथ से हट जाता है।

उन सकल धीर, उन सकल युक्तात्माओं को प्रणाम करके उन्हीं के पथ का हम अनुसरण करेंगे। यह है एक के साथ योग करने का पथ, सकल में प्रवेश करने का पथ, ज्ञान, प्रेम एवं कर्म की चरम परि-तृप्ति का पथ।

कठिन तथा सहज

साधना के दो अंग हैं—एक ग्रहण करना दूसरा त्याग। एक कठिन, दूसरा सरल।

जहाज के दो अंग चलाने में काम आते हैं, एक हाल (कर्ण, पतवार) और दूसरा पाल। हाल को खूब मजबूती से पकड़कर रखना पड़ता है। ध्रुव तारे की ओर लक्ष्य स्थिर करके सीधा रास्ता पकड़कर चलते ही रहना चाहिए। इसके लिए दिशा जानने की आवश्यकता है, नक्षत्र-परिचय की आवश्यकता है, कहाँ विपद् आ जायगी, कहाँ सुयोग है, यह समस्त सर्वदा मन में रखकर, न चलते रहने से, काम नहीं चलता। इसके लिए अहरह सचेष्ट सतर्कता एवं दृढ़ता प्रयोजनीय है। इसके लिए ज्ञान और शक्ति की आवश्यकता है।

और एक कार्य है जहाज को अनुकूल हवा के अर्पण करना। जहाज का जितना पाल है समस्त को इस प्रकार से ढीला, करना कि हवा के सुयोग से वह लेशमात्र भी वंचित न रह सके।

आध्यात्मिक साधना में भी उसी प्रकार है। एक ओर जिस प्रकार अपने ज्ञान को विशुद्ध एवं शक्ति को सचेष्ट रखना पड़ता है, दूसरी ओर

उसी प्रकार ईश्वर की इच्छा पर अपने को सम्पूर्ण भाव में निवेदन करना पड़ता है। उनमें एकान्त सहज भाव से प्रवेश हो सकता है।

अपने को नियम के पथ पर दृढ़ रखने की साधना अनेक जगह देखने में आती है, किन्तु अपने को उनके हाथ समर्पण करने की साधना अल्प ही दिखाई पड़ती है। यहाँ भी जैसे मनुष्य कृपणता करता है। वह अपने को अपने ही हाथ में रखना चाहता है, दूसरे के हाथ में नहीं। किसी एक कठोर व्रत-पालन में वह अपनी शक्ति का परिचय देता है। प्रतिदिन एक हिसाब देखता है कि नियम पर दृढ़ रहने से इतनी प्रगति हुई। इसी में उसे एक 'विशेष अभिमानपूर्ण आनन्द मिलता है।

अपने जीवन को ईश्वर के समर्पण कर देने का अर्थ यह नहीं है कि मैं जो-कुछ भी करता हूँ, वह ही कर रहे हैं, इसकी कल्पना-मात्र करना; करता रहूँ मैं, नाम लगाता रहूँ उनका, एवं दायित्व रखता रहूँ उन पर, ऐसा दुर्विपाक (दुर्घटना) न घट जाय।

ईश्वर के पास जीवन को एकदम पूरी तरह से पकड़ कर रखना चाहिए। उन्हें सम्पूर्ण मानना पड़ेगा। एक ओर झुककर और कतरा-कर निकल जाने से तो काम चलेगा नहीं। उनका आह्वान, उनकी प्रेरणा को पूरा-पूरा ग्रहण करने के लिए अपना जीवन प्रति मुहूर्त उनकी ओर प्रसारित करते रहना चाहिए।

'प्रभु ! क्या इच्छा है, क्या आदेश है' यह प्रश्न जाग्रत रखकर सर्वदा प्रस्तुत रहो, जो श्रेय है वह सहज ही उसे फिर चलाकर ले जायगा एवं अन्त तक ले जायगा।

जानामि धर्मं नचमे प्रवृत्तिः
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः
त्वया हृषीकेश हृदि स्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि

इस श्लोक का अर्थ यह नहीं है कि मैं चाहे धर्म करूँ अथवा

अधर्म, आप मुझे जैसे भी चलाते हैं वैसे ही चलता हूँ। इसका भाव यह है कि मैं यदि अपनी प्रवृत्ति पर ही जोर दूँ तो वह मुझे धर्म की ओर नहीं ले जाती, अधर्म से नहीं छुड़ाती। इसलिए हे प्रभु, मैंने निश्चय किया है कि आपको ही हृदय में रखूँगा एवं आप मुझे जिधर चलायेंगे उधर चलूँगा, अहंकार मुझे जिधर भी चलाना चाहेगा उधर मैं नहीं चलूँगा, अहंकार मुझे जिस पथ से निवृत्त करना चाहे उस पथ से मैं निवृत्त नहीं होऊँगा।

अतएव उन्हें हृदय में स्थापित करके उनके हाथ में अपना भार सौंप देना, नित्यप्रति अपनी इच्छा शक्ति की एकमात्र यह साधना बन जाय।

इसकी साधना में आदि से ही अहंकार को उसके उच्च शिखर से एकदम नीचे उतारना पड़ेगा। पृथ्वी की सकल वस्तुओं के साथ समानता रखो, सबसे पीछे आकर खड़े होओ, सबसे नीचे जाकर बैठो, उससे कोई क्षति नहीं होती। तुम्हारी दीनता ईश्वर के प्रसाद से परिपूर्ण हो जाय, तुम्हारी नम्रता सुमधुर अमृत-फल के भार से सार्थक हो जाय। सर्वदा झगड़ा करके अपने लिए वह थोड़ी-सी स्वतन्त्र जगह बचाकर रखने की क्या आवश्यकता है, उसका मूल्य क्या है? जगत् के सब प्राणियों को एक-सा मानने में झगड़ा क्या? भगवान् वहाँ भी बैठे हैं जहाँ सबसे ऊँचे बनकर रहने के लिए तुम अकेले बैठे हो। वहाँ उनका स्थान अति संकीर्ण है।

जब तक तुम आत्म-समर्पण नहीं करोगे तब तक तुम्हारी हार-जीत, तुम्हारे सुख-दुःख, तरंग की भाँति ऊँचा-नीचा होते रहेंगे, केवल घुमाते ही रहेंगे, प्रत्येक का पूर्ण आघात तुम्हें सहना पड़ेगा। जब तुम्हारी पाल में उनकी हवा लगेगी तब तरंग समान बनी रहेगी, किन्तु तुम्हारी नाव हू-हू करती चली जायगी। वह तरंग फिर आनन्द की तरंग होगी, फिर प्रत्येक तरंग तुम्हें नमस्कार करती रहेगी और इस बात का प्रमाण देगी कि तुमने उन्हें आत्म-समर्पण कर दिया है।

इसीलिए कह रहा था, जीवन-यात्रा की साधना में अपनी शक्ति

की चर्चा जितनी भी करें, किन्तु ईश्वर की चिर-प्रवाहित अनुकूल दक्षिण वायु के लिए अपने समस्त पाल एकदम पूर्ण भाव में खोल देने की बात न भूल जायँ।

नमस्तेऽस्तु

कोई लता गोल-गोल आँकड़े-द्वारा अपने आश्रय को वेष्टन करती है, कोई लता छोटी-छोटी जड़ों द्वारा आश्रय ने चिपट जाती है और कोई लता अपनी समस्त देह को लेकर अपने अवलम्बन को घेर लेती है।

हम भी ईश्वर से जिन सम्बन्धों द्वारा मिलते हैं वे एक ही प्रकार के नहीं हैं। हम उनका पिता-भाव में आश्रय ले सकते हैं, प्रभु-भाव में भी और बन्धु-भाव में भी। जितने प्रकार के सम्बन्ध-सूत्रों से हम जगत् में अपने को बाँधते हैं उन समस्त के मूल में वह मौजूद हैं। जिस रस द्वारा वे सकल सम्बन्ध पुष्ट होते हैं वह रस उन्हीं का है, इसलिए सब सम्बन्ध उनमें ठीक बैठ जाते हैं। सकल प्रकार के भाव लेकर मनुष्य उन्हें प्राप्त कर सकता है।

सब सम्बन्धों में प्रथम सम्बन्ध पिता और पुत्र का सम्बन्ध है। पिता कितना भी बड़ा हो और पुत्र कितना भी छोटा, उभय के बीच शक्ति का कितना भी वैषम्य रहे, तो भी उभय में गम्भीरतर ऐक्य ही है। उस ऐक्य के योग से ही इतने छोटे बालक को, उस इतने बड़े पिता को लाभ होता है।

ईश्वर को यदि प्राप्त करना चाहते हैं तो उन्हें किसी-न-किसी सम्बन्ध द्वारा ही पा सकते हैं, नहीं तो वह केवल एक दर्शन के तत्त्व रह जायँगे, न्याय-शास्त्र का सिद्धान्त बनकर रह जायँगे, हमारे अपने नहीं बन पायेंगे।

वह केवल हमारी बुद्धि के ही विषय नहीं हैं। उससे कहीं अधिक बड़े हैं, वह हमारे अपने-आप हैं, वह यदि हमारे अपने-आप न होते तो संसार में कोई भी अपना न होता, फिर अपना-आप कहने का कोई अर्थ ही नहीं था। जिस प्रकार वह इतने बृहत् सूर्य को क्षुद्र पृथ्वी का अपना-

आप बनाकर इतने लक्ष योजन क्रोश के दूरत्व को समाप्त करके स्वयं मध्य में विराजमान हैं, इसी प्रकार वह एक मनुष्य के दूसरे मनुष्य के साथ सम्बन्ध में स्वयं विराजमान हैं, नहीं तो एक-दूसरे के बीच अनन्त व्यवधान रहते, और मध्य में यदि मिलन के अनन्त सेतु न रहते तो इन अनन्त व्यवधानों को पार करते कैसे ?

इसलिए वह कोई दुरूह तत्त्व की बात नहीं, वह तो अत्यन्त अपने हैं। सकल अपनों के बीच एकमात्र चिरन्तन अखण्ड अपने, वृक्ष के फल को उन्होंने किसी एक सत्य का रूप देकर लटका नहीं रखा है, स्वाद, गंध और शोभा आदि के विशेष रूप देकर उन्होंने उसे हमारा अपना बना दिया है। वह मेरे अपने हैं, इसीलिए उन्होंने फल में नाना रस भरकर मुझे दिया है, नहीं तो फल नामक सत्य को मैं किसी प्रकार भी, किसी दिशा में थोड़ा-सा भी प्राप्त न कर सकता।

किन्तु कितनी दूर-पर्यंत वह अपने-आप में जाता है, कितनी दूर-पर्यत गम्भीरता में जाता है, यह उन्होंने मनुष्य-मनुष्य के सम्बन्ध में दिखा दिया है—शरीर, मन, हृदय, सर्वत्र उनका प्रवेश, कहीं उनका विच्छेद नहीं, विरह एवं मृत्यु भी उन्हें विच्छिन्न नहीं कर सकते।

इसीलिए मनुष्य के इस सम्बन्ध द्वारा हम कितनी उपलब्धि कर सकते हैं। निखिल ब्रह्माण्ड नित्यकाल जो हमारे अपने हैं वह हमारे क्या हैं ? यह वही हैं जिन्हें 'सत्यं ज्ञानमनन्तं' ब्रह्म कहकर हमारी वाणी शेष नहीं हो जाती। उससे भी चरमतम अन्तरतर बात है, तुम मेरे अपने हो, तुम मेरी माता हो, मेरे पिता हो, मेरे बन्धु हो, मेरे प्रभु हो, मेरी विद्या हो, मेरे धन हो, त्वमेव सर्वं मम देव देव, तुम मेरे और मैं तुम्हारा तुममें मुझमें यह जो योग है यही सबसे बड़ा सत्य है, सबसे बड़ी सम्पद है, तुम मेरे महत्तम और सत्यतम आत्म-स्वरूप हो।

ईश्वर के साथ इस योग की उपलब्धि के लिए एक मन्त्र है, "पिता नोऽसि" तुम हमारे पिता हो। जो सत्य अनन्त है उसे अपनाने का यही एक मन्त्र है तुम हमारे पिता हो।

मैं छोटा हूँ, तुम ब्रह्म हो, तब भी मुझमें और तुझमें मेल है, साम्य है, एकता है, क्योंकि तुम पिता हो। मैं अबोध, तुम अनन्त ज्ञान, तो भी तुममें-मुझमें ऐक्य है—तुम पिता जो हो।

इसी योग द्वारा तुममें-मुझमें विशेष भाव से यातायात है, तुममें-मुझमें विशेष भाव से देना-लेना है। इस योग को मुझे सम्पूर्ण ज्ञान के सहित, सम्पूर्ण बल के सहित अवलम्बन करना चाहिए। इसीलिए मेरी प्रार्थना है—"पिता नो बोधि", तुम मेरे पिता हो ऐसा बोध मुझे कराओ। तुम तो 'पिता नोऽसि', हमारे पिता हो, किन्तु केवल हो यह कहने से तो काम नहीं चलेगा। 'पिता नो बोधि', तुम मेरी पिता के समान रक्षा करते हो यह बोध मुझे कराओ।

अपने चैतन्य और बुद्धि-योग से जो-कुछ ज्ञान पाता हूँ समस्त उनसे ही प्राप्त करता हूँ, 'धियो यो नः प्रचोदयात्'—वह मेरी सकल धी-शक्ति को प्रेरणा देते हैं। जो विश्व-ब्रह्माण्ड को अखण्ड, एक करके रहते हैं, उनको छोड़ और ज्ञान मिलेगा कहाँ—किन्तु इसके साथ यह बोध भी मिले कि वही देते हैं।

वही पिता रूप में मुझे ज्ञान देते हैं, यह बोध मेरे अन्तर में रहने से ही मैं यथार्थ-भाव में उन्हें नमस्कार कर सकता हूँ। सब-कुछ मैं उनसे ही लेता हूँ, पाता हूँ, फिर भी उन्हें नमस्कार नहीं कर सकता, मेरा मन कठोर है, मस्तक उद्धत हो गया है, क्योंकि मेरा जो उनके साथ योग है, वह मेरे बोध में ढूँढे नहीं मिलता।

इसीलिए हमारी प्रार्थना है, 'नमस्तेऽस्तु' हमारा नमस्कार आपको पहुँचे। हम नम्रता के साथ आत्म-समर्पण में परिपूर्ण होकर आपके चरण-युगल में लोट जायँ। हमारा समस्त जीवन मानो आपके प्रति नमस्कार-रूप में परिणत हो जाय।

आपके साथ मेरा सम्बन्ध यही है कि आप मुझे देते रहेंगे और मैं नमस्कार में नतमस्तक होकर ग्रहण करता रहूँगा। यह नमस्कार अति मधुर है। यह जलभारनत मेघ के समान, फलभारनत शाखा के

समान, रस तथा मंगल से परिपूर्ण है। इसी नमस्कार द्वारा जीवन-कल्याण से भर उठता है, सौन्दर्य से फूल जाता है। यह नमस्कार केवल निविड़ माधुर्य ही नहीं है, प्रबल शक्ति भी है। जिस प्रकार नमस्कार अनायास यह ग्रहण कर सकता है और वहन भी, उद्धत अहंकार उस प्रकार नहीं कर सकता।

इसे कोई पराभूत नहीं कर सकता। इस नमस्कार द्वारा जीवन समस्त आघात, क्षति, विपद् और मृत्यु सबके ऊपर अति सहज में जयी हो जाता है। इस नमस्कार द्वारा जीवन का समस्त भार क्षण में लाघवता प्राप्त करता है, पाप उसके ऊपर से क्षणिक एक वन्या (बाढ़) की तरह चला जाता है, उसे तोड़-मरोड़कर नहीं जा सकता। इसीलिए प्रतिदिन प्रार्थना करते हैं, 'नमस्तेऽस्तु'। मान मिले चाहे अपमान मिले, 'नमस्तेऽस्तु'। सुख आये चाहे दुःख, मेरा नमस्कार है। आप शिक्षा दे रहे हैं यह जानकर 'नमस्तेऽस्तु'। आप रक्षा करते हैं जानकर 'नमस्तेऽस्तु'। आप नित्य और नियत ही निकट हैं जानकर 'नमस्तेऽस्तु'। आपके गौरव से ही मेरा गौरव है जानकर 'नमस्तेअस्तु'। अखण्ड ब्रह्माण्ड, अनन्तकाल के अधीश्वर आप ही 'पिता नोऽसि' जानकर 'नमस्तेऽस्तु नमस्तेऽस्तु'। मेरा विषय को आश्रय मानना समाप्त कर दो, 'नमस्तेऽस्तु'। अपने को ही बड़ा मानने की मेरी भावना को नष्ट कर दो, 'नमस्तेऽस्तु'। आपको ही यथार्थ रूप में नमस्कार करके चिर-दिन परित्राण प्राप्त कर सकूँ।

मन्त्र का बन्धन

वीणा का कोई तार पीतल का तो कोई इस्पात का, कोई मोटा कोई बारीक, कोई मध्यम सुर में बाँधने के लिए तो कोई पंचम में। किन्तु फिर भी एक शुद्ध सुर बाँधे और माने बिना सब मिट्टी हो जाता है।

जगत् में हमें अपना भगवान् के साथ कोई विशेष सम्बन्ध स्थापन

करना पड़ता है—हमें भी एक विशेष सुर बजाना पड़ेगा।

सूर्य, चन्द्र, तारा, औषधि, वनस्पति सकल ही इस विशाल संगीत में अपने एक-न-एक विशेष सुर द्वारा योग दे रहे हैं। क्या मनुष्य को भी अपने जीवन द्वारा इस चिर-उद्गीत संगीत में योग नहीं देना चाहिए ?

किन्तु हमने अभी तक इस जीवन को तार के समान नहीं बाँधा। इसमें अभी तक किसी गान का आविर्भाव नहीं हुआ। यह हमारा जीवन सूत्र-विच्छिन्न विचित्र तुच्छता में अकृतार्थ हो रहा है। जैसे भी हो सके, इसके किसी एक नित्य सुर को ध्रुव बनाना पड़ेगा।

तार को बाँधें कैसे ?

ईश्वर की वीणा में अनेक तार बाँधने के सम्बन्ध होते हैं, उनमें से एक को अपने मन के अनुसार बाँधकर रखना है। यह वीणा के कान (खूँटी) के समान हैं, जो तार को ऐंठकर रखता है, ढीला नहीं होने देता।

विवाह के समय स्त्री और पुरुष की ग्रन्थि बाँध देते हैं। उसे मन्त्र के साथ बाँधते हैं, वही मन्त्र मन में भी ग्रन्थि बाँधता है।

ईश्वर के साथ हमारा इस ग्रन्थि-बन्धन का प्रयोजन है, मन्त्र इसमें सहायता करता है। इस मन्त्र का अवलम्बन करके हम उनके संग एक विशेष सम्बन्ध पक्का कर लेते हैं।

उसी प्रकार का एक मन्त्र है 'पिता नोऽसि'।

इसी सुर से जीवन को बाँधकर समस्त चिन्ता और कर्म में एक विशेष रागिनी पैदा हो जायगी। मैं उनका पुत्र हूँ यह धारणा करते ही यह बात मेरे समस्त में प्रकाशित हो जायगी कि मैं उनका पुत्र हूँ। आज हमारे भीतर किसी भाव का भी प्रकाश नहीं है। आहार करते हैं, कार्य करते हैं, विश्राम करते हैं, बस इतना भर। किन्तु अनन्त काल के और अनन्त जगत् के जो मेरे पिता हैं उनका कोई लक्षण ही दिखाई नहीं देता, अनन्त के साथ हमारा अभी तक कोई ग्रन्थि-बन्धन

नहीं हुआ ।

उसी मन्त्र द्वारा इस जीवन का तार आज हम बाँधें । आहार में, बिहार में, शयन में, स्वप्न में, वही मन्त्र बारम्बार हमारे मन में बजता रहे, 'पिता नोऽसि' । जगत् में हमारे पिता हैं यह बात सबको मालूम हो जाय, किसी से गुप्त न रहे ।

भगवान् ईसा इस स्वर को पृथिवी पर बजा गए है । इतना ठीक उनके जीवन का तार बँधा था कि मरणान्तक यन्त्रणा का दुःसह आघात भी उसे लेशमात्र बेसुरा न बना सका, उन्होंने केवल यही कहा, 'पिता नोऽसि ।'

जिस सुर का आदर्श वह दिखा गए हैं, उस शुद्ध आदर्श के साथ एकान्त यत्न से अपना तार मिलाकर बाँधना होगा, जिससे फिर सोच दूर हो और जिससे सुख में, दुःख में, प्रलोभन में अपने-आप गा उठें, 'पिता नोऽसि ।'

हे पिता, मैं आपका पुत्र हूँ, इस स्वर का जीवन में प्रकाश करना कोई छोटी बात नहीं है, क्योंकि 'आत्मा वै जायते पुत्रः' पुत्र पिता का ही प्रकाश है । सन्तान के रूप में पिता ही सन्तत (उत्पन्न) होता है । आपकी ही अपापविद्ध, आनन्दमय परिपूर्णता यदि व्यक्त करके न दिखा सकूँ तो 'पिता नोऽसि' यह स्वर नहीं बजेगा ।

इसीलिए हमारी प्रतिदिन की एकान्त प्रार्थना हो, 'पिता नो बोधि, नमस्तेऽस्तु ।'

प्राण और प्रेम

'पिता नोऽसि' मन्त्र को अपने जीवन में ग्रहण करूँगा । किससे ग्रहण करूँगा ? जो पिता हैं उन्हीं से । उनसे कहूँगा, "आप पिता हैं, आप ही मुझे बोध करा दीजिए, मेरे जीवन के समस्त इतिहास में होकर, समस्त सुख-दुःख में होकर बोध कराइये ।

पिता के साथ हमारा जो सम्बन्ध है वह कोई बनावटी सम्बन्ध तो

है नहीं। राजा के साथ प्रजा का, प्रभु के साथ भृत्य का, एक परस्पर-समझौते का विषय है, उसी समझौते पर उनका सम्बन्ध स्थित है। किन्तु पिता के साथ पुत्र का सम्बन्ध बाह्यिक नहीं है, वह आदितम सम्बन्ध है। वह सम्बन्ध पुत्र के अस्तित्व के मूल में है। अतएव यह गम्भीर आत्मीय सम्बन्ध किसी बाह्य अनुष्ठान या किसी क्रिया-कलाप द्वारा रक्षित नहीं है, केवल भक्ति द्वारा एवं भक्ति-जनित कर्म द्वारा यह सम्बन्ध स्वीकार करना चाहिए।

पिता के साथ मूल सम्बन्ध कहाँ होता है ? प्राण में, पिता के प्राण ही सन्तान के प्राण में संचारित हैं।

'केनोपनिषद्' में प्रश्न किया है 'केन प्राणः प्रथमः प्रैतियुक्तः ?' प्राण को किसके द्वारा प्रथम प्रैति (Energy) प्राप्त हुई है ? इस प्रश्न में उत्तर भी प्रच्छन्न रूप में है—जो महाप्राण हैं उनके द्वारा।

जगत् में कोई एक प्राण ही तो संकीर्ण सीमा में अपने में, स्वयं आबद्ध नहीं है, उसका जगत् के समस्त प्राणों के साथ योग है। मेरे शरीर में जो प्राण की चेष्टा चल रही है वह केवल इस शरीर-मात्र की ही तो नहीं है। यह जगत्-व्यापी आकर्षण-विकर्षण, यह जगत्-व्यापी रासायनिक शक्ति, जल, वायु, आलोक, उत्ताप इसे निखिल प्राण से युक्त करके रखे हैं। विश्व के प्रत्येक अणु तथा परमाणु में जो अविश्राम चेष्टा हम देखते हैं हमारे इस शरीर की चेष्टा भी उस विराट् प्राण की मात्रा ही है। इसीलिए उपनिषद् में कहा है, "यदिदम् किंच जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतम्" विश्व में जो कुछ चलायमान है समस्त ही प्राण से निःसृत होकर स्पन्दन कर रहा है। इस प्राण का स्पन्दन जैसा दूरतम नक्षत्र में, वैसा ही हमारे हृत्पिण्ड में ठीक एक ही सुर और एक ही ताल में।

प्राण केवल शरीर का ही नहीं, मन का भी प्राण है। मन में भी चेष्टा है। मन चलता है, बढ़ता है, मन का बराबर परिवर्तन होता रहता है। यह स्पन्दित तथा तरंगित मन कभी भी केवल मेरे क्षुद्र पर्यटन में

आबद्ध नहीं है। उसी वर्तमान प्राण के साथ हाथ-में-हाथ डालकर निखिल विश्व में वह आन्दोलित हो रहा है, नहीं तो मैं उसे कभी पा ही नहीं सकता था। मन के द्वारा मैं समस्त जगत् के मन के साथ युक्त हूँ। इसीलिए उसकी सर्वत्र गति का विधान है, नहीं तो मेरे इस एक ही घर में अन्ध मन केवल मेरे ही अन्धकारागार में पड़ा हुआ दिन-रात रोता रहता।

मेरे मन का प्राण अविच्छिन्न भाव में निखिल विश्व में होकर उस अनन्त कारण के साथ योगयुक्त है। प्रतिक्षण ही मैं वहाँ से प्राण, चैतन्य, धी शक्ति लाभ करता हूँ, यह बात केवल विज्ञान से जानकर नहीं, भक्ति द्वारा उपलब्ध कर सकने पर ही 'पिता नोऽसि' मन्त्र सार्थक हो सकेगा। मेरे प्राणों में विश्व-प्राण, मन में विश्व-मन है, कहने से हीं इतनी बड़ी बात सम्पूर्ण ग्रहण नहीं हो जाती, इसे बाहर ही रखना पड़ता है। मेरे प्राणों में पिता के प्राण हैं, और मन में पिता का मन है, यह बात अपने को ठीक से समझानी पड़ेगी।

पिता की ओर से मेरी ओर केवल प्राण प्रवाहित हो रहे हैं इतना ही बस नहीं है, उनकी ओर से मेरी ओर प्रेम का भी उन विश्राम संचार हो रहा है। हममें केवल चेष्टा-मात्र ही नहीं, गति-मात्र ही नहीं, आनन्द भी है। हम केवल जीवित हैं, कार्य भर कर रहे हैं, नहीं, हमें रस की प्राप्ति भी हो रही है। हमारे देखने में, सुनने में, आहार में, बिहार में, कार्य में, कर्म में, मनुष्य के साथ नाना प्रकार के योग में, नाना सुख और नाना प्रेम भी हैं।

इस रस की प्राप्ति कहाँ से हो रही है? यह क्या हमारे अन्तर में विच्छिन्न रूप में है? क्या केवल यह मेरे कारखाने की सुरंग के अन्धकार में तैयार होता है?

ऐसा नहीं, विश्व-भुवन में समस्त को परिपूर्ण करके वह आनन्दित रहते हैं। जल, स्थल, आकाश, सबमें वह आनन्दमय विद्यमान हैं। अपने प्रेम को, अपने आनन्द को नियत रूप से प्रेरणा कर रहे हैं, इसीलिए मैं

जीवित रहकर आनन्दित हूँ, कर्म करके आनन्दित हूँ, ज्ञान पाकर आनन्दित हूँ। मनुष्य के साथ अनेक सम्बन्ध में आनन्दित हूँ। उनके प्रेम की तरंग मुझे बराबर स्पर्श करती है आघात करती है तथा सचेतन करती है।

यह जो अहोरात्र उस भूमा का प्रेम नाना वर्ण, नाना गन्ध और गीत में होकर, नाना स्नेह में, सखा भाव में श्रद्धा के साथ ज्वार के वेग के समान हमारे भीतर प्रवेश कर रहा है इसके बोध से परिपूर्ण होकर हम यह कह उठें, "पिता नोऽसि"। वह मुझे प्राण और प्रेम से भरपूर कर रहे हैं इस अनुभूति का मैं विस्मरण न कर डालूँ। यह अनुभूति जिनको उज्ज्वल (साफ) थी, उन्होंने कहा है, "कोह्येवान्यात्, कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवा नन्दयति," कोई भी क्या कुछ शरीर या प्राण की चेष्टा करता, यदि इस आकाश में आनन्द न होता। यही आनन्द सकल को आनन्द प्रदान कर रहा है।

भय और आनन्द

"ओऽम् पिता नोऽसि" इस मंत्र में दो भावों का सामंजस्य है। एक ओर पिता और पुत्र का साम्य, पुत्र में पिता अपने को ही प्रकाशित कर रहे हैं, और दूसरी ओर पिता बड़ा है और पुत्र छोटा।

एक ओर अभेद का गौरव दूसरी ओर भेद की प्रणति। पिता के साथ अभेद होने से हम आनन्द कर सकते हैं, किन्तु स्पर्धा नहीं। मेरी जहाँ तक सीमा है उस सीमा पर पहुंचकर मुझे माथा नत करना होगा।

किन्तु इस नीति में अपमान नहीं, क्योंकि वह केवल मेरे बड़े ही नहीं, मेरे अपने भी हैं, मेरे पिता हैं, मेरे ही बड़े हैं और मैं उनका छोटा रूप हूँ। उन्हें प्रणाम करके, मैं अपने बड़े को प्रणाम करके, अपने को ही प्रणाम करता हूँ। इसमें कोई वाह्य ताड़ना नहीं, कोई जबरदस्ती नहीं। जिस बड़े में मैं हूँ और जिस बड़े में रहकर ही मेरी सार्थकता है, उन्हें प्रणाम करना एकमात्र स्वाभाविक है। कुछ मिल जाय इसलिए प्रणाम नहीं। कुछ दे दूँ इसलिए प्रणाम नहीं, भय से प्रणाम नहीं, जोर से

प्रणाम नहीं, अपने ही अनन्त गौरव की उपलब्धि को प्रणाम। प्रणाम के इस महत्व को अनुभव करने पर ही यह प्रार्थना निकलती है, 'नमस्तेऽस्तु' आप में मेरा नमस्कार सत्य हो जाय।

उन्हें 'पितानोऽसि' स्वीकार करके उनके साथ हमारे सम्बन्ध की एक परिमाण में रक्षा होती है। उनके लिए केवल भाव-रस में प्रमत्त हो जाने की एक उच्छृङ्खल आत्म-विस्मृति भी हम पर आक्रमण नहीं कर सकती। सम्भ्रम (मान) द्वारा हमें आनन्द-गाम्भीर्य प्राप्त होता है तथा अचल गौरव प्राप्त होता है।

प्राचीन वेद में समस्त मानव-सम्बन्धों में इस पिता के सम्बन्ध को ही ईश्वर में विशेष भाव से प्राप्त किया है। उन्होंने माता के सम्बन्ध को भी स्थान नहीं दिया, क्योंकि माता के सम्बन्ध में भी एक ओर वजन कम है, एक ओर सम्पूर्णता का अभाव है। माता सन्तान का सुख देखती है, आराम देखती है, उसकी क्षुधा-तृप्ति करती है, उसे शोक में सांत्वना देती है, उसके रोगी होने पर सुश्रूषा करती है। यह समस्त, सन्तान की उपस्थित अभाव-निवृत्ति के प्रति लक्ष्य करके होता है।

पिता की दृष्टि सन्तान के समस्त जीवन के बृहत् क्षेत्र पर रहती है। उसका समस्त जीवन समग्र भाव से सार्थक हो ऐसी उनकी कामना रहती है। इसलिए सन्तान का आराम और सुख उनके लिए एकान्त नहीं। इसलिए सन्तान को वह दुःख भी देते हैं, शासन भी करते हैं, उसे वंचित भी करते हैं, जिससे नियम का उल्लंघन करके भ्रष्टता प्राप्त न हो, उस ओर उसे सतर्क रखते हैं।

अर्थात् पिता में माता का स्नेह है, किन्तु वह स्नेह संकीर्ण सीमा में बद्ध न होने से अति प्रकट दिखाई नहीं पड़ता एवं उसे लेकर यथेच्छ खेल नहीं कर सकते।

इसीलिए पिता को नमस्कार करते समय कहते हैं—'नमः शम्भवाय च भयस्कराय च।' जो सुखकर हैं उन्हें नमस्कार, जो कल्याणकर

हैं उन्हें भी नमस्कार।

पिता ने हमारे सुख का ही आयोजन नहीं किया, मंगल का भी विधान किया है, इसलिए सुख में उन्हें नमस्कार और दुःख में भी उन्हें नमस्कार। वहाँ पर ही पिता की पूर्णता है, वह दुःख देते हैं।

उपनिषद् में एक ओर जहाँ कहते हैं—"आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते" आनन्द से ही इस समस्त का जन्म हो रहा है, तो दूसरी ओर वहीं यह भी कहते हैं—"भययादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्य्यः" उनके भय से अग्नि जलती है और सूर्य तपता है।

उनका आनन्द उच्छृङ्खल आनन्द नहीं है, उनमें एक अमोघ नियम का शासन है। अनन्त देश और अनन्त-काल में कहीं एक कण भी लेशमात्र भ्रष्ट नहीं हो सकता। वह अमोघ नियम है भय। उनसे कोई चतुराई की चाल नहीं चलती, वह कहीं किसी को तिलमात्र प्रश्रय नहीं देते।

"यदिदं किंच जगत् सर्व प्राण एजति निःसृतं महदभयं वज्रमुद्यतम्।" यह जो-कुछ जगत् समस्त प्राण से ही निःसृत होकर प्राण में ही कम्पित हो रहा है—यह प्राण जिससे समस्त उद्भूत हुआ है एवं जिसमें समस्त यह चल रहा है वह है कैसा ? वह उद्यत वज्र के समान महा भयंकर। इसीलिए तो सब ठीक से चलता है, नहीं तो विश्व की यह व्यवस्था उन्मत्त प्रलाप के समान अति निदारुण हो उठती, क्योंकि हमारे पिता हैं—"भयानां भयं भीषणं भीषणानां।" इस भय द्वारा अनादि काल से सर्वत्र सकल की सीमा ठीक रहती है, सर्वत्र सकल का परिमाण रक्षित रहता है।

हमारे भी आचरण की दिशा में, क्या वाक्य की, क्या व्यवहार की उस दिशा में पिता खड़े हैं, 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्'। उस ओर कोई व्यत्यय (व्यतिक्रम) नहीं, कोई स्खलन की क्षमा नहीं, कोई पाप से निष्कृति नहीं।

इसलिए जब हम कहते हैं, 'पिता नोऽसि' उसमें आदर का दावा

नहीं, उन्मत्तता का प्रश्रय नहीं, अत्यन्त संयत् आत्मसंवृत विनम्र नमस्कार है। जो 'पितानोऽसि कहता है वह उनके सामने 'शान्तोदान्त उपरतिस्तितिक्षुः समाहितः' होकर खड़ा होता है। वह अपनी प्रत्येक क्षुद्र, अधैर्य क्षुद्र आत्म-विस्मृति से रक्षा करके चलता है।

नियम और मुक्ति

सुख केवल मेरा होता है, कल्याण समस्त जगत् का। पिता से प्रार्थना करते हैं, 'यद्भद्रं तन्न आसुव' जो अच्छा हो वही मुझे दीजिये, उसका अर्थ हुआ समस्त जगत् का कल्याण हमारे अन्दर प्रेरित कीजिये। क्योंकि वह अच्छाई मेरे लिए सत्य है, मेरे लिए नित्य है। जो विश्व के लिए अच्छा वह मेरे लिए भी अच्छा, क्योंकि जो विश्व के पिता हैं वही मेरे भी हैं।

जहाँ पर कल्याण की अर्थात् विश्व की अच्छाई की बात हो, वहीं अत्यन्त कठोर नियम भी हैं। वहाँ उपस्थित सुख-सुविधा कुछ नहीं, वहाँ व्यक्ति-विशेष के आराम-विराम को स्थान नहीं। वहाँ दुःख भी श्रेय है और मृत्यु भी वरणीय है।

जहाँ पर विश्व की अच्छाई की बात हो वहाँ पर नियम का पालन एकदम शेष पर्यन्त मानना पड़ेगा। वहाँ कोई बन्धन, कोई जोर अस्वीकार नहीं कर सकते।

हमारे पिता इसी स्थान पर 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्', यहाँ ही वह पुत्र को तिल-भर प्रश्रय नहीं देते। विश्व के भाग से एक कण भी हरण करके वह किसी विशेष पुत्र को नहीं देते। यहाँ किसी अनुनय-विनय, स्तवन वा स्तुति से काम नहीं चलता।

तो मुक्ति क्या वस्तु है? इसी नियम को परिपूर्ण भाव में आत्मसात् कर लेने का नाम ही है मुक्ति। नियम जब कहीं भी हमारे लिए बाहर की वस्तु होगी, सम्पूर्णतया जब हमारे लिये भीतर हो जायगी, तभी उसी अवस्था को मुक्ति कहूँगा।

अभी नियम का और हमारा सामंजस्य नहीं बना। अभी भी चलते-फिरते बाधा देता है। अभी भी सकल की अच्छाई को अपनी ही अच्छाई अनुभव नहीं करता। सकल की अच्छाई के विरुद्ध अनेक बार विद्रोह करता हूँ।

इसीलिए तो पिता के साथ पूर्ण मिलन नहीं हो पाता, पिता मेरे लिए रुद्र-रूप हो रहे हैं। उनके शासन को पद-पद पर अनुभव करता हूँ, उनकी प्रसन्नता को नहीं। पिता में पुत्र की सम्पूर्ण मुक्ति इसीलिए नहीं हो रही है।

अर्थात् मंगल अभी भी हमारा धर्म नहीं बना है। जिसका वह धर्म हो गया उसके लिए वह बन्धन नहीं, उसका आनन्द हो जाता है। चक्षु का धर्म है देखना, उस देखने में ही चक्षु को आनन्द है, देखने में बाधा होते ही उसे कष्ट अनुभव होता है। मन का धर्म है मनन करना, मनन में ही उसे आनन्द है, मनन में बाधा प्राप्त होने से उसे पीड़ा होती है।

इसी प्रकार विश्व की अच्छाई ही जब हमारा धर्म बन जाता है तो उसी में हमें आनन्द मिलता है और उसमें बाधा होने से पीड़ा।

माता का धर्म जिस प्रकार पुत्र को स्नेह करना, उसी प्रकार ईश्वर का धर्म है मंगल करते रहना। समस्त जगत् के चर-अचर की भलाई करना उनका स्वभाव है, उसी में उनको आनन्द है।

हमारे स्वभाव में भी वही मंगल है, समग्र के हित में निज का हित-बोध करना मनुष्य का एक धर्म है। स्वार्थ का बन्धन काटकर पूर्ण परिणत हो जाने के हेतु यह धर्म मनुष्य-समाज में प्रयास कर रहा है। हमारा धर्म अपरिणत है एवं बाधाग्रस्त है, इसीलिए हम दुःख उठा रहे हैं, पूर्ण मंगल से मिलन का आनन्द पैदा नहीं हुआ।

जब तक भीतर से यह परिणति नहीं होगी, यह बाधा काटकर हम अपने स्वभाव को प्राप्त नहीं करेंगे, तब तक बाहर के बन्धन हमें मानने ही पड़ेंगे। शिष्य के लिए जब तक चलना-फिरना स्वाभाविक न

बन जाय, तब तक धात्री उसे बाहर से हाथ पकड़कर चलाती है। इससे उसकी मुक्ति तभी होती है जब उसकी चलने की शक्ति स्वाभाविक शक्ति हो जाती है।

अतएव, नियम के शासन से हमें मुक्ति मिलती है, नियम के उल्लंघन से नहीं मिलती, नियम को अपनाकर ही मिलती है। हमारे देश में एक श्लोक प्रचलित है, "प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्" सोलह वर्ष का पुत्र होने पर उसके साथ मित्र का व्यवहार करना चाहिए।

इसका कारण क्या है ? कारण यह है कि जब तक पुत्र की शिक्षा परिणति लाभ न कर ले, अर्थात् जब तक वह स्वाभाविक न हो जाय, तब तक उस पर बाहर का शासन रखने की आवश्यकता है। जब तक बाह्य शासन रहता है तब तक पिता और पुत्र का अन्तरंग योग कभी सम्पूर्ण नहीं हो सकता। जब बाहर के शासन का प्रयोजन नहीं रहता तब पिता और पुत्र के बीच आनन्द-सम्बन्ध एकदम अव्याहत हो जाता है और तब ही समस्त असत्य सत्य में विलीन होता है, अंधकार ज्योति में उद्भासित हो उठता है, मृत्यु अमृत में निःशेष हो जाती है, तब ही पिता का प्रकाश पुत्र में सम्पूर्ण होता है। तभी जिन्होंने रुद्र-रूप में आघात किया था वही अब प्रसन्नता द्वारा रक्षा करते हैं। भय फिर आनन्द में और शक्ति मुक्ति में परिणत हो जाती है, सत्य का फिर प्रिय-अप्रिय के द्वन्द्व से वर्जित होकर सौन्दर्य उज्ज्वल हो उठता है, मंगल भी फिर इच्छा-अनिच्छा के द्विधा-वर्जित प्रेम में उपनीत (आकर टिकता है) होता है, तभी हमको मुक्ति होती है। इस मुक्ति में कुछ भी कमी नहीं। समस्त सम्पूर्ण, बन्धन-शून्य न रहकर, बन्धन में ही अबन्धन हो जाता है, कर्म का नाश नहीं होता, कर्म ही आसक्ति-शून्य विराम-स्वरूप धारण कर लेता है।

सबकी इच्छा

मेरा समस्त जीवन एक दिन उन्हें 'नोऽसि' कह सकेगा, मैं उनका

ही पुत्र हूँ यह बात एक दिन सम्पूर्ण हो जायगी। इस आकांक्षा को उज्ज्वल रखना बड़ा कठिन है।

अथच हमारे मन में कितनी अत्याकांक्षा है, कितने ही असाध्य साधन के संकल्प हैं। वे सब किसी प्रकार निरस्त नहीं होना चाहते। बाहर से यदि उनके लिए खाद्य न भी प्राप्त कर सकें तो हृदय का रक्त देकर उनका पोपरग करते हैं।

अथच जो आकांक्षा सबसे बड़ी है, जो सबसे अधिक चरम की ओर अग्रसर हो, उसे प्रतिदिन जाग्रत करके रखना इतना कठिन क्यों है ?

इसका एक कारण है, हम विचार करते हैं कि आकांक्षा हमारे अपने मन की ही सामग्री है—मैं ही इच्छा करता हूँ और उस इच्छा का आरम्भ मुझसे ही है।

वस्तुत: ऐसा नहीं है, मुझमें चतुर्दिक् से आई हुई भावनाओं का समावेश है। मेरा जारक (पाचक) रस मेरे जठर से उत्पन्न सामग्री अवश्य है, किन्तु मेरी इच्छा केवल मेरे मन से ही उत्पन्न पदार्थ नहीं है, अनेक की इच्छा मुझमें इच्छित हो उठती हैं।

मारवाड़ियों में अधिक लोग पैसे की इच्छा करते हैं, मारवाड़ियों में एक छोटा लड़का भी पैसे की इच्छा का पोषरग करता है। किन्तु यह इच्छा क्या उनकी एकान्त अपनी इच्छा है ? यह बालक कुछ भी विचार नहीं करता कि पैसा क्यों लोभनीय है। पैसे की सहायता से अच्छा खायेगा, अच्छा पहनेगा, यह विचार उसके मन में नहीं है। कारण यह है कि वस्तुत: पैसे के लोभ से ही उसने अच्छा खाना-पहनना सब परित्याग किया है। पैसे के द्वारा वह किसी अन्य सुख को नहीं चाहता, सब अन्य सुखों की अवज्ञा करता है और पैसा ही चाहता है।

इस बेतुकी चाहना का मारवाड़ी के बच्चे के मन में निशि-दिन होते रहने का कारण यह है कि यह इच्छा उसके अकेले की नहीं है, सब मिलकर उससे यह इच्छा कराते हैं। किसी प्रकार इस इच्छा को थमने नहीं देते।

किसी समाज में यदि किसी एक निरर्थक आचरण का विशेष गौरव मान लिया जाय, तो देखने में आयेगा कि अनेक लोग अपनी सुख-सुविधा परित्याग करके उस आचरण में नियुक्त हो जायँगे, बहुत आदमी एक ही आकांक्षा करते हैं यही उसका जोर है और कोई तात्पर्य नहीं।

जिस देश में अनेक लोग देश को महान् मानते हैं उस देश के बालक भी देश के लिए प्राण देने को व्यग्र हो जाते हैं। दूसरे देशों में देशानुराग की उपयोगिता, उपकारिता के सम्बन्ध में कितनी भी आलोचना की जाय, तब भी देश-हित की आकांक्षा सत्य होकर लोगों के मन में जाग्रत नहीं होती, क्योंकि देश की इच्छा प्रत्येक की इच्छा को जन्म नहीं देती, पालन नहीं करती।

विश्व-पिता के साथ हमारा पुत्र रूप में मिलन होगा, यह चक्रवर्ती राजा होने से भी बड़ी इच्छा है। किन्तु इतनी बड़ी इच्छी को भी प्रतिदिन सत्य करके जाग्रत रखना कठिन इसीलिए है कि मेरे चारों ओर के लोग इस इच्छा को मुझमें प्रवेश नहीं करने देते। इससे कहीं अधिक अकिंचन्, यहाँ तक कि अर्थहीन, इच्छाओं को भी मुझमें उन्होंने सत्य करा दिया है एवं इन्हें किसी प्रकार कम भी नहीं होने देते।

यह इच्छा मुझे अकेले ही करनी चाहिए। इस महत् इच्छा को अपने अन्दर ही, अपनी शक्ति से ही सार्थक करके रखना है। दस जनों के अनुकूल प्रत्याशा करूँ तो हताश होऊँगा।

केवल इतना ही नहीं, शतसहस्र क्षुद्र अर्थ, कृत्रिम अर्थ, संसार के लोग, दिन-रात मेरे पास अत्यन्त बड़े करके, सत्य करके सामने रखते हैं। इन इच्छाओं को शिशु-काल से ही मुझमें संस्कारगत कर दिया है। केवल मेरे मन को खींच रहे हैं, मेरी चेष्टा को उत्थान दे रहे हैं। बुद्धि से चाहे समझूँ कि वे तुच्छ और निरर्थक हैं, किन्तु दस जनों की इच्छा को टालना कठिन हो जाता है।

दस जनों की इच्छा यदि केवल बाहर से प्रताड़ना करे तो उसका निवारण सम्भव है, किन्तु वह यदि मेरी ही इच्छा का आकार धारण

करके मेरे सिर पर बैठकर चोटी पकड़ ले, और मुझे मालूम भी न पड़े कि यह मेरे भीतर, बाहर कहीं से आकर, संचारित हुई है, तो उसके साथ फिर लड़ाई करने की इच्छा भी नहीं होती।

इतनी बड़ी सम्मिलित प्रतिकूलता के विरुद्ध अपने अकेले मन की इच्छा को जाग्रत रखना ही मेरे लिए कठिन साधना बन जाती है।

किन्तु आशा की रेखा इसमें इतनी-सी है कि यदि नारायण को सारथी बना लूँ तो अक्षौहिणी सेना से डरना नहीं पड़ेगा। लड़ाई एक दिन में तो शेष नहीं होगी, किन्तु होगी अवश्य शेष, और जीत भी मेरी होगी इसमें भी सन्देह नहीं।

इस अकेले लड़ाई करने में एक बड़ी सुविधा यह है कि इसमें किसी प्रकार धोखाधड़ी करने की जगह नहीं। दस जनों से भिड़ जाने पर किसी कृत्रिमता की आशंका नहीं। नितान्त सच्चा बनकर चलना पड़ेगा।

पैसे, विद्या, ख्याति-प्रभृति का एक आकर्षण ऐसा है कि उन्हें लेकर सब मिलकर छीना-झपटी करते हैं। अतएव यदि उसमें से मैं कुछ पा जाऊँ तो मेरी जीत होती है। इसीलिए समस्त उपार्जन में इतनी ईर्ष्या, क्रोध और लोभ रहता है। इसीलिए लोगों में आपस में इतनी धोखा-धड़ी चलती है। जिनका अर्थ कम होता है वे अपने अर्थ को प्राणपण से बेशी दिखाने की चेष्टा करते हैं, जिनकी विद्या अल्प होती है उसे वे यथासाध्य गोपन करने की चेष्टा करते हैं।

इन समस्त वस्तुओं द्वारा मनुष्य मनुष्य के सामने प्रतिष्ठा-लाभ करना चाहता है, इसलिए यदि वस्तु में कमी पड़ती है तब धोखा देकर उसे पूर्ण करने की इच्छा होती है। मनुष्य को ठगना असाध्य काम नहीं है, इसीलिए संसार में अनेक प्रकार से प्रतारना (धोखा) और आडम्बर चलते रहते हैं। इसीलिए भीतर का चाहे थोड़ा ही हो, बाहर से उसका साज-सरंजाम बहुत बनाते हैं।

किन्तु जहाँ मेरी आकांक्षा ईश्वर में प्रतिष्ठा-प्राप्ति की ही आकांक्षा

है वहाँ यदि धोखा देने की आकांक्षा करूँ तो जड़ में ही धोखा है।

ग्वाला दूसरे लोगों के दूध में पानी मिलाकर व्यवसाय कर सकता है, किन्तु अपने ही दूध में जल मिलाने से क्या मुनाफा होगा ?

अतएव, यहाँ नितान्त सत्य पर आरूढ़ होने की आवश्यकता है। जो सत्य स्वरूप हैं उन्हें कोई किसी दिन धोखा देकर पार नहीं पा सकता, जो अन्तर्यामी हैं उनके साथ जाल-फरेब तो चलेगा नहीं। मैंने उनके सामने कितना खोटापन रखा यह उन्हें मालूम ही है। मनुष्य को जताने की इच्छा यदि किसी दिन मन में आ जाय तो जाली कागज़ बनाकर केवल मनुष्य के बाजार में बेचकर आराम से बैठ जा सकते हैं। वहाँ अनेक को मत आने दो, अपनी अच्छी तरह रक्षा करो। तुम उनको चाहते हो, इस आकांक्षा द्वारा तुम उन्हें प्राप्त करने की चेष्टा करो। इसके द्वारा मनुष्य को भुलावा देने की इच्छा तुम्हारे हृदय के एक कोने में भी न आने पाए। तुम्हारी इस साधना में यदि सब तुम्हारा परित्याग कर दें तो भी तुम्हारा मंगल ही है, क्योंकि सबको ईश्वर के आसन पर बिठा देने का तुम्हारा प्रलोभन जाता रहेगा। ईश्वर को यदि किसी दिन पा जाओ तो उन्हें कभी अकेले ही अपने भीतर नहीं रख सकोगे। किन्तु वह एक कठिन समय है। दस के बीच आ पड़ने से जल मिलाने का लोभ सँभालना कठिन है, क्योंकि तब मनुष्य मनुष्य को चंचल बना देता है। फिर पवित्र भगवान् को चलाना अशक्य है, चोरी से थोड़ी-सी अपने में मिलावट करके बैठ जाते हैं। क्रमशः अपनी मिलावट बढ़ती रहती है और क्रमशः सत्य में विकार पैदा होने से अमंगल की सृष्टि होती है। अतएव पिता को जिस दिन पिता कह सकूँ उस दिन पिता ही स्वयं मेरे मुख से सुनें, और मनुष्य यदि सुन पाए तो पास के कमरे से—

वर्ष का अन्त

आने और जाने को मिलाकर संसार है। इन दोनों में विच्छेद नहीं है। विच्छेद हमारे मन की कल्पना है। सृष्टि, स्थिति, प्रलय सब

एकमएक हो जाते हैं। सर्वदा ही एक, उस एक हो जाने को ही कहते हैं जगत्—संसार।

आज वर्ष के अन्त का कल के वर्षारम्भ से कोई भेद नहीं—बिलकुल एकदम निःशब्द, अति सहज-भाव में इसका शेष भाग दूसरे के आरम्भ में प्रवेश कर रहा है।

किन्तु इसके शेष और उसके आरम्भ के मध्य एक बार रुककर खड़ा हो जाना हमारे लिए आवश्यक है। जाने और आने को बिलकुल विच्छिन्न करके देखना पड़ेगा, नहीं तो इन दोनों को मिलाकर जानना कठिन हो जायगा।

इसीलिए आज वर्ष शेष होने वाले दिन हम जाने की ओर ही मुख फिराकर खड़े हो गए हैं। अस्ताचल को सम्मुख रखकर आज हमारी पश्चिम-मुखी उपासना है, "यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" समस्त गति जिसमें प्रवेश कर रही है, दिवस के शेष मुहूर्त में जिनके चरणों के पास सकल जन नीरव में नत होकर भूमिष्ठ होते हैं, आज सायंकाल हम उन्हें नमस्कार करेंगे।

अवसान को, विदा को या मृत्यु को आज हम भक्ति के साथ गम्भीर भाव से समझने का प्रयत्न करेंगे—उसके प्रति अविचार नहीं करेंगे। उसे उनकी छाया मानेंगे, "यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः।"

मृत्यु बड़ी सुन्दर है, बड़ी मधुर है, यह मृत्यु ही जीवन को मधुमय बनाये है। जीवन बड़ा कठिन है, वह सब चाहता है, सबको ही पकड़ करके रखना; उसकी वज्रमुष्टि कृपण की भाँति कुछ भी छोड़ना नहीं चाहती। मृत्यु ने ही उसकी कठिनता को रसमय बनाया है, उसके आकर्षण को विलग किया है, मृत्यु ही उसकी नीरस आँख में पानी ले आती है, उसको पाषाण स्थिति से विचलित करती है।

आसक्ति के समान निष्ठुर और कठोर कुछ भी नहीं। वह केवल अपने को ही पहचानती है, किसी पर दया नहीं करती और किसी के लिए रास्ता नहीं छोड़ना चाहती। यह आसक्ति ही जीवन का धर्म है।

समस्त वस्तुओं को हड़प लेने के लिए सकल से केवल-मात्र लड़ाई करती रहती है।

त्याग बड़ा सुन्दर और कोमल है। वह द्वार खोल देता है। वह संचय को केवल एक ही स्थान पर स्तूपाकार रूप में उद्धत नहीं होने देता। वह उसकी छटनी कर देता है, विलय कर देता है। मृत्यु का भी यही औदार्य है। मृत्यु भी परिवेशन करती है, वितरण करती है। जो कहीं एक जगह बड़ा होकर उठना चाहता है उसे सर्वत्र विस्तीर्ण कर देती है।

संसार के ऊपर मृत्यु की छाया है, ऐसा समझकर ही हम क्षमा करते हैं, नहीं तो हमारा आचरण किसी प्रकार नरम न पड़ता। सब चले जाते है, हम भी चले जायँगे। इस विषाद की छाया में उन्होंने सर्वत्र थोड़ी करुणा पैदा कर दी है। चारों ओर पूर्वी रागिनी का कोमल स्वर बजाकर हमारे मन को करुणा से भर रहे हैं। यह विदा का स्वर जब कान में आकर पहुँचता है, तो क्षमा खूब सहज हो जाती है, फिर वैराग्य निःशब्द आकर हमारी लेने की जिद्द को आहिस्ता-आहिस्ता देने में बदल देता है।

कुछ भी नहीं रहता—जब यह हम जान जाते हैं, तब पाप और दुःख तथा क्षति कोई एकान्त वस्तु नहीं रह जाती। दुर्गति एक अत्यन्त भयानक विभीषिका बन जाती, यदि यह मालूम हो जाता कि जहाँ वह है वहाँ से टस-से-मस नहीं होगी। किन्तु हमें मालूम है कि सभी चलायमान है, उसमें यह भी है, इसलिए उसके सम्बन्ध में हमें हताश होने की आवश्यकता नहीं है। इस अनन्त काल में पाप केवल एक जगह पाप है, किन्तु वहाँ से वह आगे बढ़ रहा है। हमें हर समय दिखाई नहीं देता, किन्तु वह चल रहा है। उसके पथ का शेष वहीं नहीं है—वह परिवर्तन के मुख में है, संशोधन के मुख में है। पापी में पाप यदि स्थिर होकर ही रहता तो उस स्थिरत्व के ऊपर रुद्र का असीम शासन-दण्ड भयानक भार बनकर उसे एकदम विलुप्त कर देता। किन्तु विधाता

का दण्ड तो एक स्थान पर दबाकर नहीं रखता, वह उसे ताड़ना करता हुआ आगे बढ़ाता है। यह आगे चलाना ही उसकी क्षमा है। उसकी मृत्यु केवल मार्जना करती है, केवल क्षमा के अभिमुख वहन कर रही है। आज का वर्ष-शेष हमारे जीवन को क्या उनकी क्षमा के द्वार पर लाकर प्रस्तुत नहीं करेगा ? जिसके ऊपर मरण की मुहर लगी है, जो वस्तु जानी है, उसे क्या हम आज भी जाने नहीं देंगे ? वर्ष-भर जिस पाप की आवर्जना को संचय करते रहे, उस वर्ष की आज विदायगी पर क्या कुछ भी न दे सकेंगे ? क्या नव वर्ष में, क्षमा करके, क्षमा पाकर, निर्मल होकर प्रवेश नहीं कर सकेंगे ?

आज मेरी मुष्टि शिथिल हो जाय। केवल 'छीनूँगा, मारूँगा' करते-करते ही कोई सुख, कोई सार्थकता नहीं मिलती। जो समस्त ग्रहण कर लेते हैं आज उनके सम्मुख आकर 'छोड़ूँगा और मरूँगा' मेरा मन कह उठे। आज उनके बीच सम्पूर्ण त्याग, सम्पूर्ण मरण, एक मुहूर्त में तो नहीं हो सकेगा; फिर भी उसी ओर मन नत हो जाय, अपने को देने की ओर ही अंजलि प्रसारित कर सकूँ, सूर्यास्त के सुर में ही बाँसुरी बजने लगे, मृत्यु की मोहन रागिनी में प्राण क्रन्दन कर उठे। नव-वर्ष के भार-ग्रहण के पूर्व आज सन्ध्या-काल में उन सर्व-भार-मोचन के समुद्र-तट पर सकल बोझ उतारकर आत्म-समर्पण में अवगाहन (मज्जन) करें, और निस्तरंग नील जल-राशि में शीतल हों, वर्ष के अवसान को अन्तर में पूर्ण भाव से ग्रहण कर शुद्ध हो जायँ, शान्त हो जायँ और पवित्र हो जायँ।

अनन्त की इच्छा

हमारे शरीर में कितनी ही इच्छाएँ तो प्रत्यक्ष है, जैसे हमारी खाने की इच्छा, स्नान करने की इच्छा, शीत के समय गरम हो जाने की इच्छा।

किन्तु समस्त शरीर में एक इच्छा है जो हमारे अगोचर है। वह

है स्वास्थ्य की इच्छा। वह मुझे बिना खबर किये ही रोग में एवं आरोग में नियत कर्म करती ही रहती है। वह व्याधि के समय कितने प्रकार से प्रतिकार की आश्चर्यपूर्ण व्यवस्था करती है, यह हम जानते भी नहीं, एवं आरोग के समय समस्त शरीर में विचित्र क्रिया का सामञ्जस्य स्थापन करने के लिए कितना कौशल दिखाती है कि जिसका अन्त नहीं—इसकी खबर हमें नहीं मिलती। स्वास्थ्य की यह इच्छा शरीर के मूल में हमारी चेतना से अगोचर दिन-रात, निद्रा हो चाहे जागरण, अविश्राम क्रियाशील है।

जो शरीर-विज्ञानी हैं, वे इस बात को जानते हैं। उन्हें मालूम है कि हममें एक स्वास्थ्य-तत्त्व है। शरीर की इस मूल अव्यक्त इच्छा को जिन्होंने जान लिया है उन्होंने शरीरगत समस्त व्यक्त इच्छा को इसके अनुगत बनाया है। व्यक्त इच्छा जब खाने की माँग करती है तब वह उसे अव्यक्त स्वास्थ्य की इच्छा के शासन में नियमित करने की चेष्टा करते हैं। शरीर के सम्बन्ध में यही साधना कहलाती है।

पाँच जनों से मिलकर जो हमने एक सामाजिक शरीर-रचना कर रखी है, उसके बीच भी एक व्यक्त और एक अव्यक्त इच्छा है। समाज में प्रत्येक की निजी स्वार्थ, सुविधा, सुख, स्वाधीनता के लिए जो इच्छा है वही व्यक्त इच्छा है। सब ही अधिक-अधिक चाहते हैं, सब ही अपनी जीत चाहते हैं। जितना कम मूल्य देकर, जितना अधिक परिमाण में पा सकें यह है सबकी इच्छा। इस इच्छा के संघात में कितना धोखा, कितना युद्ध, कितनी दलबन्दी चलती है, जिसकी सीमा नहीं।

किन्तु इसी में एक अव्यक्त इच्छा ध्रुव-रूप से रहती है। वह प्रत्यक्ष दिखाई नहीं पड़ती, किन्तु वह है अवश्य, उसके न रहने से किसी प्रकार से समाज की रक्षा नहीं हो सकती—वह है मंगल की इच्छा। अर्थात् समस्त समाज का सुख हो, भला हो, यह इच्छा प्रत्येक में निगूढ़ भाव से है। इसके रहने से ही समाज का संगठन है, और किसी प्रत्यक्ष सुविधा पर नहीं।

समाज-शास्त्रियों ने यही बताया है । उन्होंने समुदाय की सुख-सुविधा तथा स्वाधीनता की व्यक्त इच्छा को इसी गम्भीरतर अव्यक्त इच्छा के अनुगत करने की चेष्टा की है । उन्होंने इस निगूढ़ नित्य इच्छा के सामने समस्त अनित्य इच्छा का त्याग कर दिया है ।

हमारी आत्मा में भी व्यक्त और अव्यक्त इच्छा है । आत्मा अपने-आपको अनेक ओर से बड़ा होने का अनुभव करना चाहता है । धन से, विद्या से, ख्याति से बड़ा होकर अपने को बड़ा करना चाहता है । इस ध्येय की प्राप्ति के लिए कितनी लूट-मार, छीना-झपटी, जिसका अन्त नहीं !

किन्तु उसमें भी एक इच्छा प्रतिनियत (सदा वर्तमान) रहती ही है । सबसे महान् जो अनन्त और अखण्ड एक हैं, उन ब्रह्म के मिलन में अपनी उपलब्धि करने की इच्छा उसमें निगूढ़ रूप में, ध्रुव रूप में रहती है । यह अव्यक्त इच्छा सबसे बड़ी इच्छा है ।

जो इस बात को जानते हैं वही आत्मविद् हैं । वे आत्मा की समस्त व्यक्त इच्छा को उसी एक निगूढ़ इच्छा के अधीन करते हैं ।

शरीर में अनेक इच्छाएँ ऐक्य-लाभ करती हैं । एक स्वास्थ्य की इच्छा में, यह गम्भीर इच्छा शरीर की समस्त वर्तमान इच्छाओं को अतिक्रम करके अनागत में चली जाती है । शरीर का जो भविष्य अभी नहीं आया है उस भविष्य पर भी वह अधिकार करती है ।

समाज-शरीर में भी अनेक इच्छाएँ एक अन्तरतम गुप्त इच्छा में ऐक्य-लाभ किये हैं, यह है वही मंगल इच्छा । यही इच्छा वर्तमान सुख-दुःख की सीमा छोड़कर भविष्य के अभिमुख हो जाती है ।

आत्मा की अन्तरतम इच्छा देश या काल में कहीं बँधी हुई नहीं है । उसकी सकल इच्छा, जो केवल पृथ्वी पर सार्थक हो सकती है, उस सकल इच्छा के मध्य उसकी समाप्ति नहीं, अनन्त के साथ मिलन की आकांक्षा उसके ज्ञान, प्रेम और कर्म को केवल आकर्षण करती है, वह जहाँ पहुँचती है वहाँ जाकर रुकती नहीं । केवल छोड़ते रहने की इच्छा उसमें

निरन्तर जाग्रत रहती है।

शरीर में स्वास्थ्य की शान्ति, समाज में मंगल, एवं आत्मा में अद्वितीय प्रेम, इच्छा के रूप में विराजमान हैं। यही इच्छा अनन्त की इच्छा है, ब्रह्म की इच्छा है। उनकी इसी इच्छा के साथ अपनी सचेतन इच्छा को संगत कर देना ही हमारे लिए मुक्ति है। इस इच्छा के साथ असामञ्जस्य होना ही हमारे लिए बन्धन है, हमारे लिए दुःख है। ब्रह्म की जो इच्छा हमारे भीतर है, वह हमें देश-काल से बाहर ले जाने की इच्छा है, वह किसी वर्तमान के विशेष स्वार्थ अथवा सुख के मध्य आबद्ध करने की इच्छा नहीं। वह इच्छा उनका प्रेम है, इसी कारण अपनी ओर खींचता है। उनका अनन्त प्रेम जो हमारे बीच है, उनके साथ अपने प्रेम का योग करके आनन्द को बाधामुक्त कर देना ही हमारी साधना है। क्या शरीर में, क्या समाज में, क्या आत्मा में, सर्वत्र हम इन्हीं दो धाराओं को देखते हैं। एक गोचर है तथा चिर-परिवर्तनशील, दूसरी अगोचर तथा चिरन्तन—एक केवल वर्तमान के प्रति आकृष्ट है, दूसरी अनागत की ओर ही आकर्षणकारी—एक केवल व्यक्ति-विशेष में ही बद्ध और दूसरी निखिल से योगयुक्त—इन दोनों इच्छाओं की गति का निरीक्षण करो और इसका तात्पर्य ग्रहण करो। इन दोनों के मध्य मिलन के लिए विरोध द्वारा एक तत्त्व अपने को व्यक्त करता है, उसको प्राप्त करके इस मिलन के लिए समस्त जीवन अपने को प्रतिदिन प्रस्तुत करते रहो।

पाना-न पाना

मनुष्य का मन उस प्राप्ति में ही आनन्दित रहता है जिसमें अप्राप्ति प्राप्ति के साथ जड़ित होकर रहती है।

जो सुख केवल-मात्र प्राप्ति द्वारा हमें उन्मत्त न कर दे, अनेक अप्राप्ति में भी जिसकी स्थिति होने से जिसका तोल ठीक-ठीक रहता है, इसीलिए हम उसे गम्भीर सुख कहते हैं—अर्थात् जिस सुख का

सकल अंश एकदम सुस्पष्ट, सुव्यक्त न हो, जिसका एक अंश निगूढ़ता में अगोचर हो, जो प्रकाश में निःशेष नहीं हो जाता, उसे ही हम उच्च श्रेणी का सुख कहते हैं।

पेट-भर आहार कर लेने के पश्चात् आहार कर लेने से क्या सम्पूर्ण सुख-प्राप्ति है ? दर्शन में, स्पर्श में, घ्राण में, स्वाद में, सर्व प्रकार में उसे आयत्त (वश में) किया जाता है। इस सुख के प्रति आपको कितना भी लोभ हो, मनुष्य उसे आनन्द की श्रेणी में नहीं रखता।

किन्तु जिस सौन्दर्य-बोध को हम केवल-मात्र इन्द्रिय-बोध द्वारा हटा नहीं सकते—जो वीणा के अनुरणन (झँकार, गूँज) के समान चेतना में स्पन्दित होता रहता है, जो समाप्त होना ही नहीं चाहता, उस आनन्द की हम आहार के आनन्द के साथ एक श्रेणी में गणना नहीं करते। केवल-मात्र पाना उसे अपमानित नहीं करता, न पाना उसे गौरव-दान करता है।

हम जगत् में असली प्राप्ति उसे ही कहते हैं, जिस प्राप्ति में अनिर्वचनीयता हो। जो ज्ञान केवल एक सूचना-मात्र हो उसका मूल्य कितना अल्प है, क्योंकि वह तो एक संकीर्ण जानकारी में ही समाप्त हो जाता है। किन्तु जो ज्ञान तथ्य नहीं, तत्त्व है, अर्थात् जिसे एक घटना में ही निःशेष किया न जा सके, जो असंख्य अतीत घटनाओं में भी है एवं जो असंख्य भावी घटनाओं में भी अपना प्रकाश करेगा, जो केवल विशेष घटना में ही व्यक्त भले ही हो किन्तु आनन्द के मध्य अव्यक्त-रूप में जो विराजमान है, उसी ज्ञान में हमारा सच्चा आनन्द है, केवल-मात्र विच्छिन्न तुच्छ सूचना में नितान्त जड़-बुद्धि रखना आलसी लोगों का विलास है।

क्षणिक आमोद अथवा क्षणिक प्रयोजनवश हम अनेक जनों से मिलते हैं, हमारे लिए वे उतने समय में ही शेष हो जाते हैं। किन्तु जो हमारे प्रिय हैं, उन्हें किसी एक ही समय के आलाप, आमोद अथवा किसी एक समय के प्रयोजन से ही शेष नहीं कर देते। उनके साथ

जिस समय, जिस आलाप और जिस कर्म में नियुक्त हैं, उस समय को, उस आलाप को, उस कर्म को, बहुत दूर छोड़कर भी वह हैं। किसी विशेष देश, विशेष काल, विशेष घटना में हम उन्हें समाप्त कर देंगे ऐसा विचार ही नहीं हो सकता। वह हमें प्राप्त भी हैं और अप्राप्त भी—यह अप्राप्ति उन्हें हमारे लिए इतना आनन्दमय बनाये हुए है।

इससे यह समझ में आता है कि हमारा आत्मा केवल प्राप्त ही करना नहीं चाहता, वह अप्राप्त को भी रखना चाहता है। इसीलिए संसार के समस्त दृश्य और स्पर्श के बीच खड़े होकर वह कहता है, केवल प्राप्त करते-करते मैं श्रान्त हो गया, मेरा अप्राप्त धन कहाँ है? उस चिरकालीन अप्राप्त को प्राप्त करके ही तो मैं जीवित हूँ।

"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कदाचन।"

वाक्य और मन जिन्हें प्राप्त किये बिना लौट आते हैं उसी अपने अप्राप्त ब्रह्म के आनन्द में मैं समस्त क्षुद्र भय से रक्षा पा सकता हूँ।

इसीलिए उपनिषद् में कहा है, "अविज्ञातम् विजानतां विज्ञातं अविजानतां" जो कहता है मैं उन्हें नहीं जानता वही जानता है, और जो कहता है मैंने जान लिया वह नहीं जानता।

मैं उन्हें जान नहीं सका, यह बात समझना आवश्यक है। जिस प्रकार पक्षी जानता है, 'मैं आकाश पार नहीं कर सका', उसी प्रकार जानना चाहिए। पक्षी क्योंकि आकाश को जानता है, इसीलिए कह सकता है, आकाश का पार नहीं मिला। आकाश पार नहीं कर सका, यह जानकर ही उसको आनन्द है और इसीलिए ही वह आकाश में उड़ा फिरता है। कोई प्राप्ति नहीं, कोई समाप्ति नहीं, कोई प्रयोजन नहीं, किन्तु उड़ने में ही उसे आनन्द है।

पक्षी आकाश को जानता है, इसीलिए वह जानता है कि मैं आकाश को पूर्णतया नहीं जानता एवं यही जानकर उसके न जानने में ही उसे आनन्द है—ब्रह्म के जानने की बात में भी यही बात पूरी उतरती है।

इसलिए उपनिषद् में कहा है, "नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।" मैं ब्रह्म को ठीक-ठीक जान गया हूँ यह भी नहीं और बिलकुल नहीं जानता यह बात भी नहीं।

कोई-कोई कहते हैं, "हम ब्रह्म को सम्पूर्ण जानना चाहते हैं, जिस प्रकार से इन समस्त जिन्स (वस्तु) को जानते हैं, नहीं तो हमने कुछ भी नहीं जाना।"

मैं कहता हूँ, हम यह नहीं चाहते। यदि यही चाहते तो संसार ही हमारे लिए यथेष्ट था। यहाँ तो जिन्स का कोई अन्त नहीं। फिर अब और क्यों? आकाश का पक्षी जिस प्रकार आकाश को चाहता है, उसी प्रकार हम भी ऐसे कुछ को चाहते हैं जो प्राप्त न हो सके।

मुझे याद है, जो ब्रह्म को चाहते हैं उनके प्रति विद्रूप प्रकाशित करके एक पण्डित ने बहुत दिन हुए कहा था—

गांजा पीने वालों के दल ने एक रात गाँजा पीने के लिए सभा की। आग बुझ जाने के कारण वे संकट में पड़ गए तो रक्तवर्ण होकर चाँद सामने दिखाई दिया। उनमें से एक बोला—उस प्रकाश से अपनी कोयले की टिकिया सुलगाऊँगा। यह कहकर टिकिया को खिड़की के पास खड़े होकर चाँद के अभिमुख बढ़ा दिया। टिकिया कहाँ सुलगनी थी! फिर एक बोला—दूर है चाँद, इतना निकट समझते हो, मुझे दो। यह कहकर उसने टिकिया कुछ और आगे को बढ़ा दी। इस प्रकार एक-एक करके समस्त गांजाखोरों की शक्ति परास्त होती गई और टिकिया ने आग नहीं पकड़ी।

इस गल्प का भाव यह है कि जिस ब्रह्म की सीमा नहीं मिलती, उनके साथ सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा एक विडम्बना ही तो है।

इससे यह दिखाई पड़ता है कि किसी-किसी के मतानुसार सांसारिक प्रार्थना को छोड़ और किसी प्रार्थना की आवश्यकता नहीं। हम केवल प्रयोजन-सिद्धि चाहते हैं—टिकिया को ही केवल सुलगाना चाहते हैं।

यह बात कितनी निर्मूल है, चाँद की बात सोचने से ही यह समझ

में आ जायगी। जिस भाव से हम दियासलाई को चाहते हैं उस भाव से चाँद को नहीं, चाँद को चाँद ही मानकर चाहते हैं, चाँद को तो हम किसी विशेष अथवा संकीर्ण प्रयोजन के अतीत समझकर ही चाहते हैं, उस चिर, अतृप्त-असमाप्त प्राप्ति को चाहना ही सबसे बड़ी चाहना है। इसीलिए पूर्ण चन्द्र के आकाश में उगते ही नदी, नाव, घाट, ग्राम, पथ, नगर के हर्म्यतल, वृक्षों के कुञ्ज के चारों ओर से रागिनी निकल पड़ती है—किसी टिकिया में आग न सुलगाने से किसी को क्षोभ नहीं होता।

ब्रह्म ताल-बैताल तो नहीं कि उन्हें वश में करके प्रयोजन-सिद्धि कर लें। केवल प्रयोजन-सिद्धि में प्राप्ति की आवश्यकता है, आनन्द-प्राप्ति में ठीक इसका उलटा। उसमें अप्राप्ति ही सबसे बड़ी चीज है। वस्तु-प्राप्ति में जो सुख हम अनुभव करते हैं वह सुख अहंकार का सुख है। मेरे आयत्त (अधिकार में) जो वस्तु है वह मेरी भृत्य है, मेरे अधीन है, मैं उससे बड़ा हूँ।

किन्तु वह सुख मनुष्य का सबसे बड़ा सुख नहीं है। मुझसे जो बड़ा है उसको आत्म-समर्पण करने का सुख ही तो आनन्द है। मेरे जो अतीत हैं मैं उनका ही हूँ—इस जानकारी में ही अभय है, इसी को अनुभव करने में आनन्द है। जहाँ भूमा का आनन्द होता वहीं मैं कहता, "बस और कुछ नहीं कर सका, मैंने पतवार छोड़ दिया, बस अब कुछ बाकी नहीं। मेरा अहंकार नाश हुआ, मेरी शक्ति का औद्धत्य जाता रहा।" इसे पार न कर सकने में, इसे न पा सकने में, अपने को एकान्त छोड़ देना ही मुक्ति है।

मनुष्य का होना तो समाप्त नहीं होता, वह जो-कुछ हुआ है वह तो बहुत थोड़ा है। और यह, न हुआ अनन्त है। मनुष्य जब अपना यह होना-रूप जीव के साथ प्रयोजन साधन करना चाहता है, तब प्रयोजन की सामग्री को अपने अभाव के साथ एकदम सम्पूर्ण करके चारों ओर मिला देता है, उसका वर्तमान एकदम सम्पूर्ण वर्तमान को ही चाहता

है। किन्तु वह केवल वर्तमान नहीं, केवल होना-रूपी भी नहीं, उसका न होना रूपी अनन्त कुछ भी यदि न पाये तो उसे आनन्द नहीं मिलता, प्राप्ति के साथ अनन्त अप्राप्ति उसके अनन्त न होने को आश्रय देता है, खाद्य देता है। इसलिए मनुष्य केवल यही कहता रहता है, "बहुत देखा, बहुत सुना, बहुत समझा, किन्तु मेरा अन-देखा, अन-सुना और अन-समझा धन कहा है ?" जो अनादि हैं इसीलिए अनन्त हैं, जो होता नहीं इसीलिए जाता नहीं, जिसे पाते नहीं इसीलिए खोते भी नहीं, उसने मुझे अपना लिया इसीलिए मैं जीवित हूँ, उसी अशेष में निःशेष हो जाने के लिए आत्मा का क्रन्दन है। उसी अशेष को सशेष करना चाहता है, ऐसा भयंकर निर्बोध वह नहीं है। जिसका आश्रय ले, उसे ही आश्रय देने की सोचे, ऐसा समूल आत्मघाती वह नहीं है।

होना

पाने का अर्थ ही है आंशिक भाव में पाना। हम जिसे प्रयोजन-वश पाते हैं उसे प्रयोजन जितना ही तो पाते हैं, उससे अधिक नहीं। अन्न केवल खाने के लिए मिलता है, कपड़ा पहनने के लिए और घर रहने के लिए। इन सबके साथ हमारा सम्बन्ध क्षुद्र प्रयोजन की सीमा पर आकर रुक जाता है, उसे लंघन करना सम्भव नहीं।

इसी प्रकार विशेष प्रयोजन की संकीर्ण प्राप्ति को हम लाभ कहते हैं। इसीलिए ईश्वर को प्राप्त करने की बात जब हम उठाते हैं तब भी भाषा एवं अभ्यास के खिचाव से इसी प्रकार के लाभ की बात मन में उदित होती है, जैसे कोई उन्हें किसी विशेष काल में और विशेष स्थान में प्राप्त कर सकता हो, उनका दर्शन जैसे किसी विशेष मूर्ति में या विशेष मन्दिर में ही होता हो या विशेष कल्पना से ही होता हो।

किन्तु प्राप्ति का अर्थ यदि हम यही समझें तो ईश्वर को प्राप्त करना ही सम्भव नहीं। हम जिस किसी को मन में सोचते हैं कि प्राप्त कर लिया वह ईश्वर नहीं। वह तो हमारे पाने के सम्पूर्ण अतीत है,

वह हमारी विषय-सम्पत्ति नहीं।

वहाँ केवल हमारा होना है, पाना नहीं। उन्हें हम पायेंगे नहीं, उनके मध्य हम रहेंगे। अपने समस्त शरीर-मन-हृदय को लेकर मैं केवल रह ही सकूँगा। छोड़ते-छोड़ते, बढ़ते-बढ़ते, मरते-मरते, बचते-बचते केवल मैं रहूँगा ही। पाना केवल एक अंश ही हो सकता है, होना बिलकुल समग्र में होता है—वह लाभ नहीं, विकास है।

भीरु लोग कहेंगे, "क्या कहते हो? तुम ब्रह्म होओगे। ऐसी बात मुँह से कैसे निकालते हो?"

हाँ, मैं ब्रह्म ही होऊँगा। इसको छोड़ मैं और कुछ कह ही नहीं सकता, मैं संकोच-रहित कहूँगा, "मैं ब्रह्म होऊँगा"। किन्तु मैं ब्रह्म को पाऊँगा, इतनी बड़ी स्पर्धा की बात मैं नहीं उठा सकता।

तो क्या ब्रह्म में और मुझमें भेद नहीं है? बहुत भेद है। वह तो पहले ही से ब्रह्म हैं, मुझे ब्रह्म होना पड़ता है। वह हैं, मुझे होना पड़ता है—हम दोनों के बीच यह लीला चल रही है। इस स्थिति और स्थिति-प्राप्ति के मिलन में ही आनन्द है।

नदी केवल यही कहती है, 'मैं समुद्र हो जाऊँ'। यह स्पर्धा नहीं, सही बात यह है कि यह उसकी विनय है। इसीलिए वह समुद्र से मिलकर क्रमशः समुद्र ही बनी जा रही है, किन्तु समुद्र हो जाना उसका अभी शेष नहीं हुआ।

वस्तुतः समुद्र हो जाने के सिवाय नदी के लिए और चरम गति ही क्या हो सकती है? उसके दोनों दीर्घ उपकूलों पर कितने खेत हैं, कितने शहर, कितने ग्राम, कितने वन कि जिनका ठिकाना नहीं। नदी उन्हें तुष्ट कर सकती है, पुष्ट कर सकती है, किन्तु उनसे घुल-मिल नहीं सकती। इन समस्त शहर, ग्राम और वन के साथ आंशिक सम्पर्क है। नदी हजार चाहे कि वह शहर, ग्राम और वन बन जाय, फिर भी यह नहीं हो सकता।

वह तो केवल समुद्र ही बन सकती है। उसका थोड़ा सचल जल और समुद्र का बहुत बड़ा अचल जल एक जात हैं। इसलिए अपने समस्त

उपकूल पार होकर विश्व में वह केवल उस बड़े जल के साथ एक हो सकती है।

वह समुद्र हो सकती है, किन्तु समुद्र को पा नहीं सकती, समुद्र को संग्रह करके, अपने किसी विशेष प्रयोजन में उसे किसी विशेष गुहा-गह्वर में लुकाकर नहीं रख सकती। यदि किसी थोड़े जल को देखकर मूढ़ के समान कहें, 'हाँ, देखो समुद्र को मैंने अपनी निजी सम्पत्ति बनाकर रख छोड़ा है,' तो उसे उत्तर मिलेगा, 'वह तुम्हारी सम्पत्ति तो हो सकती है, किन्तु वह तुम्हारा समुद्र नहीं'। तुम्हारी चिरन्तन जलधारा इस जलाशय को नहीं चाहती, वह तो चाहती है समुद्र को, क्योंकि वह समुद्र होना चाहती है, पाना नहीं।

हम भी केवल ब्रह्म ही हो सकते हैं, और कुछ हो ही नहीं सकते। और कुछ बन जाने से हम सम्पूर्ण नहीं होते, हम सब पार कर जाते हैं, केवल ब्रह्म को पार नहीं कर सकते। छोटा वहाँ जाकर बड़ा हो जाता है, किन्तु उसका बड़ा होने का क्रम शेष नहीं होता, यही उसका आनन्द है।

हम इसी आनन्द की साधना करेंगे, हम अहरह ब्रह्म से मिलित होकर केवल ब्रह्म होते रहेंगे। जहाँ बाधा होगी उसे तोड़कर, नहीं तो उससे बचकर चलेंगे। अहंकार, जड़ता और स्वार्थ जहाँ निष्फल बालुका-स्तूप बनकर पथरोध करे, वहाँ उसे प्रतिमुहूर्त क्षय करते रहेंगे।

प्रातःकाल यहाँ बैठकर जो थोड़ी-सी उपासना करते हैं उस देश-काल-बद्ध आंशिक वस्तु को हम सिद्धि मानकर भ्रम में न पड़ जायँ। थोड़ा रस, थोड़ा भाव, थोड़ा चिन्तन, यही तो रस नहीं है, इतने मात्र को लेकर किसी दिन ध्यान जमा और किसी दिन नहीं जमा की चर्चा मत करो। इस समय और इस अनुष्ठान को एक अभ्यस्त आराम में परिणत करके उसमें परमार्थ की कल्पना मत करो। समस्त दिन समस्त चिन्ता में, समस्त कार्य में, एकान्त समग्र अपने को ब्रह्म के अभिमुख चलाओ, उल्टी ओर नहीं, अपनी ओर, केवल उस भूमा की ओर, श्रेय की ओर, अमृत की ओर, समुद्र से नदी जिस प्रकार मिलती है वैसे मिल

जाओ—फिर तुम्हारी सत्ता की धारा केवल ब्रह्ममय हो जायगी, तुम केवल ब्रह्म हो जाओगे, फिर तुम अपना समस्त जीवन देकर भी, समस्त अस्तित्व देकर भी जान सकोगे कि ब्रह्म ही तुम्हारी परमागति है, परम सम्पद् है, परम आश्रय है, परम आनन्द है, क्यों कि उनमें ही तुम्हारा होना परम हुआ।

मुक्ति

प्रतिदिन प्रातःकाल जो हमारे लिए प्रकाशित होता है उससे हमें अल्प ही आनन्द प्राप्त होता है। यह प्रभात हमारे लिए अभ्यास द्वारा जीर्ण हो चुका है, अभ्यास हमारे अपने मन की तुच्छता द्वारा सकल महत् वस्तुओं को तुच्छ बना देता है। क्योंकि वह स्वयं बद्ध है, इसलिए सबको ही बद्ध कर देता है।

जब हम विदेश-यात्रा को जाते हैं तो किसी नूतन पृथ्वी को देखने नहीं जाते। यही मिट्टी और जल और इसी आकाश को अपने अभ्यास से मुक्त करके देखने जाते हैं, आवरण हटाकर इस पृथ्वी के ऊपर आँख उठाकर देखने से इस चिरदिन की पृथ्वी पर ही उस अभावनीय का दर्शन कर सकते हैं जो कभी पुरातन नहीं होते। तब आनन्द मिलता है।

जो हमारा प्रिय अभ्यास होता है वह उसे सहज में वेष्टन नहीं कर सकता, इसीलिए प्रियजन चिरदिन अभावनीय को, अनन्त को हमारे लिए प्रकाशित कर सकते हैं। उन्हें जो हम देखते हैं उस देखने में ही देखना शेष नहीं हो जाता, वह हमारे देखने, सुनने आदि समस्त बोध के पश्चात् भी शेष रहते हैं, इसीलिए उनसे हमें आनन्द मिलता है।

उपनिषद् में भी "आनन्दरूपममृतम्" ईश्वर के आनन्दरूप को अमृत कहा है, जो मर जाय या समाप्त हो जाय उसमें हमें क्या आनन्द? जहाँ हम सीमा में असीम को देख पाते हैं, जहाँ हम अमृत को देख पाते हैं, वहाँ ही हमें आनन्द मिलता है।

यह असीम ही सत्य है, उसका दर्शन ही सत्य का दर्शन है। जहाँ

उसका दर्शन न हो समझ लो हमारी अपनी जड़ता, मूढ़ता तथा अभ्यास और संस्कार द्वारा हम सत्य को अवरुद्ध कर रहे हैं, इसीलिए हमें उसमें आनन्द नहीं मिल रहा है।

वैज्ञानिक को लीजिये, दार्शनिक को लीजिए, कवि को लीजिए, उन सबका काम ही है मनुष्य की समस्त मूढ़ता और अभ्यास का आवरण-मोचन करके इसी जगत् में, सत्य के अनन्त रूप का दर्शन कराना, जो-कुछ दृष्टिगोचर होता है उसे ही सत्य करके दिखाना, कुछ नूतन सृष्टि करके नहीं, कल्पना करके नहीं। इस सत्य को मुक्त करके दिखाने के माने होते हैं मनुष्य के आनन्द के अधिकार की वृद्धि कर देना।

जिस प्रकार घर छोड़कर कहीं दूर देश निकल जाने को अन्धकार-मुक्ति नहीं कह सकते, घर का दरवाजा खोल देना ही अन्धकार-मोचन है, उसी प्रकार जगत् को त्याग देना मुक्ति नहीं है, पाप, स्वार्थ, अहंकार, जड़ता और संस्कार के बन्धन काटना, जो देखते हैं उसको ही सत्य-रूप में देखना, जो करते हैं उसे ही सत्य-रूप में करना, जहाँ स्थित हैं वहाँ ही, उसी के बीच सत्य रूप से स्थित होना ही है मुक्ति।

यदि यही बात सत्य है कि ब्रह्म अपने अव्यक्त स्वरूप में ही आनन्दित रहते हैं, तो उनके अव्यक्त स्वरूप में विलीन होने से निरानन्द के हाथ से हमारा किसी क्रम में भी निस्तार न होता। किन्तु ऐसा तो नहीं है, प्रकाश में भी उनका आनन्द है, नहीं तो उन्होंने इस जगत् को प्रकाशित ही क्यों किया? क्या कोई बाहर की प्रकाण्ड पीड़ा ज़ोर करके उन्हें प्रकाश कर रही है? क्या माया नामक कोई पदार्थ ब्रह्म को बिलकुल अभिभूत करके अपने को प्रकाशमान कर रहा है?

ऐसा नहीं हो सकता। इसीलिए उपनिषद् में कहा है, "आनन्द-रूपममृतं यद् विभाति।" यह जो प्रकाशमान जगत् है और कुछ नहीं है, उनका मृत्युहीन आनन्द ही रूप धारण करके प्रकाशित हो रहा है। आनन्द ही उनका प्रकाश है और प्रकाश ही उनका आनन्द।

वह यदि प्रकाश से आनन्दित रहते हैं तो क्या मैं आनन्द के लिए

अप्रकाश का सन्धान करूँगा ? यदि उनकी इच्छा प्रकाश की ही है तो मैं अपनी इस क्षुद्र इच्छा द्वारा उस प्रकाश से हाथ कैसे समेट लूँ ?

उनके आनन्द के साथ योग न देने से मुझे किसी में भी आनन्द नहीं मिल सकेगा। उनके साथ मेरा जहाँ भी योग सम्पूर्ण होगा वहाँ ही मेरी मुक्ति है, वहीं मुझे आनन्द है। विश्व में उनके प्रकाश की अबाध उपलब्धि करके ही मैं मुक्त होऊँगा—अपने में उनके प्रकाश को अबाध दीप्यमान करके मैं मुक्त होऊँगा। भव-बन्धन अर्थात् होने के बन्धन के छेदन से मुक्ति नहीं मिलती—होने को ही बन्धन-स्वरूप न बनाकर उसे मुक्त स्वरूप देना ही मुक्ति है। वह जैसे आनन्द का प्रकाश कर रहे हैं उसी प्रकार आनन्द में ही प्रकाश का वरण करना, जिस प्रकार आनन्द में ही वह कर्म कर रहे हैं उसी प्रकार आनन्द से कर्म को ग्रहण करना—उसे ही मुक्ति कहता हूँ। कुछ भी वर्जन न करके समस्त को सत्य-भाव में स्वीकार करना है मुक्ति।

प्रतिदिन की अभ्यस्त पृथ्वी हमें जीर्ण मालूम होती है, अभ्यस्त प्रभात म्लान लगता है। कब हमें ये नवीन तथा उज्ज्वल दिखाई देने लगते हैं ? जिस दिन प्रेम द्वारा हमारी चेतना नव-शक्ति में जाग्रत होती है। जिसे प्यार करते हैं आज उससे मिलन होगा, यह तथ्य स्मरण करते ही जो कल श्रीहीन था वह आज समस्त सुन्दर हो जाता है। प्रेम द्वारा चेतना को जो पूर्ण शक्ति प्राप्त होती है, उसी पूर्णता द्वारा वह सीमा के मध्य असीम को, रूप के मध्य अपरूप को देख पाती है, उसे कहीं नई जगह जाना नहीं पड़ता। उसी एक अभाव द्वारा असीम सत्य उसके लिए सीमा में बद्ध था।

यह विश्व उनका आनन्द-रूप है, किन्तु हम रूप ही देखते हैं, आनन्द नहीं, इसीलिए रूप केवल पद-पद पर हमारे ऊपर आघात करता है। जब हम आनन्द देखने लगेंगे तो फिर हमारे बीच कोई बाधा उत्पन्न नहीं कर सकेगा। यही तो मुक्ति है।

यह वैराग्य की मुक्ति नहीं, प्रेम की मुक्ति है; त्याग की मुक्ति

नहीं, योग की मुक्ति है; लय की मुक्ति नहीं, प्रकाश की मुक्ति है।

मुक्ति-पथ

जो भाषा हम नहीं जानते उसका काव्य भी यदि हम सुनें तो शब्द ही केवल हमारे कान के परदे पर टक्कर मारते हैं, वह भाषा हमें पीड़ा पहुँचाती है।

जब भाषा से परिचय हो जाता है तो शब्द फिर बाधा नहीं देते। तब उसके भीतर के भाव ग्रहण-मात्र से शब्द ही आनन्दकर बन जाता है, तब हम काव्य समझ सकते हैं, उसका भोग कर सकते हैं।

बालक जब किसी दुर्बोध भाषा के काव्य को सुनने की पीड़ा से मुक्ति की प्रार्थना करता है, तब यदि काव्य-पाठ बन्द करके उसको मुक्त करते हैं तो उस मुक्ति का मूल्य अति तुच्छ होता है। किन्तु उसी पाठ का उसके सामने सत्य-रूप रखकर, पूर्ण रूप रखकर उसे मूढ़ता की पीड़ा से मुक्त करना ही यथार्थ मुक्ति है, चिरन्तन मुक्ति है।

पृथिवी पर भी इसी प्रकार होने पर हमें जो दुःख मिलता है उसे हम कहते हैं भव-यन्त्रणा। जगत् से हमें यदि आनन्द न मिले, तो विश्व-कवि के विराट् काव्य को अर्थहीन, अमूलक पदार्थ कहकर इससे निष्कृति पाने को ही चरितार्थता कहेंगे।

किन्तु हम इस काव्य को अपनी इच्छा के अनुसार छिन्न-भिन्न करके इसका चिह्न तक लोप कर सकते हैं, ऐसा सोचने का कोई हेतु नहीं।

समुद्र को विलुप्त करके समुद्र पार होने की चेष्टा करने की अपेक्षा समुद्र को पोत द्वारा पार करना कहीं अधिक सहज है। आज पर्यन्त किसी देश के मनुष्य ने समुद्र को सींच डालने की चेष्टा नहीं की, सबने अपनी साध्यानुसार नौका और जहाज बनाये हैं।

विश्व-काव्य को निरर्थक ही अपवाद कहकर नष्ट करने की तपस्या में प्रवृत्त न होकर विश्व-काव्य-श्रवण करके सार्थक करना ही यथार्थ मुक्ति है।

इस विश्व-प्रकाश के रूप में तब आनन्द भी दिखाई पड़ेगा। जब केवल रूप ही न दिखाई देगा तो रूप हमें बाधा नहीं पहुँचायेगा। वह केवल पथ का प्रदर्शन ही नहीं करेगा, आनन्द भी देगा। भाव समझने पर भाषा केवल दुःख का ही त्याग नहीं करती, वह अपना सौन्दर्य उद्घाटन करके आनन्दमय हो जाती है। भाव और भाषा के अन्तर-बाह्य मिलन से हम मुग्ध हो उठते हैं।

किन्तु यह आन्तरिक आनन्द बाहर का अनुभव नहीं हो सकता, यह तो अन्तर में ही समझ पड़ता है। जिस भाषा का ज्ञान न हो, उसमें लिखित पुस्तक पर केवल-मात्र ऊपर से आँख घुमा-घुमाकर देखने से तो कभी किसी काल में भी उसकी प्राप्ति नहीं हो सकेगी। आँख और कान वहाँ से प्रतिहत होते रहते हैं। अपने भीतरी ज्ञान की शक्ति द्वारा ही वह समझ में आ सकती है। उसे एक बार भीतर से समझ लेने पर कोई बाहरी बाधा नहीं रहती और फिर बाहर भी आनन्द प्रकाशित होता है।

हमारे भीतर जब आनन्द का आविर्भाव होता है तब बाहर का आनन्द रूप स्वयं ही हमें अमृतत्वपूर्ण होकर दिखाई पड़ता है। प्राप्ति ही प्राप्ति को घसीट लाती है। मरूभूमि के रसहीन वायुमण्डल के ऊर्ध्व से कितने मेघ चले जाते हैं—शुष्क वायु उससे वृष्टि ग्रहण नहीं कर पाती। किन्तु हवा में जहाँ जल है वहाँ सजल मेघ के साथ उसका योग होते ही वर्षण उपस्थित हो जाता है।

हमारे बीच यदि आनन्द न हो तो विश्व का चिरानन्द प्रवाह हमारे ऊपर से निरर्थक होकर चला जायगा—मैं उससे रस आदान न कर सकूँगा।

हमारे मध्य ज्ञान का उन्मेष होने पर ज्ञान-दृष्टि से वह ज्ञान होता है कि विश्व में ज्ञान का व्यत्यय कहीं नहीं, उसे ही हम विज्ञान कहते हैं। जो मूढ़ हैं, जिनकी ज्ञान-दृष्टि नहीं खुली, उन्हें विश्व में सर्वत्र मूढ़ता दिखाई पड़ती है, विश्व उनके लिए भूत, प्रेत, दैत्य, दानव, विभीषिका से

पूर्ण हो उठता है।

सब ही विषयों में इसी प्रकार होता है। हमारे अन्तर में यदि प्रेम जाग्रत न हो, आनन्द न हो, तो विश्व हमारे लिए कारागार ही है। इस कारागार से भागने की चेष्टा करना मिथ्या है, प्रेम को जागृत करना मुक्ति है।

विज्ञान की साधना जिस प्रकार हमारे प्राकृतिक ज्ञान के बन्धन मोचन करती है, उसी प्रकार मंगल की साधना हमारे प्रेम के, हमारे आनन्द के बन्धन मोचन कर देती है। यह मंगल साधना ही हमारे संकीर्ण प्रेम को प्रशस्त और निरर्थक प्रेम को ज्ञान-सम्मत बना देती है।

विज्ञान में प्रकृति के बीच हमारा ज्ञान योगयुक्त होता है। वह विच्छिन्न ज्ञान नहीं है, वह अतीत में, भविष्यत् में, दूर, निकट, सर्वत्र ऐक्य द्वारा अनन्त से युक्त है। मंगल में भी उसी प्रकार प्रेम सर्वत्र योगयुक्त होता है। समस्त सामयिकता तथा स्थानिकता को अतिक्रम करके वह अनन्त से मिलता है। उसके लिए दूर और निकट का भेद समाप्त हो जाता है। परिचित और अपरिचित का भेद भी जाता रहता है। तभी प्रेम के बन्धन टूट जाते हैं। इसे ही तो कहते है मुक्ति।

बुद्ध शून्य को मानते थे या पूर्ण को, इस तर्क में मैं पड़ना नहीं चाहता; किन्तु उन्होंने मंगल-साधना द्वारा प्रेम को विश्व-चराचर में मुक्त कर देने का उपदेश दिया था। उनकी मुक्ति की साधना ही थी स्वार्थ-त्याग, अहंकार-त्याग, क्रोध-त्याग की साधना, क्षमा की साधना, दया की साधना, प्रेम की साधना। इस प्रकार प्रेम जब अहं के शासन को अतिक्रम करके विश्व में, अनन्त में, मुक्त होकर जिसे पा जाय उसका चाहे कोई नाम ही क्यों न रख दो, वह केवल भाषा का वैचित्र्य-मात्र है, किन्तु वही है मुक्ति। यह प्रेम जो जहाँ भी है उसका किसी का त्याग नहीं करता, समस्त को सत्यमय, पूर्णतम बनाकर उपलब्ध करता है। अपने को पूर्ण में समर्पण करने की किसी बाधा को स्वीकार नहीं करता।

आत्मा में परमात्मा के अनन्त प्रेम, अनन्त आनन्द की अबाध उपलब्धि करने का उपाय है—पाप-परिशून्य मंगल-साधना। यह उपलब्धि जितनी ही बन्धनहीन, जितनी ही सत्य हो सकेगी, उतना ही विश्व में, समस्त इन्द्रिय-बोध में, चिन्ता में, भाव में, कर्म में हमारा आनन्द अव्याहत होगा। हम फिर परमात्मा की ओर से ही जगत् को देखेंगे, अपनी ओर से नहीं। जगत् का सत्य हमारे लिए तभी आनन्द में परिपूर्ण होगा, महाकवि का चिरंतन काव्य हमारे लिए सार्थक हो जायगा।

नौ....

आश्रम

प्रभात के सूर्य ने जो हमारे उत्सव-दिवस पर चारों दिशाओं में पद्म उद्घाटित कर दिए हैं, उनके ही मर्मकोष में प्रवेश करने के लिए आज हमारा यहाँ आह्वान हुआ है। उसके स्वर्ण-रेणु के अन्तराल में जो मधु संचित है वहाँ से क्या कोई सुगन्ध आज हमारे हृदय के अन्तराल में आकर नहीं पहुँच रही है ? इस विश्व-उपवन के रहस्य-निलय के भीतर प्रवेश करने का सहज अधिकार जिसका है वह चित्त-मधुकर क्या आज भी, अब भी नहीं जागा ? किसी झोंके के साथ अब भी उसे सूचना नहीं मिली ? आज का दिन जो एक-अनेक दिन की खबर लेकर निकला है एवं जो सम्मुख के अनेक दिनों की ओर चल रहा है, वह दूर भविष्यत् का पथिक है। आज उसे पकड़कर, रोककर हम प्रश्न करेंगे, उसकी जो-कुछ बात है वह सब ग्रहण कर लेनी चाहिए। पूर्ण हृदय से जिज्ञासा न करने से वह किसी को कुछ बताता नहीं। फिर हम विचार करते हैं, यह गान, यह बाह्य-ध्वनि, यह जनता का कोलाहल जो है, वही सब-कुछ है और कोई सन्देशा देने को उसके पास नहीं है। किन्तु ऐसे ही तो उसे कैसे जाने देंगे ? आज के इस समस्त कोलाहल में जो निस्तब्ध है, उस पथिक से जिज्ञासा करो, यह उत्सव किसका है ?

प्रतिवर्ष वसन्त में आम्रवन की फल-भरी शाखाओं के बीच दक्षिण वायु वहन करती है, उस समय आम्रवन के वार्षिक उत्सव का घटन है। किन्तु इस उत्सव का उत्सवत्व किस अभिप्राय से है ? इसी प्रयोजन से कि जिस बीज से आम्रवृक्ष जन्मा है वही बीज अमर हो गया, यह

शुभ समाचार देने के लिए ही तो हर बरस फल आते हैं, उस फल से वही एक बीज, वही पुरातन बीज। वह किसी प्रकार भी समाप्त नहीं होता, वह नित्य काल-पथ पर अपने को द्विगुणित, चतुर्गुणित, सहस्र-गुणित करता हुआ चलता है।

शान्ति निकेतन के साम्वत्सरिक उत्सव की सफलता का मर्म-स्थान यदि उद्घाटन करके देख सकें, तो इसमें भी वही बीज अमर हो गया है, जिस बीज से यह आश्रम-वनस्पति ने जन्म-लाभ किया है।

वह दीक्षा-ग्रहण का बीज है। महर्षि के जीवन की दीक्षा इस आश्रम-वनस्पति में आज हमारे लिए फल-फूल रही है एवं हमारे आगामी काल के उत्तरवंशियों के लिए भी फलती-फूलती रहेगी। बहुकाल पूर्व किसी एक दिन महर्षि ने दीक्षा ग्रहण की थी, इसकी खबर कितनों को थी? जिन्होंने जाना, जिन्होंने देखा, उन्होंने मनःही-मन विचार किया, ठीक है, यह आज हुआ, कल शेष। किन्तु यह दीक्षा ग्रहण करने का अनुष्ठान उस सुदूर-काल के ७ पौष को अपने थोड़े-से घण्टों में निःशेष नहीं कर सकते। वह एक दिन में ही उसके महत्त्व को नहीं बता सकता। जिस दिन की खबर भी लोगों को नहीं थी एवं बहुकाल तक जिसका कुछ परिचय भी सबको अज्ञात रहा, उसी ७ पौष के दीक्षा वाले दिन को आज अमर होकर प्रतिवर्ष उत्सव-फल प्रसव कर रहा है।

हमारे जीवन में कितनी ही सैकड़ों घटनाएँ घटती रहती हैं, किन्तु चिर-प्राण तो उनका स्पर्श नहीं करता। वह हो रही और मिल रही हैं, उनका हिसाब कहीं नहीं रहता।

किन्तु जब महाप्राण आकर किसी के जीवन को किसी मुहूर्त में कभी छिपकर स्पर्श कर देते हैं, उसके ऊपर अपना कोई अदृश्य चिह्न बनाकर चले जाते हैं। फिर चाहे उसे कोई न देखे, न जाने, चाहे इधर-उधर पड़ा रहे, उसे आवर्जना (कूड़ा) समझकर लोग झाड़ फेंकें, उस दिन के और फिर बहुत दिन के इतिहास के पन्नों में उसका उल्लेख

न रहे, किन्तु वह फिर भी बचा रहता है। जगत् के ढेर-के-ढेर मृत्यु और विस्मृति में से वह अपना अंकुर लेकर अति अनायास निकल पड़ता है; नित्य-काल का सूर्यलोक एवं नित्य-काल का समीरण उसे पालन करने का भार उठाता है। सदा चंचल संसार की भयंकर उथल-पुथल में भी उसे हटाना कठिन है। महर्षि के जीवन में एक ७ पौष को वह प्राणस्वरूप अमृत-पुरुष एक दिन निःशब्द स्पर्श कर गए थे, उस पर अब मृत्यु का अधिकार नहीं रहा। वह दिन उनके जीवन के समस्त दिनों में व्याप्त होकर किस प्रकार प्रकाशित हुआ है, यह किसी से अगोचर नहीं। फिर उनके दीर्घ-जीवन में भी वह दिन शेष नहीं हुआ। आज भी वह जीवित है—केवल जीवित ही नहीं, उसकी प्राण-शक्ति का विकास क्रमशः प्रबल हो गया।

अधिकांश हम लोग पृथिवी पर प्रच्छन्न रूप से ही वास करते हैं। हममें वह प्रकाश नहीं, जिस प्रकाश को ऋषि ने आह्वान करके कहा था, "आविरावीर्मा एधि" हे प्रकाश, तुम मुझमें प्रकाशित होओ। उनका यह प्रकाश जिनके जीवन में आविर्भूत हो गया, वे तो फिर घर की प्राचीर की आड़ में अपने को रख नहीं सकते, एवं अपनी आयु में ही उनकी समाप्ति नहीं हो जाती। अपने को उन्हें सर्वदेशीय तथा सर्व-कालीन बनाना ही पड़ता है, इसीलिए उपनिषद् में कहा है—

"यदैतम् अनुपश्यति आत्मानं देवम् अञ्जसा।
ईषाणां भूत भव्यस्य न ततो विजुगुप्सते।"

जब इस देवता को, इस परमात्मा को, इस भूत-भविष्यत् के ईश्वर को कोई व्यक्ति साक्षात् देख सके, फिर वह गुप्त नहीं रह सकता।

जिन्होंने उन्हें साक्षात् देखा है, अर्थात् बिलकुल अपनी ही अन्तरात्मा में देखा है, उनके लिए फिर परदा नहीं, दीवार नहीं, प्राचीर नहीं। वह समस्त देश और समस्त काल के हो चुके। उनकी वाणी में, उनके आचरण में नित्यता का प्रकाश मिलता ही रहता है।

इसका क्या कारण है? कारण यह है कि उन्होंने 'आत्मानं', सकल

आत्मा के आत्मा को देखा है। जिन्होंने इस आत्मा का दर्शन नहीं किया उन्हें केवल अहं ही बड़ा दिखाई पड़ता है। वे बाहर के दरवाजे पर ही आकर रुक गए हैं। वे केवल मेरा खाना, मेरा पहनना, मेरी बुद्धि, मेरा मत, मेरी ख्याति, मेरा वित्त, इन्हीं को प्रधान मानते हैं। यह अहंकार इनमें सत्य है न नित्य, आलोक द्वारा अपने को प्रकाशित नहीं कर सकते और आघात द्वारा प्रकाशित करना चाहते हैं।

किन्तु जिन्होंने आत्मा का दर्शन कर लिया है, वे फिर अहं की ओर दृक्पात करना पसन्द नहीं करते। उनके अहं के समस्त आयोजन जलकर भस्म हो जाते हैं। जिस प्रदीप में आलोक-शिखा उत्पन्न नहीं हुई, उसे ही प्रचुर तेल-बत्ती के संचय को लेकर गर्व होता है और जिसमें चिनगारी लग चुकी हो, वह फिर क्या तेल-बत्ती की ओर मुड़कर देखेगा? वह फिर उस प्रकाश के लिए समस्त तेल और समस्त बत्ती उत्सर्ग कर देगा। किन्तु वह एकदम प्रकाशित हो जाता है और किसी की आड़ में गुप्त नहीं रह सकता।

'न ततो विजुगुप्सते,' क्यों? क्योंकि वह 'अनुपश्यति आत्मानं देवं', उन्होंने देखा है आत्मा को, देव को। देव शब्द का अर्थ है जो दीप्तिमान हो। आत्मा तो देव है, आत्मा तो ज्योतिर्मय है। आत्मा स्वतः प्रकाशित है। अहं प्रदीप-मात्र है, आत्मा ज्योति। अहं दीप जब इस दीप्ति की, इस आत्मा का उपलब्धि करता है, तो क्या फिर अहंकार का संचय लिये बैठा रहता है? फिर तो अपना सर्वस्व देकर इस आलोक को ही प्रकाशित करता है।

जो 'ईषाणां भूत भव्यस्य' हैं उनको उसने देख लिया, जो अतीत और भविष्यत् के अधिपति हैं उनको देख लिया। इसीलिए वह बृहत् काल के क्षेत्र में अपने को एवं सब-कुछ को देख सकता है। वह किसी सामयिक आसक्ति द्वारा बद्ध नहीं होता, किसी सामयिक क्षोभ द्वारा विचलित नहीं हो सकता। इसलिए उसका वाक्य और कर्म नित्य हो जाता है, वह कालान्तर में क्रमशः प्रबलतर होकर व्यक्त होता रहता

है। यदि किसी एक समय किसी कारणवश वह आच्छन्न भी हो जाय तो अपने आच्छादन को दग्ध करके फिर से नवीनतर उज्ज्वलता में दीप्यमान हो उठता है।

महर्षि की ७ पौष वाली दीक्षा पर आत्मा की दीप्ति पड़ी थी, उस पर भूत-भविष्यत् के ईशाण का आविर्भाव हुआ था। इसलिए उस दीक्षा द्वारा उनके जीवन को धनीगृह के प्रस्तर कठिन आच्छादन से सर्वकाल, सर्वदेश की ओर उद्‌घाटित कर दिया, एवं इसी प्रथम पौष ने इस शान्ति निकेतन आश्रम की सृष्टि की है एवं अब भी प्रतिदिन इसकी सृष्टि करके उठा रहा है।

आज प्रायः अर्द्ध शताब्दी हुई कि आज के दिन जब वह इस सप्तवर्ण की छाया में आकर बैठे थे। उस दिन उन्हें ज्ञात नहीं था कि उनके जीवन की साधना एक दिन यहाँ नित्य होकर विराजमान होगी। उन्होंने सोचा था कि अपनी निर्जन उपासना के लिए एक बाग लगा लें, किन्तु 'न ततो विजुगुप्सते'। जिस जगह कोई बड़ा आकर खड़ा हो जाय, वहाँ छोटा बाड़ा बनाकर घेरना संभव नहीं होता। धनी की सन्तान अपने को जिस प्रकार पारिवारिक धन-मान-सम्भ्रम में बन्द करके नहीं रख सकती, सबके सामने व्यक्त होना पड़ता है, उसी प्रकार इस शान्ति निकेतन को भी केवल बाग मानकर नहीं रख सके। यह उनकी धन-सम्पत्ति के आवरण को विदीर्ण करके बाहर निकल पड़ा है। स्वयं ही आश्रम के रूप में आज खड़ा है। जो 'ईषाणां भूत भव्यस्य' उनके स्पर्श से बोलपुर प्रदेश का यह भूखण्ड भूत और भविष्यत् में व्याप्त हुआ दिखाई पड़ रहा है।

इस आश्रम में भारत के भूतकाल का एक आविर्भाव है। वह है तपोवन का काल। जिस काल में भारत में तपोवनों में शिक्षा होती थी, और संसार के कर्म समाधा (पूरे करके) कर तपोवनों में जीवितेश्वर के पास जीवन के शेष निःश्वास निवेदन कर देते थे, जिस काल में भारतवर्ष में जल, स्थल और आकाश के संग अपना योग स्थापन हो गया था एवं

तरु-लता, पशु-पक्षी के साथ अपना विच्छेद दूर करके—'सर्व भूतेषु चात्मानं' आत्मा का सर्व-भूतों में दर्शन किया था।

केवल भूतकाल ही नहीं, इस आश्रम में एक भविष्यत् काल का आविर्भाव भी है, क्योंकि सत्य केवल किसी अतीत काल की वस्तु नहीं हो सकती। जो होकर विलीन हो जाय, जिसमें भविष्यत् में होने को कुछ नहीं हो, वह मिथ्या है, माया है। विश्व-प्रकृति में खड़े होकर आत्मा के साथ भूमा की योग-साधना यदि सत्य-साधना है, तो इस साधना के बीच आकर उपस्थित न होने से किसी भी काल और किसी भी समस्या की मीमांसा नहीं हो सकेगी। यह साधना न करने से हम जगत् के अनैक्य को बड़ा मान लगे एवं स्वातन्त्र्य को परम पदार्थ समझ बैठेंगे, परस्पर को नीचा दिखाकर प्रबल हो जाने के लिए केवल ठेलाठेली करते रहेंगे। समस्त को एक बनाकर जो 'शांतं शिवं अद्वैतम्' रूप में विराजमान है, उन्हें सर्वत्र प्राप्त करने के लिए न अवकाश मिलेगा, न मन को शान्ति।

अतएव संसार के समस्त घात-प्रतिघात, छीना-झपटी, मार-काट एकान्त होकर उत्तप्त न हो उठें, इसलिए एक जगह 'शान्तं शिवं अद्वैतम्' के स्वर को विशुद्ध भाव से जगाकर रखने के लिए तपोवन का प्रयोजन है। यहाँ क्षणिक आवर्त (भँवर) नहीं, यहाँ नित्य का आविर्भाव है, यहाँ परस्पर का विच्छेद नहीं, यहाँ है सबके साथ योग की उपलब्धि, यहाँ का मन्त्र है "असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मामृतं गमय।"

यह तपोवन महर्षि के जीवन के प्रवाह से अपने-आप बन गया। यहाँ के विराट् प्रान्तर में तपस्या की दीप्ति अपने-आप विस्तीर्ण हो गई। यहाँ की तरु-लताओं में साधना की निविड़ता स्वयं संचित हो गई। 'ईषाणां, भूत भव्यस्य' ने यहाँ के आकाश पर अपना एक विशाल आसन बिछा दिया है। वह महत् आविर्भाव प्रत्येक आश्रमवासी में प्रतिदिन काम कर रहा है। प्रत्येक दिन प्रान्तर के प्रान्त में होकर निःशब्द उटता हुआ उनके दोनों चक्षुओं को आलोक के अभिषेक में निर्मल बना

रहा है। समस्त दिन आकाश अलक्ष्य ही उनके अन्तर में प्रवेश करके जीवन के समस्त संकोच दोनों हाथों से धीरे-धीरे प्रसारित कर रहा है। उनकी हृदय-ग्रन्थि अल्प-अल्प खुलती जा रही है, उनके संस्कारों के आवरण धीरे-धीरे क्षय होते जा रहे हैं, उनका धैर्य दृढ़तर, क्षमा गम्भीरतर होती जा रही है एवं आनन्दमय परमात्मा के साथ अव्यवहित चेतनामय योग का व्यवधान एक दिन क्षीण होकर दूर हो जायगा—उस शुभ क्षण के लिए वह प्रतिदिन पूर्णतर आशा के साथ प्रतीक्षा कर रहे हैं। वह दुःख को, अपमान को, आघात को, उदार-शक्ति के साथ वहन करने के लिए प्रतिदिन प्रस्तुत हो रहे हैं एवं जो ज्योतिर्मय परमानन्द धारा विश्व के दोनों कूलों से उद्वेलित होकर निरन्तर धारा में दिग्दिगन्तर में झर रही है, जीवन को उसी के समीप नत करके रखने के लिए वह एक आह्वान सुन पाते हैं।

इस तपोवन में एक निगूढ़ रहस्यमय सृष्टि का कार्य सम्पन्न हो रहा है, उस रहस्य को हममें कौन देख सकता है ! वह, जिसने जीवन-देह का आवरण दूर करके परमप्राण के पदप्रान्त में अपने को सम्पूर्ण समर्पण कर दिया है। उस जीवन का भाषामुक्त, स्वरमुक्त, अतिविशुद्ध आनन्द यहाँ के निस्तब्ध आकाश में निर्मल भक्ति-रस में सरस एक पवित्र वाणी को केवल विकीर्ण कर रहा है, केवल यही कहा रहा है, "वह मेरे प्राणों के आराम, आत्मा की शान्ति और मन के आनन्द हैं"—वह कथन अब शेष नहीं होगा, वह आनन्द-कार्य अब समाप्त नहीं होगा।

जगत् में एकमात्र आनन्द की ही जो सृष्टि करते हैं, इस सृष्टि की शक्ति तो और कुछ नहीं। यहाँ के आकाश-प्लावी अवारित आलोक के बीच बैठकर आनन्द के साथ जो उनका आनन्द मिला था, वह आनन्द और वह आनन्द-सम्मिलन तो कभी शून्यता में विलीन नहीं हो सकेगा। वह आनन्द आज भी सृष्टि कर रहा है, इस आश्रम की सृष्टि करके बढ़ा रहा है, यहाँ के वन की श्यामलता के ऊपर एक प्रगाढ़ शान्ति का सुस्निग्ध अंजन प्रतिदिन निबिड़ कर से लगा देता है। अनेक दिन के

अनेक सुगम्भीर आनन्द-मुहूर्त यहाँ के सूर्योदय, सूर्यास्त एवं निशीथ रात्रि से नीरव नक्षत्र-लोक को देवर्षि नारद के वीणा-तारों के समान अनिर्वचनीय भक्ति के सुरों में आज भी कम्पित कर रहा है। उस आनन्द-सृष्टि का अमृतमय रहस्य हम आश्रमवासी क्या प्रतिदिन उपलब्ध न कर सकेंगे? जिस दिन एक साधक अकस्मात् कहीं-से-कहीं जाते-जाते इस छाया-शून्य विपुल प्रान्तर में युगल सप्तवर्ण वृक्ष की तलहटी में बैठे थे, वह दिन आज भी जीवित है। वह दिन विश्वकर्मा की सृष्टि-शक्ति में चिरदिन के समान अटक गया है। शून्य प्रान्त-पट के ऊपर रंग-पर-रंग, प्राण के पश्चात् प्राण उत्पन्न होने लगा। जहाँ कुछ भी नहीं था, जहाँ थी विभीषिका, वहाँ पूर्णता की मूर्ति का आभास हुआ। तत्पश्चात् क्रम-क्रम से, दिन-पर-दिन, प्रतिवर्ष स्पष्टतर होने लगा। इस आश्चर्यमय रहस्यमय जीवन की निगूढ़ क्रिया, आनन्द की नित्य-लीला को क्या हम यहाँ के शालवन के मर्मर में, यहाँ के छाया-तल में प्राप्त नहीं कर सकेंगे? शरद् ऋतु की अपरिमेय शुभ्रता जब यहाँ शिउली पुष्प के अजस्र विकास में अपने को प्रत्येक प्रभात में व्यक्त कर-करके किसी से भी क्लान्त नहीं होती, तब उस अपर्याप्त पुष्प-वृष्टि के बीच और एक अपरूप शुभ्रता का अमृत-वर्षण कैसा निःशब्द होकर क्या हमारे जीवन में अवतीर्ण नहीं होता रहता? इस पौष के शीत के प्रभात में दिग्प्रान्त के ऊपर से एक सूक्ष्म शुभ्र कुहेलिका का आच्छादन जब उठ जाय, आमलकी (हरीतकी) कुञ्ज के फल-भार पूर्ण शाखाओं के बीच उत्तर-वायु सूर्य-किरण को पात-पात पर नृत्य कराता है, एवं समस्त दिन शीत का रौद्र यहाँ के अबाध प्रसारित खेतों के ऊपरी सुदूरता को अनिर्वचनीय वाणी के द्वारा व्याकुल कर देता है, तब इसके भीतर से और एक गम्भीरतर आनन्द-साधना की स्मृति क्या हमारे हृदय में व्याप्त नहीं हो जाती? एक पवित्र प्रभाव, एक अपरूप सौन्दर्य, एक परम प्रेम क्या एक ऋतु से दूसरी ऋतु में फल, पुष्प और पल्लव के नव-नव विकास में हमारे समस्त अन्तःकरण में अपना अधिकार विस्तार

नहीं कर रहा है ? निश्चय ही कर रहा है, क्योंकि यहाँ एक दिन सबसे बड़े रहस्य-निकेतन का एक द्वार खुल गया है । यहाँ, वृक्ष के नीचे, प्रेम से प्रेम मिला, दो आनन्द एक हुए हैं । वही 'एषः अस्य परम आनन्दः' जो इसके परमानन्द हैं, वही वह और यह कितने दिन यहाँ मिले हैं— हठात् कितनी ऊषाओं के आलोक में, कितने दिनों के अवसान के समय, कितनी निशीथ रात्रियों के निस्तब्ध प्रहर में—प्रेम के साथ प्रेम, आनन्द के साथ आनन्द । जो द्वार उस दिन खुला था, उसी द्वार के सम्मुख हम खड़े हैं, क्या कुछ भी सुन न पायँगे ? किसी को क्या देख न पड़ेगा ? उसी मुक्त द्वार के सामने आज हमारा मेला लगा है, भीतर से उठकर क्या एक आनन्द-गान बाहर आकर हमारे समस्त दिन के कलरव को सुधासिक्त करके नहीं उठा देगा ? नहीं, यह कभी नहीं हो सकेगा । विमुख चित्त भी बदल जायगा, पाषाण हृदय भी गल जायगा, शुष्क शाखा में भी फूल निकल आयेंगे । हे शान्ति-निकेतन के अधिदेवता, पृथ्वी पर जहाँ भी मनुष्य के चित्त ने बाधामुक्त परिपूर्ण प्रेम द्वारा तुम्हारा स्पर्श किया है, वहाँ ही इस अमृत-वर्षा में एक आश्चर्यपूर्ण शक्ति उत्पन्न हुई है । वह शक्ति किसी प्रकार भी नष्ट नहीं होती, वह शक्ति चारों ओर के वृक्ष और लताओं में जान डाल देती है, चारों ओर की वायु को पूर्ण कर देती है । किन्तु आपकी एक यह आश्चर्य-लीला है कि शक्ति को आप हमारे पास प्रत्यक्ष करके रहने देना नहीं चाहते । आपकी पृथ्वी हम पर एक प्रचण्ड आकर्षण कर रही है, किन्तु उसका खिंचाव आँख से ओझल ही रहता है । आपकी वायु ने हमारे ऊपर जो भार डाल रखा है, वह कोई कम नहीं है, किन्तु फिर भी हम वायु को भारी मानते ही नहीं । आपके सूर्य का आलोक नाना प्रकार से हमारे ऊपर शक्ति का प्रयोग करता है । उसकी गणना करने यदि बैठें तो उसका परिमाण देखकर हम स्तम्भित हो जाते हैं, किन्तु उसे आलोक-मात्र जानते हैं, शक्ति नहीं । अपनी शक्ति पर आपने एक हुक्म जारी कर रखा है कि छिप-छिपकर हमारा काम करे और दिखाये कि जैसे खेल-मात्र हो

रहा है।

किन्तु आपकी आधिभौतिक शक्ति, जो आलोक होकर हमारे सामने नाना रंग की छवि बनाती है, जो वायु होकर हमारे कान में नाना सुरों में गान सुनाती है, जो 'मैं जल हूँ' कहकर हमें स्नान कराती है, जो कहती है, 'मैं स्थल हूँ' और अपनी गोद में बिठाती है—जबकि शक्ति के साथ हमारे ज्ञान का योग होता है, जब हम उसे शक्ति-रूप में ही जान पाते हैं, तब उसकी क्रिया को हम बहुत अधिक मानकर अनेक विचित्र रूपों में प्राप्त करते हैं। फिर आपकी जो शक्ति आत्म-गोपन-भाव में हमारे भीतर काम करती थी, वह अब 'न ततो विजुगुप्सते'। जैसे वाष्प की शक्ति हमें दूर ले जाती है, विद्युत्-शक्ति हमारे दुःसाध्य प्रयोजन साधन करती है। वैसे ही आपकी आध्यात्मिक शक्ति आनन्द के प्रस्रावन से उच्छ्वसित होकर इस आश्रम में अपने-आप निःशब्द कार्य कर रही है—धीरे-धीरे, दिन-प्रतिदिन, गम्भीर और गोपन-भाव में। किन्तु सचेतन साधना द्वारा जिस समय हमारे बोध के साथ उसका योग होता है, उसी क्षण से उस शक्ति की क्रिया देखते-देखते हमारे जीवन में परिव्याप्त तथा विचित्र हो उठती है। तत्पश्चात् वह केवल अपने-आप काम नहीं करती। हम भी उसे काम में लगा सकते हैं। फिर हमारे और उसके मिलने से एक आश्चर्य-व्यापार आरम्भ हो जाता है। जिसे हम केवल आँख से देखते थे, कान से सुनते थे, अब अन्तर-बाह्य योग से उसका अनन्त आनन्द-रूप एकदम प्रत्यक्ष हो जाता है—अब वह 'न ततो विजुगुप्सते'। वह अब केवल वस्तु नहीं, केवल ध्वनि नहीं, वह है आनन्द ही आनन्द।

ज्ञान के योग से हम जगत् में आपका शक्ति-रूप देखते हैं, अध्यात्म-योग से जगत् में आपको आनन्द-रूप देख पाते हैं। आपके साधक का यह आश्रम जो आनन्द-रूप है, उसे देख पाने से हमारे आश्रम में वास करने की सार्थकता है। किन्तु यह अचेतन-भाव में होगा नहीं, उसकी प्राप्ति विमुख रहने से तो मिलेगी नहीं। हे योगी, आप मेरा योग भी

चाहते हैं—प्रेम का योग, ज्ञान का योग, कर्म का योग। अपनी शक्ति के द्वारा ही हम आपकी शक्ति पा सकते हैं, भिक्षा के द्वारा नहीं, यह है आपका अभिप्राय। आपके जगत् में जो भिक्षुकता करता है वही वंचित रहता है। जो साधन आत्म-शक्ति को जाग्रत करता है वह 'आत्मानं परिपश्यति' 'न ततो विजुगुप्सते'। वह इतना परिपूर्ण हो जाता है कि फिर अपने को गोपन नहीं कर सकता। आज इस उत्सव वाले दिवस में आपसे उस शक्ति की दीक्षा लेंगे। आज हम जाग्रत होंगे, चित्त को सचेतन करेंगे, हृदय को निर्मल करेंगे। आज हम यथार्थ भाव में इस आश्रम में प्रवेश करेंगे। हम इस आश्रम को गम्भीर करके, वृहत् करके, सत्य करके, भूत और भविष्यत् के साथ संयुक्त करके देखेंगे। जिन साधक ने यहाँ तपस्या की है, उनकी आनन्दमयी वाणी यहाँ सर्वत्र विकीर्ण हो रही है। वह हम अपने अन्तर में अनुभव करेंगे एवं उनकी जीवन-पूर्ण वाणी द्वारा वाहित होकर यहाँ की छाया और आलोक में, आकाश में एवं प्रान्तर में, कर्म एवं विश्राम में, हमारा जीवन तुम्हारे अचल आश्रय में, निविड़ प्रेम में, निरतिशय आनन्द में जाकर उत्तीर्ण होगा एवं चन्द्र-सूर्य, अग्नि-वायु, तरु-लता, पशु-पक्षी, कीट-पतंग सकल के बीच तुम्हारी गम्भीर शान्ति, उदार, मंगल व प्रगाढ़ अद्वैत-रस अनुभव करके शक्ति में, भक्ति में, सकल ओर से परिपूर्ण होते रहेंगे।

तपोवन

आधुनिक सभ्यता-लक्ष्मी जिस पद्म पर निवास करती है वह ईंट और काठ से निर्मित है, वह शहर है। उन्नति का सूर्य जितना ही मध्य-गगन में उठता है, उतना ही उसके दल (पंखड़ी) एक-एक करके खुलकर चारों ओर व्याप्त हो रहे हैं। चूना-सुर्खी की यात्रा को वसुन्धरा कहीं रोककर नहीं रख सकी।

शहर में ही मनुष्य विद्या सीखता है, विद्या का प्रयोग करता है, धन

संचय करता है, धन खर्च करता है, अपने को नाना दिशाओं से शक्ति और सम्पदापूर्ण करता है। इस सभ्यता में जो-कुछ भी श्रेष्ठ सामग्री है वह है नगर की सामग्री।

वस्तुत: इसे छोड़ और कोई कल्पना करना कठिन है। जहाँ अनेक मनुष्यों का सम्मिलन हो वहाँ विचित्र बुद्धि के संघात में चित्त जाग्रत हो उठता है, एवं चारों ओर से धक्का खाकर प्रत्येक की शक्ति को गति प्राप्त होती है। इस प्रकार से चित्त-समुद्र का मन्थन होते रहने से मनुष्य का निगूढ़ सार-पदार्थ स्वयं ही भासित होता रहता है।

फिर मनुष्य की शक्ति जब जाग्रत हो जाती है, तब वह सहज ही ऐसा क्षेत्र चाहती है जहाँ अपने को इस प्रकार प्रयोग कर सके। वह क्षेत्र कहाँ है? जहाँ अनेक मनुष्यों के अनेक प्रकार के उद्यम नाना सृष्टि-कार्य में सर्वदा सचेष्ट रहते हैं, वही क्षेत्र शहर है।

पहले-पहल जब मनुष्य खूब भीड़ इकट्ठी करके शहर की सृष्टि कर बैठता है, तब वह सभ्यता के आकर्षण से नहीं। अधिकांश शत्रु के आक्रमण से आत्म-रक्षा के लिए कोई सुरक्षित सुविधा की जगह मनुष्य एकत्रित होकर रहने का प्रयोजन अनुभव करते हैं, किन्तु किसी भी कारण से हो, अनेक एकत्र होने के उपलक्ष्य पैदा होते ही वहाँ नाना लोगों का प्रयोजन एवं बुद्धि एक कलेवरबद्ध आकार धारण करती है एवं वहाँ ही सभ्यता की अभिव्यक्ति अपने-आप होती रहती है।

किन्तु भारतवर्ष में यह एक आश्चर्यमय व्यापार दिखाई देता है। यहाँ की सभ्यता का मूल प्रस्रव शहर में नहीं, वन में है। भारतवर्ष का प्रथमतम विचित्र विकास जहाँ दिखाई देता है वहाँ मनुष्य के साथ मनुष्य कन्धे-से-कन्धा घिसकर समूह बनाता दिखाई नहीं देता। यहाँ तो वनराय को नदी-सरोवर के मनुष्य के साथ मिलकर रहने का यथेष्ट अवकाश मिला था, वहाँ मनुष्य भी रहता था, खुला स्थान भी था और भीड़ भड़क्का नहीं था। अथच इस खुले स्थान में भारतवर्ष का चित्त जड़प्राय नहीं हुआ, वरंच उसकी चेतना और भी उज्ज्वल हो गई। ऐसी घटना

जगत् में और कहीं घटी हो, दिखाई नहीं पड़ता ।

हमने देखा है कि और सब लोग अपनी अवस्था-गति से वन में आबद्ध हो जाने से वन्य हो जाते हैं । और या तो बाघ के समान हिंस्र हिंसक हो जाते हैं, या हरिण के समान निर्बोध ।

किन्तु प्राचीन भारतवर्ष में यह दिखाई पड़ता है कि अरण्य की निर्जनता मनुष्य की बुद्धि को अभिभूत नहीं कर सकी, वरंच उसने एक ऐसी शक्ति प्रदान की कि उस अरण्यवास-निःसृत सभ्यता की धारा ने समस्त भारवर्ष को अभिषिक्त कर दिया एवं आज-पर्यन्त उसका प्रवाह बन्द नहीं हुआ। इस प्रकार अरण्यकों की साधना से भारतवर्ष ने जो प्रैति (energy) लाभ की थी वह किसी सचमुच बाहर के संघात से नहीं घटी, न नाना प्रयोजन को प्रतियोगिता से जाग्रत हुई । इसलिए वह शक्ति प्रधानतः बहिर्मुखी नहीं है । वह ध्यान द्वारा विश्व की गम्भीरता में प्रविष्ट हुआ, निखिल के साथ आत्मा के मध्य स्थापित हुआ है; इसीलिए ऐश्वर्य के उपकरण में प्रधानतः भारतवर्ष ने अपनी सभ्यता का परिचय नहीं दिया । इस सभ्यता के काण्डारी (चालक, निर्माता) थे निर्जनवासी, विरल-वसन तपस्वी ।

समुद्र-तीर ने जिस जाति का पालन किया उन्हें उसने वाणिज्य सम्पद् दी, मरुभूमि ने जिन्हें अल्पस्तन्यदान द्वारा क्षुधित रखा वे दिग्विजयी हुए—इस प्रकार एक-एक विशेष सुयोग द्वारा मनुष्य की शक्ति एक-एक विशेष पथ-गामिनी हुई ।

समतल आर्यावर्त की अरण्यभूमि ने भी भारतवर्ष को एक विशेष सुयोग प्रदान किया । भारत की बुद्धि को उसने जगत् के अन्तरतम रहस्य-लोक के आविष्कार में प्रेरण किया । महासमुद्र-तीर के नाना सुदूर द्वीप-द्वीपान्तर से वह जो समस्त सम्पद् आहरण करके लाया था, समस्त मानव को धीरे-धीरे उसका प्रयोजन स्वीकार करना ही होगा । जो औषधि तथा वनस्पति में प्रकृति की प्राण-क्रिया दिन-रात ऋतु-ऋतु में प्रत्यक्ष होती रहती है एवं प्राण की लीला अपरूप भंगिमा (सुन्दरता)

में, ध्वनि में, रूप वैचित्र्य में निरन्तर नूतन-नूतन भाव में प्रकाशित होती रहती है, उसी में ध्यान-परायण चित्त लेकर जो रहते थे उन्होंने अपने चारों ओर एक आनन्दमय रहस्य को सुस्पष्ट उपलब्ध किया। इसीलिए वह इतने सहज भाव में कह सकते थे, "यदिदं किंच सर्वं प्राण एजति निःसृतम्"। यह जो-कुछ समस्त परम प्राण से निःसृत होता है और प्राण में कम्पित होता है, वह स्वरचित ईंट-काठ-लोहे के ढाँचे में नहीं रहते थे, वह जहाँ रहते थे वहाँ विश्वव्यापी विराट् जीवन के साथ उनके जीवन का अवारित योग रहता था। इसी वन ने उन्हें छाया प्रदान की, फल-फूल दिये, कुश-समित जुगाया—उनके दिन-प्रतिदिन के समस्त कर्म के अवकाश और प्रयोजन के साथ इस वन से आदान-प्रदान का जीवन-मय सम्बन्ध था। इसी उपाय द्वारा वह अपने जीवन को चारों ओर के एक बड़े जीवन के साथ युक्त करके जान सके थे। विश्व-प्रकृति में होकर आलोक-वातास, अन्न-जल, प्रभृति का जो समस्त दान उन्होंने ग्रहण किया था, वह दान मिट्टी का नहीं, वनस्पति का नहीं, शून्य आकाश का नहीं, एक चेतनामय अनन्त आनन्द में उसका मूल प्रस्रवण है, यह उन्होंने सहज अनुभव द्वारा जान लिया था। इसीलिए निःश्वास, आलोक, अन्न-जल समस्त को उन्होंने श्रद्धा के साथ, भक्ति के साथ ग्रहण किया था। इसीलिए निखिल चराचर को अपने प्राणों के द्वारा, चेतना के द्वारा, हृदय के द्वारा, बोध के द्वारा, अपनी आत्मा के साथ आत्मीय रूप में एक करके पाना ही भारतवर्ष की खोज है।

इससे समझ में आ जायगा कि वन भारतवर्ष के चित्र को अपनी निभृत छाया के मध्य, निगूढ़ प्राण के मध्य, किस प्रकार पालन करता है। भारतवर्ष में जो दो बड़े-बड़े प्राचीन युग चले गए हैं—वैदिक व बौद्ध-युग—उन्हीं दोनों युगों को वन ने धात्री-रूप में धारण किया है। केवल वैदिक ऋषि ही नहीं, भगवान् बुद्ध ने भी कितने आम्रवन और कितने वेणुवनों में अपने उपदेशों की वर्षा की है। राजप्रासाद में उनका स्थान नहीं था, वन ही उन्हें हृदय में लिये बैठा था।

क्रमशः भारतवर्ष में राज्य-साम्राज्य, नगर-नगरी स्थापित हो गए। देश-विदेश के साथ उसका पण्य आदान-प्रदान चल रहा है। अन्न-लोलुप कृषि-क्षेत्र ने थोड़ा-थोड़ा करके छाया-निभृत (एकान्त) अरण्य को दूर-से-दूर फेंक दिया है। किन्तु प्रतापशाली, ऐश्वर्यपूर्ण, यौवनदृप्त भारतवर्ष ने अपने ऊपर वन के ऋण को स्वीकार करने में कभी भी लज्जा-बोध नहीं की। तपस्या को उसने सकल प्रयासों से अधिक सम्मान दिया है, एवं वनवासी पुरातन तपस्वियों को अपना आदि-पुरुष मानकर भारत के राजों-महाराजों ने अपना गौरव माना है। भारतवर्ष की पौराणिक कथाओं में जो-कुछ महत्, आश्चर्यमय, पवित्र, श्रेष्ठ एवं पूज्य है, समस्त ही प्राचीन तपोवन-स्मृति से सम्बन्धित है। बड़े-बड़े राजाओं के राजत्व की कथा उसने याद रखने की चेष्टा नहीं की, किन्तु नाना विप्लवों में होकर भी वन-सामग्री को ही अपने प्राणों की सामग्री मानकर आज तक वहन करता है। मानव-इतिहास में भारतवर्ष का यही विशेषत्व है।

भारत में विक्रमादित्य जब राजा थे, उज्जयिनी जब महानगरी थी, कालिदास जब कवि थे, तब इस देश में तपोवन का युग बीत चुका था। तब मानव के महा-मेले में आकर हम खड़े थे। तब चीन, हूण, शक, पारसी, ग्रीक, रोम सब हमारे चारों ओर भीड़ लगाये थे। जब जनक के समान राजा ने एक ओर अपने हाथ से हल चलाया था और दूसरी ओर देश-देशान्तर से आये हुए ज्ञान-पिपासुओं को ब्रह्म-ज्ञान की शिक्षा दी थी—इस दृश्य के लिए काल बीत चुका था। किन्तु उस दिन के ऐश्वर्यमदगर्वित युग में भी तब के श्रेष्ठ कवियों ने तपोवन का वर्णन किस प्रकार किया है, वह पढ़ने से ही समझ में आ सकता है। तपोवन जब हमारी दृष्टि से ओझल हो गया, फिर भी हमारे हृदय से जुड़ा हुआ है।

कालिदास जिस विशेष भाव में भारतवर्ष के कवि हैं, वह उनके तपोवन-चित्र से ही सप्रमाण होता है। इतने परिपूर्ण आनन्द के साथ

तपोवन के ध्यान को और कौन कवि मूर्तिमान कर सका है !

'रघुवंश' काव्य की यवनिका उद्घाटित होते ही पहले तपोवन के शान्त-सुन्दर-पवित्र दृश्य हमारे चक्षु के सामने प्रकाशित होते हैं।

उसी तपोवन में वनान्तर से कुशसमित् फल आहरण करके तपस्वी लोग आते हैं, एवं लगता है जैसे एक अदृश्य अग्नि उनके प्रत्युद्गमन करती है। वहाँ हरिण ऋषि-पत्नियों की सन्तान के समान हैं। वे नीवार धान्य का अंश खाते हैं और निःसंकोच कुटी के द्वारा पर पड़े रहते हैं। मुनि-कन्या पौधों को पानी पिलाती हैं और थांवला ज्यों ही जल से भर जाता है वैसे ही हट जाती हैं। पक्षी निःशंक मन से थाँवले का जल पीने आये, यही उनका अभिप्राय है। धूप पड़ रही है, नीवार-धान्य कुटीर के प्रांगण में राशिकृत (जमा) है, एवं वहाँ हरिण लेटकर रोमन्थन (जुगाली) कर रहे हैं। आहुति की सुगन्ध व धूम्र वातास में प्रवाहित होकर आश्रमोन्मुख अथितियों के सर्व शरीर को पवित्र कर रहा है।

तरु-लता, पशु-पक्षी सबके साथ मनुष्य के मिलन की पूर्णता, यह है इसके अन्तर का भाव।

समस्त 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक में भोग-लालसा-निष्ठुर राज-प्रासाद को धिक्कारते हुए जो एक तपोवन विराजमान है उसका मूल स्वर भी यही है कि चेतन-अचेतन, सकल के संग, मनुष्य के आत्मीय सम्बन्ध का पवित्र माधुर्य है।

'कादम्बरी' में तपोवन के वर्णन में कवि ने लिखा है—"वहाँ लताएँ हवा में नतमस्तक होकर प्रणाम करती हैं, वृक्ष फूल गिराकर पूजा करते हैं, कुटी के आँगन में श्यामाक धान सुखाने के लिए फैलाये हुए हैं, वहाँ आमलक, लवली, लवंग, कदली, वदरी प्रभृति फल संग्रह करके रखे हैं, वटुसमुदाय के अध्ययन से वन-भूमि मुखरित हो उठी है, वाचाल शुक अविरत-श्रवण द्वारा अभ्यस्त आहुति-मंत्र उच्चारण कर रहे हैं, अरण्य कुक्कुट वैश्य-देव बलिपिण्ड आहार करते हैं, निकट में ही जलाशय से कलहंस-शावक आकर नीवार बलि खा रहे हैं, हरिणी जिह्वा-पल्लव

द्वारा मुनिबालाओं को लेहन कर रही हैं।

इसके अन्तर में भी वही रहस्य है। तरु-लता, जीव-जन्तुओं के साथ मनुष्य का विच्छेद दूर करके तपोवन प्रकाश पाता है, यही पुरानी कथा हमारे देश में बराबर चली आती है।

केवल तपोवन के चित्र में ही इस भाव का प्रकाश हुआ हो इतना ही नहीं, मनुष्य के साथ विश्व-प्रकृति का सम्मिलन ही हमारे देश के समस्त प्रसिद्ध काव्यों में परिस्फुट है। जो सकल घटनाएँ मानव-चरित्र का आश्रय लेकर व्यक्त होती रहती हैं, वही तो प्रधानतः नाटक की उपादान (आवश्यक कारण) हैं। इसीलिए अन्य देशों के साहित्य में देख पाते हैं कि उनके नाटकों में विश्व-प्रकृति के आभास-मात्र की रक्षा हो सकी है, उनके बीच उन्हें विशेष जगह देने का अवकाश नहीं रहता। हमारे देश के जिन प्राचीन नाटकों की ख्याति आज तक सुरक्षित है, उनमें देखने से पता चलता है कि प्रकृति भी नाटक में अपने अंश से वंचित नहीं रखी गई।

मनुष्य को वेष्टन करके जो जगत् प्रकृति है, वह अत्यन्त अन्तरंग भाव में मनुष्य की सकल चिन्ता, सकल कार्यों के साथ जुड़ी हुई है। मनुष्य का लोकालय यदि केवल एकान्त मानवमय हो उठे, उसके बीच-बीच में यदि प्रकृति किसी प्रकार प्रवेश का अधिकार न पाए, तो हमारे चिन्ता और कर्म क्रमशः कलुषित तथा व्याधिग्रस्त होकर अपने अतलस्पर्श आवर्जना में आत्म-हत्या करके मृत्यु को प्राप्त हो जायँ। वह प्रकृति हमारे अन्दर जो नित्य नियत कार्य करती है, अथच दिखाती है, जैसे चुपके से खड़ी है, जैसे हम ही बड़े कामकाजी हों और यह बेचारी नितान्त एक वाह्य मात्र वस्तु है, इस प्रकृति को हमारे देश के कवियों ने अच्छी तरह पहचान लिया था। यह प्रकृति मनुष्य के समस्त सुख-दुःख के बीच जिस अनन्त सुर को मिलाकर रखती है, उस सुर को हमारे देश के प्राचीन कवियों ने सर्वदा अपने काव्य में जाग्रत रखा है।

'ऋतु' संहार-कालिदास ने युवावस्था में लिखा, इसमें कोई सन्देह नहीं।

इसमें तरुण-तरुणी का जो मिलन संगीत है उसमें स्वर-ग्राम लालसा के नीचे वाले सप्तक से शुरू किया है,'शकुन्तला' और 'कुमारसंभव' की तरह तपस्या के उच्चतम सप्तक में गाकर नहीं पहुँचाया। किन्तु कवि ने नवयौवन की इस लालसा को प्रकृति के विचित्र और विराट् सुरों के साथ मिलाकर मुक्त आकाश के बीच उसे झंकृत कर दिया है। धारायन्त्रमुखरित (फव्वारे की छलछलाहट का शब्द) निदाघ दिनान्त (ग्रीष्म के दिन के अन्त) की चन्द्र-किरण ने इसमें अपना स्वर इसके स्वर मे मिला दिया है। वर्षा के नवजल से सिंचा छिन्न-ताप (ठंडा), वनान्त के पवन से चलायमान कदम्ब-शाखाएँ इसी छन्द में आन्दोलित हैं। आपक्व शालि-रुचिरा (पकने वाले धान से विभूषित) शारद लक्ष्मी ने अपनी हंसरव-नूपुर-ध्वनि (हंस के शब्द जैसी नूपुर-ध्वनि) को इसी ताल के ताल में मंद्रित कर दिया है, एवं वसन्त की दक्षिण वायु से चंचल व कुसुमित आश्रम-शाखाओं का कलमर्मर (प्रिय शब्द) इसकी ही तान में विस्तीर्ण हुआ है।

विराट् प्रकृति के बीच जहाँ जिसका स्वाभाविक स्थान है वहाँ उसे स्थापन करके देखने में उनकी अति उग्रता नहीं होती। वहाँ से विच्छिन्न करके लाकर, केवल-मात्र मनुष्य की सीमा में संकीर्ण करके देखने से उसे व्याधि के समान अत्यन्त उत्तप्त एवं रक्तवर्ण अनुभव करना पड़ता है। शेक्सपीयर के दो-एक खण्ड-काव्य हैं, जिनमें नव-नारी की आसक्ति का वर्णन आता है। किन्तु उस सकल काव्य में आसक्ति का ऐकान्तिक रूप है, उसके चारों ओर किसी को स्थान नहीं, आकाश नहीं, वातास (वायु) नहीं। प्रकृति के जिस गीत-गंधवर्ण विचित्र विशाल आवरण में विश्व की समस्त लज्जा की रक्षा हो रही है, उससे कोई सम्पर्क ही नहीं है, इसलिए उस सकल काव्य में प्रवृत्ति की उन्मत्तता अत्यन्त दुःसह रूप में प्रकाश पाती है।

'कुमारसम्भव' के तृतीय सर्ग में जहाँ मदन के आकस्मिक आविर्भाव में यौवन-चांचल्य की उद्दीपना वर्णित है, वहाँ कालिदास ने उन्मत्तता को एक संकीर्ण सीमा में सर्वमय बनाकर देखने का प्रयास-मात्र भी नहीं

किया। आतशी शीशे में होकर एक बिन्दु-मात्र जगह में से, सूर्य-किरण संहत होकर पड़ने से वहाँ अग्नि प्रज्ज्वलित हो उठती है, किन्तु वही सूर्य-किरण जब आकाश में सर्वत्र स्वाभाविक रूप से विकीर्ण होती है तो ताप तो अवश्य देती हैं, किन्तु दग्ध नहीं करती। कालिदास ने वसन्त प्रकृति की सर्वव्यापी यौवन-लीला में हर पार्वती के मिलन-चांचल्य को निविष्ट करके उसके संभ्रम की रक्षा की है।

कालिदास ने पुष्पधनु के ज्या-निर्घोष (धनुष की टंकार) को विश्व-संगीत के सुर के संग विच्छिन्न व बेसुरा करके नहीं बजाया। जिस पट-भूमिका पर उन्होंने उनकी छवि अंकित की है, वह तरु-लता, पशु-पक्षी से लेकर समस्त आकाश में अति विचित्र-वर्ण में विस्तारित है।

केवल तृतीय सर्ग ही नहीं, समस्त 'कुमारसम्भव' काव्य एक विश्व-व्यापी पट-भूमिका पर अंकित है। इस काव्य का रहस्य एक गम्भीर और चिरन्तन कथा है, जो पाप-दैत्य कहीं पर भी प्रवल होकर हठात् स्वर्गलोक तक को छारछार कर देता है, उसे पराभूत करने के समान वीरत्व किस उपाय से जन्म लेता है ?

यह समस्या मनुष्य की चिरकालीन समस्या है। प्रत्येक जाति के जीवन की समस्या भी यही है, और यह समस्या जातियों में नूतन-नूतन मूर्तियों में अपने को प्रकाशित करती है।

कालिदास के समय में भी एक समस्या भारतवर्ष में अत्यन्त उत्कट होकर दिखाई दी थी। वह कवि के काव्य में बँधकर ही समझी जा सकती है। प्राचीन काल में हिन्दू समाज में जो एक सरलता व संयम उसकी जीवन-यात्रा में था, वह उस समय भग्न हो चुका था। राजा अपने राज-धर्म को विस्मृत करके आत्म-सुख-परायण हो चले थे। इस ओर शकों के आक्रमणों से भारतवर्ष उस समय बारम्बार दुर्गति को प्राप्त होता था।

उस समय बाहर से देखने पर भोग-बिलास के आयोजन में, काव्य-संगीत, शिल्प-कला की आलोचना में, भारतवर्ष सभ्यता की प्रकृष्टता प्राप्त

था। कालिदास की काव्य-कला में भी उस समय के उपकरण-बहुल-सम्भोग के सुर में नहीं बजे हों ऐसा नहीं हुआ। वस्तुतः उनके काव्य के बहिरंश उस समय के काल के कारु-कार्य (शिल्प-कला) में खचित हो गए। इस प्रकार उस काल के साथ उस समय के कवि का सहयोग हम देख सकते हैं।

किन्तु इस प्रमोद-भवन के स्वर्णखचित अन्तःपुर के बीच बैठकर काव्य-लक्ष्मी वैराग्य-विकल-चित्त होकर किसके ध्यान में नियुक्त थीं? उनका हृदय तो यहाँ था नहीं। वह इस आश्चर्यमय कारु (कला) विचित्र माणिक्य-कठिन कारागार से केवल मुक्ति की कामना करती थीं।

कालिदास के काव्य में बाहर के साथ भीतर का, और अवस्था के साथ आकांक्षा का एक द्वन्द्व है। भारतवर्ष में तपस्या का युग अतीत हो गया था, ऐश्वर्यशाली राजसिंहासन के पास बैठकर कवि उस निर्मल सुदूरकाल काव्य की ओर एक वेदना वहन करते हुए ताक रहे थे।

'रघुवंश' काव्य, जो भारतवर्ष के पुराकालीन सूर्यवंशी राजा लोगों के चरित-गान में प्रवृत्त है, उसमें कवि की वह वेदना निगूढ़-भाव में दिखाई देती है। उसका प्रमाण देखिए।

हमारे देश के काव्यों में अशुभकर परिणाम दिखाने की प्रथा ठीक नहीं मानी जाती थी। वस्तुतः जहाँ रामचन्द्रजी के जीवन में रघु का वंश उच्चतम चूड़ा पर अधिरोहण कर चुका था, वहाँ ही काव्य-शेष होने पर कवि की भूमिका के वाक्य सार्थक होते।

भूमिका में उन्होंने लिखा है, "जो जन्म-काल से शुद्ध, जो फल-प्राप्ति तक कर्म करते थे, समुद्र तक जिनका राज्य एवं स्वर्ग तक जिनका रथवर्त्म (पथ), यथाविधि जो अग्नि को आहुति देते थे, यथा-काम जो प्रार्थीगण के अभाव पूर्ण करते थे, यथा-अपराध जो दण्ड देते थे एवं यथासमय जो जाग्रत होते थे, जो त्याग के लिए ही अर्थ-संचय करते, जो सत्य-भाषण के लिए मितभाषी थे, जो यश के लिए जय की इच्छा करते, एवं सन्तान-लाभ के लिए ही जिनका दार-ग्रहण

होता था, शैशव में जो विद्याभ्यास करते थे, यौवन में जो विषय-सेवा करते थे, वार्धक्य होने पर जो मुनि-वृत्ति धारण करते थे और योगान्त में जिनका देहत्याग होता था—मैं वाक्सम्पद् में दरिद्र हूँ तो भी रघुकुल के राजाओं का वंश-कीर्तन करूँगा, कारण यह है कि उनके गुण मेरे कानों में प्रवेश करके मुझे चंचल कर रहे हैं।"

किन्तु गुण-कीर्तन में ही काव्य का शेष नहीं है। कवि को किस प्रकार चंचल बना दिया, यह 'रघुवंश' का परिणाम देखने से ही समझ में आता है।

रघुवंश, जिनके नाम से गौरव प्राप्त है, उनकी जन्म-कथा क्या है? उसका आरम्भ कहाँ से है?

तपोवन में दिलीप-दम्पती की तपस्या से ऐसे राजा का जन्म हुआ। कालिदास ने अपने राज-प्रभुओं को यह बात नाना काव्य, नाना कौशल से बताई हैं कि कठिन तपस्या के बिना महत् फल-लाभ पाने की कोई संभावना नहीं। जिन रघु ने उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम सब ओर के राजाओं को पराभूत करके पृथिवी पर एकछत्र राज्य-विस्तार किया था, वह माता-पिता के तपःसाधना के धन थे और फिर जिन भरत ने वीर्य-बल द्वारा चक्रवर्ती सम्राट् होकर भारतवर्ष को अपने नाम से धन्य किया था, उनकी जन्म-घटना में अवारित प्रवृत्ति का जो कलंक लग गया था, कवि ने उसे तपस्या की अग्नि से दग्ध एवं दुःख के अश्रु-जल में सम्पूर्ण धौत किये बिना नहीं छोड़ा।

'रघुवंश' का आरम्भ राजोचित ऐश्वर्य-गौरव के वर्णन के साथ नहीं होता। सुदक्षिणा को वाम-पार्श्व में लेकर दिलीप तपोवन में प्रवेश करते हैं। चतुःसमुद्र जिनकी अनन्यशासना पृथिवी की परिखा है, वह राजा अविचलित निष्ठा से कठोर संयमव्रती होकर तपोवन-धेनु की सेवा में नियुक्त होते हैं।

संयम में और तपोवन की तपस्या में 'रघुवंश' का आरम्भ और मदिरा में, इन्द्रिय-मत्तता में, प्रमोद-भवन में उसका उपसंहार है। शेष

सर्गों के चित्रांकन में वर्णन की उज्ज्वलता यथेष्ट है। किन्तु जो अग्नि लोकालय को दग्ध करती है, सर्वनाश करती है, वह भी तो कम उज्ज्वल नहीं होती—एक पत्नी को लेकर दिलीप का तपोवन में वास शान्त एवं अनतिप्रकट वर्ण में अंकित है और बहु-नायिका लेकर अग्निवर्ण का आत्मघात-साधन असंवृत (खुल्लमखुल्ला) बाहुल्य के साथ ज्वलन्त-रेखा में वर्णित है।

जिस प्रकार प्रभात शान्त, जिस प्रकार पिंगल जटाधरी ऋषिबालकों के समान पवित्र, प्रभात जिस प्रकार मुक्ता पाण्डु (मोती की धवलता) के सौम्य-आलोक में, शिविर-स्निग्ध पृथिवी के ऊपर धीर-पद से अवतरण करता है एवं नवजीवन के अभ्युदय-वार्ता में जगत् को उद्बोधित करके उठाता है, कवि के काव्य में भी तपस्या द्वारा सुसमाहित राज-माहात्म्य उसी प्रकार स्निग्ध तेज में एवं संयत-वाणी में महोदयशाली 'रघुवंश' की सूचना देता है और नाना वर्ण-विचित्र मेघजाल में आविष्ट अपराह्न अपनी अद्भुत रश्मिच्छटा में पश्चिम आकाश को जिस प्रकार क्षण-काल के लिए प्रगल्भ बना देता है, एवं देखते-देखते भीषण क्षय आकर समस्त महिमा अपहरण कर लेता है, अवशेष में अनतिकाल में ही वाक्यहीन, कर्महीन, अचेतन अन्धकार में समस्त विलुप्त हो जाता है, कवि ने भी उसी प्रकार काव्य के शेष सर्गों में विचित्र भोगायोजन के भीषण समारोह में रघुवंश ज्यातिष्क का निर्वापन (अन्त) वर्णन किया है।

काव्य के आरम्भ एवं शेष में कवि के अन्तर की एक बात प्रच्छन्न है। वह नीरव दीर्घ विश्वास के साथ कहते हैं, "था क्या और हुआ क्या?" उस समय जब अभ्युदय सम्मुख था तब तपस्या सबसे प्रधान ऐश्वर्य था और इस समय जब सम्मुख विनाश दिखाई देता है तो विलास के उपकरण-राशि की सीमा नहीं और भोग की अतृप्त वह्नि सहस्र शिखाओं में प्रज्ज्वलित होकर चारों ओर चक्षुओं को चकाचौंध कर रही है।

कालिदास के अधिकांश काव्यों में यह द्वन्द्व सुस्पष्ट दिखाई देता है।

इस द्वन्द्व का समाधान एक जगह 'कुमारसम्भव' में दिखाई देता है। कवि ने इस काव्य में कहा है कि त्याग के साथ ऐश्वर्य का, तपस्या के साथ प्रेम का सम्मिलन होने से ही शौर्य का उद्भव होता है, उस शौर्य में ही मनुष्य सकल प्रकार के पराभव से उद्धार पाता है।

अर्थात् त्याग और भोग के सामंजस्य में ही पूर्ण शक्ति उत्पन्न होती है। त्यागी शिव जब तक एकाकी समाधि-मग्न रहे, तब तक स्वर्ग-राज्य असहाय रहा, और जब तक सती भी अपने पितृ-भवन के ऐश्वर्य में एकाकिनी आबद्ध रही तब तक भी दैत्यों का उपद्रव प्रबल रहा।

प्रवृत्ति प्रबल होते ही त्याग और भोग का सामंजस्य भंग हो जाता है। किसी एक संकीर्ण जगह में हम जब अहंकार को या वासना को घनीभूत करते हैं तब हम समग्र को क्षति पहुँचाकर अंश को बड़ा बनाने की चेष्टा करते हैं। इससे अमंगल की सृष्टि होती है। अंश के प्रति आसक्ति-वशात (वश होकर) समग्र के विरुद्ध विद्रोह होता है, यही है पाप।

इसलिए त्याग की आवश्यकता है। यह त्याग अपने को रिक्त करने के लिए नहीं होता, पूर्ण करने के लिए होता है। त्याग का अर्थ है समग्र के लिए अंश का त्याग, नित्य के लिए क्षणिक का त्याग, प्रेम के लिए अहंकार का त्याग, आनन्द के लिए सुख का त्याग। इसीलिए उपनिषद् में कहा है—"त्यक्तेन भुंजीथाः" त्याग के द्वारा ही भोग करो, आसक्ति-वश नहीं।

पहले पार्वती ने मदन की सहायता से शिव को प्राप्त करना चाहा था, वह चेष्टा विफल हुई। अन्त को त्याग के साहाय्य से तपस्या के द्वारा ही उन्हें प्राप्त किया।

काम होता है केवल अंश के प्रति आसक्त, समग्र के प्रति अन्ध। किन्तु शिव तो हैं सकल देश और सकल काल के,—कामना-त्याग बिना उनके साथ मिलन सम्भव ही नहीं होता।

'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः' त्याग द्वारा ही भोग करोगे यह उपनिषद् का अनुशासन है, यही है 'कुमारसम्भव' काव्य की मर्म-कथा, एवं यही है

हमारे तपोवन के साधन-लाभ के लिए त्याग करना।

Sacrifice एवं Resignation, आत्म-त्याग एवं दुःख स्वीकार—इन दोनों पदार्थों का माहात्म्य हम किसी-किसी धर्म-शास्त्र में विशेष भाव से वर्णित पाते हैं। जगत् के सृष्टि-कार्य में जिस प्रकार उत्ताप एक प्रधान वस्तु है, मनुष्य के जीवन-गठन में दुःख भी उसी प्रकार बहुत बड़ी रासायनिक शक्ति है। इसके द्वारा चित्त का दुर्भेद्यकाठिन्य मुलायम पड़ जाता है एवं असाध्य हृदय-ग्रन्थि का छेदन होता है। अतएव संसार में जो लोग दुःख को दुःख-रूप में ही नम्र-भाव से स्वीकार कर सकते हैं, वे यथार्थ में तपस्वी हैं।

किन्तु जिससे मन में ग्लानि न हो, इस दुःख-स्वीकृति को ही उपनिषद् ने लक्ष्य किया है। त्याग को दुःख-रूप में ही अङ्गीकार कर लेना नहीं, त्याग को भोग-रूप में वरण कर लेना भी उपनिषद् का अनुशासन है। उपनिषद् में जिस त्याग की बात कही है, वह त्याग ही पूर्णतर ग्रहण है, वही त्याग गम्भीरतर आनन्द है, वही त्याग निखिल से योग है, भूमा से मिलन है। अतएव भारतवर्ष का जो आदर्श तपोवन है, वह तपोवन, शरीर के विरुद्ध आत्मा का, संसार के विरुद्ध संन्यास का, एक निरन्तर हाथापाई, मल्लयुद्ध-क्षेत्र नहीं है। "यत् किंचजगत्यां जगत्" अर्थात् जो-कुछ समस्त के संग त्याग द्वारा बाधाहीन मिलन है वही है तपोवन की साधना। इसीलिए तरु-लता, पशु-पक्षी के साथ भारतवर्ष के आत्मीय सम्बन्ध का योग इतना घनिष्ठ है कि अन्य देश के लोगों को वह अद्भुत जान पड़ता है। इसीलिए हमारे देश के कवित्व में प्रकृति से प्रेम का परिचय जो मिलता है वह अन्य देशों के काव्य की तुलना में एक विशिष्टता रखता है। हमारा, प्रकृति पर प्रभुत्व करना नहीं, प्रकृति का भोग करना भी नहीं, प्रकृति से सम्मिलन है।

अथच यह सम्मिलन अरण्यवासियों की कोई बर्बरता नहीं। तपोवन अफ्रीका का वन होता तो मैं कह सकता था कि प्रकृति के साथ मिलकर रहना एक तामसिकता-मात्र है। किन्तु मनुष्य का चित्त जहाँ साधना के

द्वारा जाग्रत हो वहाँ का मिलन केवलमात्र ग्राभास के जड़त्व में जनित नहीं हो सकता। संस्कार की बाधा क्षय हो जाने पर जो मिलन स्वाभाविक बन जाता है, तपोवन का मिलन वह है।

हमारे सब कवियों ने कहा है कि तपोवन शान्तरसास्पद है। तपोवन का एक विशेष रस है, यह है शान्त रस। शान्त रस है परिपूर्ण का रस। जिस प्रकार सातवर्ण की रश्मि मिलाकर श्वेत रंग बनता है, उसी प्रकार चित्त का प्रवाह नाना भोगों में विभक्त न होकर जब ग्रविच्छिन्न भाव में निखिल के साथ ग्रपने सामञ्जस्य को एकदम लबालब भरकर प्राप्त करता है, तभी शान्त रस का उद्भव होता है।

तपोवन में वही शान्त रस प्राप्त होता है। यहाँ सूर्य-ग्रग्नि, वायु-जल, स्थल-ग्राकाश, तरु-लता, मृग-पक्षी सबके साथ चेतना का एक परिपूर्ण योग होता है। यहाँ चतुर्दिक् की किसी भी वस्तु के साथ मनुष्य का न विच्छेद है न विरोध।

भारत के तपोवन में यह जो एक शान्त रस का संगीत बँधा था, इस संगीत के ग्रादर्श में ही हमारे देश की ग्रनेक राग-रागिनियों की सृष्टि हुई। इसलिए हमारे काव्य में मानव-व्यापार के बीच भी प्रकृति को इतना बड़ा स्थान मिला। केवल सम्पूर्णता के लिए हमारी जो एक स्वाभाविक ग्राकांक्षा है उसी ग्राकांक्षा को पूर्ण करने के उद्देश्य से यह सब हुग्रा।

'ग्रभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक में जो दो तपोवन हैं उन दोनों ने शकुन्तला के सुख-दुःख को विशालता में सम्पूर्ण कर दिया है। उसका एक तपोवन पृथ्वी पर ग्रौर एक स्वर्गलोक की सीमा पर।

एक तपोवन में सहकार (ग्राम की डाली) के संग नवमल्लिका के मिलनोत्सव में नवयौवना ऋषि-कन्याएँ पुलकित हो उठी हैं, मातृहीन मृगशिशु को वे नीवार धान की एक मुष्टि देकर पालन करती हैं, कुश-सूचि (सुई) से उसका मुख विद्ध (छिद जाने पर) होने पर इंगूदी तेल—मलकर सुश्रूषा करती हैं। इस तपोवन ने दुष्यन्त-शकुन्तला के प्रेम को

सारस्य, सौन्दर्य एवं स्वाभाविकता दान करके उसे विश्व-स्वर के साथ मिला लिया है।

और सायंकाल के मेघ के समान किंपुरुष (किन्नर) पर्वत जो हेमकूट है, जहाँ सुरासुर-गुरु मारीचि अपनी पत्नी को साथ लेकर तपस्या कर रहे है, लता-जाल-जड़ित जो हेमकूट पक्षी नीड़-खचित (घोंसलों से भरा) अरण्यजटा-मण्डल वहन करके योगासन पर अचल शिव के समान सूर्योन्मुख ध्यानमग्न है, जहाँ केशर (गले के बाल) पकड़कर सिंह-शिशु को माता के स्तन से छुड़ाकर दुरन्त (नटखट) तपस्वी-बालक उसके साथ खेल खेलता है तब पशु का वह दुःख, ऋषि-पत्नी के लिए असह्य हो जाता है—उस तपोवन ने शकुन्तला के अपमानति विच्छेद-दुःख को अति बृहत् शान्ति व पवित्रता प्रदान की है।

यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि प्रथम तपोवन मृत्यु-लोक का, और द्वितीय अमृत-लोक का है, अर्थात् प्रथम है जैसा भी वह है और दूसरा जैसा अच्छा होना चाहिए। इस 'जैसा अच्छा होना चाहिए' की ओर यह 'जैसा भी है', चल रहा है। इसकी ओर ही ताककर वह अपना शोधन करता है, अपने को शरण करता है। 'जैसा भी है' तो सती है अर्थात् सत्य और 'जैसा अच्छा होना चाहिए' है शिव, अर्थात् मंगल कामना क्षय करके तपस्या के बीच होकर सती और शिव का मिलन होना है। शकुन्तला के जीवन में भी 'जैसा भी है' तपस्या के द्वारा अन्त में 'जैसा अच्छा होना चाहिए' में आकर अपने को सफल करके दिखाया है। दुःख में होकर मर्त्य शेष-काल में स्वर्ग के प्रान्त में आकर उपनीत हुआ (निकट लाया गया) है।

मानस का जो द्वितीय तपोवन है इसमें प्रकृति को त्यागकर मनुष्य स्वतन्त्र नहीं हो जाता। स्वर्ग में जाते समय युधिष्ठिर ने अपने कूकुर (कुत्ते) को साथ ले लिया था। प्राचीन भारत के काव्य में मनुष्य जब स्वर्ग में पहुँचता है तो प्रकृति को साथ ले जाता है, विच्छिन्न होकर स्वयं बड़ा नहीं हो जाता। मारीचि के तपोवन में मनुष्य जैसा तपस्वी,

हेमकूट भी वैसा ही तपस्वी है, सिंह भी वहाँ हिंसा त्याग देता है, वनस्पति भी वहाँ पर इच्छापूर्वक प्रार्थी के अभाव को पूर्ण करती है। मनुष्य वहाँ अकेला नहीं है, निखिल को लेकर वह पूर्ण है, अतएव कल्याण जब आविर्भूत होता है तो सबके साथ योग करने में ही उसका आविर्भाव है।

'रामायण' में राम का वनवास दिखाया है। केवल राक्षसों को छोड़ उस वनवास में उन्हें कोई दुःख ही नहीं था। उन्होंने वन पर वन, नदी पर नदी, पर्वत पर पर्वत पार किये, पर्णकुटी में वास किया, मिट्टी का बिछौना बनाकर रात काटी, किन्तु उन्हें क्लेश का बोध नहीं हुआ। इस समस्त नदी-गिरि-अरण्य के साथ उनका हृदय से मिलन जो था, इसलिए यहाँ वह प्रवासी नहीं थे।

अन्य देश के कवि राम-लक्ष्मण-सीता का माहात्म्य उज्ज्वल करके दिखाने के लिए वनवास के दुःख खूब कठोर करके चित्रित करते, किन्तु वाल्मीकि ने ऐसा नहीं किया—उन्होंने वन के आनन्द को बारम्बार पुनरुक्ति द्वारा कीर्तन करते हुए दिखाया है।

राज्यैश्वर्य जिनके अन्तःकरण को अभिभूत किये हुए है, विश्व-प्रकृति के साथ मिलन उनके पक्ष में कभी स्वाभाविक नहीं हो सकता। समाजगत संस्कार तथा चिरजन्म के कृत्रिम अभ्यास पद-पद पर उन्हें बाधा पहुँचाए बिना नहीं रह सकते। वे सकल बाधाओं के भीतर से प्रकृति को केवल प्रतिकूल ही देखते हैं।

हमारे राजपुत्र ऐश्वर्य में पालित हैं, किन्तु ऐश्वर्य की आसक्ति उनके अन्तःकरण को अभिभूत नहीं करती। धर्म के अनुरोध से वनवास स्वीकार करना उसका प्रथम प्रमाण है। उनका चित्त स्वाधीन था, शान्त था, इसीलिए उन्होंने अरण्य में प्रवास-दुःख अनुभव नहीं किया, इसीलिए तरु-लता, पशु-पक्षी उनके हृदय को आनन्द देते थे। यह आनन्द प्रभुत्व का आनन्द नहीं, सम्मिलन का आनन्द था। इस आनन्द की भित्ति में तपस्या और आत्म-संयम थे। इसके मध्य थी उपनिषद्

की वह वाणी—"तेन त्यक्तेन भुंजीथा"—

कौशल्या की राजग्रहवधू सीता वन को जाती है—

एकैकं पादपं गुल्मं लतां वा पुष्प शालिनीम् ।
अदृष्ट रूपां पश्यन्ती रामं पप्रच्छ सावला
रमणीयान् बहुविधान् पादपान् कुसुमोत्करान्
सीता वचन संरब्ध आनयामास लक्ष्मणः
विचित्र बालुका जलां हंस सारस नादिताम् ।
रेमे जनक राजस्य सुता प्रेक्ष्य तथा नदीम् ।

जो सकल तरुगुल्म किंवा पुष्पशालिनी लता, सीता ने उससे पूर्व कभी नहीं देखे, उनके विषय में राम से जिज्ञासा करने लगीं। लक्ष्मण उनके अनुरोध से उन्हें पुष्पमंजरी से भरे बहुविध पौवे लाकर देने लगे। वहाँ विचित्र बालुकाजला, हंससारसमुखरिता नदी देखकर जानकी मन में आनन्द का बोध करने लगीं।

प्रथम वन में जाकर राम ने जब चित्रकूट में आश्रम बनाया, उन्होंने

"सुरम्य मासाद्य तु चित्रकूटं,
ननन्द हृष्टो मृगपक्षि जुष्टां
जहौ च दुखं पुर विप्रवासात् ।"

इस सुरम्य चित्रकूट, इस सुतीर्थी माल्यवती नदी, इस मृगपक्षि-सेविता वन-भूमि को प्राप्त करके पुरविप्रवास के दुःख को त्याग कर हृष्ट-मन से राम आनन्द करने लगे।

'दीर्घकालोषितस्तस्मिन् गिरौ' गिरि-वन प्रिय राम ने दीर्घकाल तक इस गिरि में वास करके, एक दिन सीता को चित्रकूट-शिखर दिखाकर कहा—"न राज्य भ्रंशनं भद्रे न सुहृदर्भिविनाभवः

मनो मे बाधते दृष्ट्वारमणीयमिमं गिरिम् ।

इस रमणीय गिरि को देखकर राज्यभ्रंशन मुझे नहीं सताता, सुहृद्‌गणों से दूर निवास भी मुझे पीड़ित नहीं करता।

वहाँ से राम जब दण्डकारण्य गये, वहाँ गगन में सूर्य-मण्डल के

समान दुर्दर्श प्रदीप्त तापसाश्रम-मण्डल देखा। यह आश्रम 'शरण्यं सर्व-भूतानाम्'। यह ब्राह्मी लक्ष्मी द्वारा समावृत है। कुटियाँ सुमार्जित हैं, चारों ओर कितने मृग, कितने पक्षी!

राम का वनवास इसी प्रकार कटा—कभी रमणीय वन में तो कभी पवित्र तपोवन में।

राम के प्रति सीता का और सीता के प्रति राम के प्रेम ने परस्पर सम्बन्ध से प्रतिफलित होकर चारों ओर के मृगपक्षियों को आच्छन्न कर लिया था। इस पारस्परिक प्रेम के योग में वह केवल एक-दूसरे के संग ही नहीं, किन्तु विश्वलोक के संग योगयुक्त हुए थे।

इसीलिए सीता-हरण के उपरान्त राम ने समस्त अरण्य को अपने विच्छेद-वेदना का सहचर बनाया था। सीता का अभाव केवल राम के ही पक्ष में नहीं था, समस्त अरण्य ने इसे अनुभव किया। कारण यह है कि राम-सीता के वनवास-काल में अरण्य को एक नूतन सम्पद् प्राप्त हुई थी—वह थी मनुष्य का प्रेम। उस प्रेम में उसकी पल्लवघन श्यामलता, उसकी छायागम्भीर गहनता का रहस्य एक चेतना के संचार में रोमांचित हो उठा था।

शेक्सपीयर का 'As You like It' नाटक एक वनवास की कहानी है—'Tempest भी,'Midsummer Nights Dream' भी अरण्य-काव्य हैं। किन्तु इन सब काव्यों में मनुष्य का प्रभुत्व व प्रवृति की लीला ही एकान्त है, अरण्य के साथ कोई सौन्दर्य दिखाई नहीं देता। अरण्यवास के साथ मनुष्य के चित्त का सामञ्जस्य साधन नहीं हुआ। कदाचित् उसे जय करने की नहीं, त्याग करने की चेष्टा सर्वदा रही है, विरोध नहीं, विराग नहीं औदासीन्य है। मनुष्य की प्रकृति विश्व को ठेल-ठालकर और स्वतन्त्र होकर अपना गौरव प्रकाशित कर रही है।

मिलटन के 'Paradise lost' काव्य में आदि-मानव-दम्पती का स्वर्गारण्य में वास विषय ऐसा है कि, अति सहज में उस काव्य में मनुष्य के साथ प्रकृति का मिलन सरल प्रेम के सम्बन्ध में विराट् व मधुर

होकर प्रकाश पाने का है। कवि ने प्रकृति के सौन्दर्य का वर्णन किया है, जीव-जन्तु वहाँ हिंसा का परित्याग करके एकत्र वास करते हैं व बोलते हैं, किन्तु मनुष्य के साथ उनका कोई सात्विक सम्बन्ध नहीं है। वह मनुष्य के भोग के लिए ही सृष्ट (पैदा) हुए हैं, मनुष्य उनका प्रभु है। ऐसा आभास कहीं भी नहीं मिलता कि यह आदि-दम्पती प्रेम के आनन्द-प्राचुर्य में तरुलता, पशु-पक्षी की सेवा करते हों, या भावना और कल्पना को नदी-गिरि-अरण्य के साथ नाना लीला में सम्मिलित करके दिखाया हो। इस स्वर्गारण्य के निभृत निकुंज में मानव के प्रथम पिता और माता जहाँ विश्राम करते हैं वहाँ Beast, birds, insect of worn durst enter none, such was their awe of Man—अर्थात् कोई पशु-पक्षी, कीट-पतंग प्रवेश करने का साहस नहीं करता था, मनुष्य के प्रति एक ऐसा सभय सम्भ्रम था।

निखिल के साथ जो मनुष्य का विच्छेद है, इसके मूल में एक गम्भीरतर विच्छेद की बात है। इसमें 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत'—जगत् में जो कुछ भी है समस्त को ही ईश्वर द्वारा समावृत करके जाना, इस वाणी का अभाव है। इस पाश्चात्य काव्य में ईश्वर की सृष्टि ईश्वर का यशोकीर्तन करने के लिए ही है, ईश्वर स्वयं दूर स्थित रहकर विश्व-रचना से वन्दना ग्रहण करते हैं।

मनुष्य के साथ भी आंशिक परिमाण में प्रकृति का यह सम्बन्ध प्रकाश पा रहा है, अर्थात् प्रकृति मनुष्य की श्रेष्ठता के प्रचार के लिए ही है।

भारतवर्ष भी मनुष्य की श्रेष्ठता अस्वीकार नहीं करता। किन्तु प्रभुत्व करना ही, भोग करना ही, वह श्रेष्ठता का प्रधान लक्षण नहीं मानता। मनुष्य की श्रेष्ठता का प्रधान परिचय ही यह है कि सबके संग मिलकर रह सकना। यह मिलन मूढ़ता का मिलना नहीं, वह चित का मिलन है, सुतरां आनन्द का मिलन है। यह आनन्द-वार्ता ही हमारे काव्य में कीर्तित है।

उत्तर चरित में राम व सीता का जो प्रेम है, वही प्रेम आनन्द के प्राचुर्य-वेग में चारों ओर के जल, स्थल, आकाश के मध्य प्रवेश कर गया है। इसीलिए राम द्वितीय बार गोदावरी के गिरि-तट को देखकर बोल उठे—"यत्र द्रुमा अपि मृगा अपि बन्धवो मे" इसीलिए सीता-विच्छेद-काल में उन्होंने अपनी पूर्व-निवास-भूमि देखकर आक्षेप किया था। मैथिली ने अपने करकमल-विकीर्ण जल-नीवार और तृण देकर जिन सकल वृक्ष पक्षी व हरिणों का पालन किया, उन्हें देखकर मेरा हृदय, पाषाण पिघलने के समान पिघला जा रहा है।

'मेघदूत' में यक्ष का विरह अपने दुःख के खिंचाव में स्वतन्त्र अकेला कोने में बैठकर विलाप नहीं करता। विरह-दुःख ने ही उसके चित्त को नव वर्षा में प्रफुल्ल पृथ्वी के समस्त नग (पहाड़), नदी-अरण्यनगरी में परिव्याप्त कर दिया। मनुष्य की हृदय-वेदना को कवि ने संकीर्ण करके नहीं दिखाया, उसे विराट् में विस्तीर्ण करके दिखाया है, इसीलिए प्रभु-शापग्रस्त एक यक्ष की दुःख-वार्ता चिरकाल के समान वर्षा-ऋतु के मर्म-स्थान पर अधिकार करके प्रणयी हृदय के विचार को विश्व-संगीत के ध्रुपद में इस प्रकार बाँध दिया है।

भारतवर्ष का इसी में विशेषत्व है। तपस्या के क्षेत्र में भी यही देखने को मिलता है, जहाँ हृदय-वृत्ति की लीला है वहाँ भी यही दिखाई पड़ता है।

मनुष्य दो प्रकार से अपना महत्त्व उपलब्ध करता है—एक स्वातन्त्र्य में और एक मिलन में, एक भोग द्वारा, और एक योग द्वारा। भारतवर्ष ने स्वभावतः शेष पथ का अवलम्बन किया है, इसीलिए हम देखते हैं कि जहाँ कहीं भी प्रकृति में विशेष सौन्दर्य या महिमा का आविर्भाव है, वही भारतवर्ष के तीर्थ-स्थान हैं। मानव-चित्त के साथ, विश्व के साथ विश्व-प्रकृति का मिलन जहाँ स्वाभाविक रूप से घटित हो सकता है, उसी स्थान को भारत ने पवित्र तीर्थ बनाया है। यहाँ सब जगह मनुष्य के प्रयोजन का कोई उपकरण ही नहीं, यहाँ खेती भी नहीं होती, बस्ती भी नहीं होती, यहाँ पुण्य सामग्री का भी आयोजन नहीं, यहाँ राजा की

राजधानी भी नहीं, अन्ततः यह समस्त यहाँ के लिए मुख्य वस्तु नहीं। यहाँ निखिल प्रकृति के साथ मनुष्य अपना योग प्राप्त करके आत्मा को सवर्ग तथा बृहत् अनुभव करता है। यहाँ वह प्रकृति को अपने प्रयोजन-साधन का क्षेत्र नहीं समझता, उसे आत्मा की उपलब्धि-साधन का क्षेत्र ही अनुभव करता है, इसीलिए यह पुण्य स्थान है।

भारतवर्ष का हिमालय पवित्र है, भारतवर्ष का विन्ध्याचल पवित्र है। भारतवर्ष की नदियाँ, जो सकल लोकालय को अक्षय धाराओं में स्तन्यदान करती आई हैं, वह सभी पुण्य-सलिला हैं। हरिद्वार पवित्र, हृषी-केश पवित्र, केदारनाथ बद्रिकाश्रम पवित्र, कैलाश पवित्र, मानस-सरोवर पवित्र, पुष्कर पवित्र, गंगा में जमुना का मिलन पवित्र, समुद्र में गंगा का अवसान पवित्र। जिस विराट् प्रकृति द्वारा मनुष्य परिवेष्टित है, जिसके आलोक ने आकर चक्षु को सार्थक बना दिया है, जिसका उत्ताप सर्वांग में प्राण को स्पन्दित करके उठाता है, जिसके जल से उसका अभिषेक होता है, जिसके अन्न से उसका जीवन है, जिसके अभ्रभेदी रहस्य निकेतन के नाना द्वारों में होकर नाना दूत निकल कर शब्द, गन्ध, वर्ण और भाव में मनुष्य के चैतन्य को नित्य नियत जाग्रत करके रखते हैं, भारतवर्ष ने उस प्रकृति के बीच अपनी भक्ति-वृत्ति को सर्वत्र ओत-प्रोत करके प्रसारित कर दिया है। जगत् को भारतवर्ष ने पूजा के द्वारा ग्रहण किया है, उसका केवलमात्र उपभोग द्वारा अपव्यय नहीं किया, उसे औदासीन्य द्वारा अपने कर्मक्षेत्र के बाहर दूर हटाकर नहीं रख दिया, इस विश्व-प्रकृति के साथ पवित्र योग करके ही भारतवर्ष ने अपने को बृहत् करके सत्य करके अनुभव किया है—भारतवर्ष के तीर्थ-स्थान इसी तथ्य की घोषणा कर रहे हैं।

विद्या-लाभ केवल विद्यालय पर ही निर्भर नहीं है, प्रधानतः छात्र पर निर्भर है। अनेक छात्र विद्यालय जाते हैं, यहाँ तक कि उपाधि प्राप्त करके भी विद्या प्राप्त नहीं कर पाते। उसी प्रकार तीर्थ करने के लिए अनेक जाते हैं, किन्तु तीर्थ का यथार्थ फल सब नहीं प्राप्त कर सकते। जो देखने

की चीज नहीं देखते, पाने की वस्तु नहीं लेते, शेष-पर्यन्त उनकी विद्या पोथीगत रहती है तथा धर्म बाह्याचरण में आबद्ध रहता है। वे लोग तीर्थ अवश्य जाते हैं किन्तु जाने मात्र को पुण्य मानते हैं, पाने को नहीं। वे कल्पना करते हैं कि वहाँ के जल अथवा मिट्टी में कुछ विशेष वस्तु-गुण हैं। इससे मनुष्य का लक्ष्य भ्रष्ट हो जाता है। जो चित्त की सामग्री है उसे वस्तु में निर्वासित करके नष्ट करते हैं। हमारे देश में साधना-मार्जित (परिशुद्ध) चित्त-शक्ति जितनी भी मात्रा में मलिन हो गई है, उतनी ही बाह्यकता बढ़ गई यह बात माननी ही पड़ेगी, किन्तु अपने इन दुर्गति के दिनों के जड़त्व को मैं भारतवर्ष का चिरन्तन अभिप्राय नहीं मान सकता।

किसी एक विशेष नदी के जल में स्नान करके अपनी अथवा त्रिकोटि-संख्यक (तीन करोड़ वर्ष का) पूर्व पुरुष की पारलौकिक सद्गति होने की सम्भावना है, इस विश्वास को मैं समूलक सिद्धान्त मानने के लिए राजी नहीं हूँ एवं इस विश्वास को मैं कोई बड़ी बात मानकर श्रद्धा भी नहीं करता। किन्तु, अवगाहन (स्नान) के समय नदी के जल को जो व्यक्ति यथार्थ भक्ति द्वारा सर्वांग में एवं समस्त मन में ग्रहण कर सकता है मैं उसे भक्ति का पात्र मानता हूँ। कारण यह है कि नदी के जल को सामान्य तरल पदार्थ मानकर साधारण मनुष्य का जो एक स्थूल संस्कार है, एक तामसिक अवज्ञा है, सात्विकता द्वारा अर्थात् चैतन्य-मयता द्वारा उस जड़ संस्कार को वह पुरुष काट चुका है। इसलिए नदी के जल के साथ केवलमात्र उसके शारीरिक व्यवहार का बाह्य संस्रव ही नहीं रहा, उसके चित्त का उसके साथ योगसाधन हुआ है। इस नदी के जल द्वारा परम चैतन्य ने उसकी चेतना को एक भाव में स्पर्श कर दिया है। उस स्पर्श द्वारा स्नान का जल केवल उसके देह की मलिनता को ही नहीं, बल्कि उसके चित्त के मोह-प्रलेप को मार्जन (धो) कर देता है।

अग्नि, जल, मिट्टी प्रभृति सामग्री का अनन्त रहस्य अन्त को अभ्यास द्वारा हमारे लिए मलिन हो जाता है, इसलिए प्रत्यह नाना कर्म में, नाना

अनुष्ठान में उनकी पवित्रता स्मरण कराने की यह विधि है। जो लोग चेतन भाव में उसे स्मरण कर सकते हैं, उनके साथ योग में भूमा के साथ हमारे योग की बात जिनकी बोध-शक्ति स्वीकार कर सकती हो, उन लोगों ने एक अच्छी बड़ी सिद्धि प्राप्त की है। स्नान के जल में, आहार के अन्न में श्रद्धा करने की शिक्षा मूढ़ता नहीं है, उससे जड़त्व का प्रश्रय (आधार) दूर होता है, क्योंकि समस्त अभ्यस्त सामग्री को तुच्छ मानना ही जड़ता है, उसके मध्य भी चित्त को उद्‌बोधन करना केवल चैतन्य के विशेष विकास से ही सम्भव है। अवश्य जो व्यक्ति मूढ़ है, सत्य को ग्रहण करने में जिसकी प्रकृति में स्थूल बाधा है, समस्त साधना को वह विकृत करके एवं लक्ष्य को केवल गलत स्थान पर स्थापन करता रहता है कहना ही बाहुल्य (बेकार) है।

बहुकोटि संख्या में लोगों ने, प्रायः एक समग्र जाति ने मत्स्य-मांस-आहार एकदम परित्याग कर दिया है—पृथ्वी पर कहीं इसकी तुलना नहीं हो सकती। मनुष्यों की कोई ऐसी जाति संसार में ऐसी नहीं देखी जो आमिष आहार नहीं करते।

भारतवर्ष ने जो आमिष परित्याग किया है वह कृच्छ्रव्रत (उग्र तप) साधन के लिए नहीं, अपने शरीर को पीड़ा देकर किसी शास्त्रोपदिष्ट पुण्य-लाभ के लिए नहीं। उसका एकमात्र उद्देश्य है जीवों के प्रति हिंसा-वृत्ति का त्याग। हिंसा-त्याग किये बिना जीव के साथ जीव का योग-सामञ्जस्य नष्ट होता है। प्राणी को यदि हम खा डालने और पेट भरने की वस्तु मान लें तो कभी उसे सत्य-रूप में नहीं देख सकेंगे। तो प्राण को इतना तुच्छ देखने के अभ्यस्त हो जायँगे कि केवल आहार के लिए ही नहीं, शुद्धमात्र प्राणहत्या करना हमारा एक निजी अंग बन उठता है एवं निदारुण अहैतुकी हिंसा को जल-स्थल में, आकाश में, गुहा में, गह्वर में, देश में, विदेश में मनुष्य व्याप्त कर देता है।

इस योग-भ्रष्टता, इस बोध-शक्ति की पंगुता से, भारतवर्ष ने मनुष्य की रक्षा करने की चेष्टा की है।

मनुष्य का ज्ञान बर्बरता से बहुत दूर अग्रसर हो चुका है। इसका प्रधान लक्षरण क्या है? यही न, कि विज्ञान की सहायता से जगत् में सर्वत्र नियम देखता है। जब तक वह नहीं देखता था तब तक उसके ज्ञान की सम्पूर्ण सार्थकता नहीं थी। तब तक वह विश्व के चराचर में विच्छिन्न होकर वास करता था—वह देखता था, ज्ञान का नियम केवल उसमें ही है, इस विराट् विश्व के व्यापार में नहीं है। उसके पास ज्ञान है, इसीलिए वह समझता था कि वह जगत् के एक विशेष घर में रहता है। किन्तु आज उसका ज्ञान अणु से भी अणुतम व बृहत् से भी बृहत्तम सकल के साथ अपना योग स्थापन करने को प्रवृत्त हुआ है। यह है विज्ञान की साधना।

भारतवर्ष ने जो साधना ग्रहण की है, वह है विश्व-ब्रह्माण्ड के साथ चित्त का योग, आत्मा का योग अर्थात् सम्पूर्ण योग। केवल ज्ञान का योग नहीं, बोध का योग।

"इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तुसः।"

इन्द्रिय गण श्रेष्ठ कहलाते हैं, किन्तु इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ है और मन से बुद्धि श्रेष्ठ है, और बुद्धि से भी श्रेष्ठ वह है।

सकल इन्द्रियाँ श्रेष्ठ क्यों कहलाती हैं? इसलिए कि इन्द्रियों द्वारा हमारा विश्व के साथ योग-साधन होता है। किन्तु वह योग आंशिक है। इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ है, क्योंकि मन द्वारा जो ज्ञानमय योग मिलता है, वह व्यापकतर है। किन्तु ज्ञान के योग से भी सम्पूर्ण विच्छेद दूर नहीं होता। मन से बुद्धि श्रेष्ठ है, क्योंकि बोध द्वारा जो चैतन्यमय योग होता है, वह बिलकुल परिपूर्ण है। उसी योग द्वारा समस्त जगत् के बीच हम उनकी उपलब्धि करते हैं, जो सकल वस्तुओं से श्रेष्ठ हैं।

इन सकल से श्रेष्ठ को सकल में बोध द्वारा अनुभव करना भारतवर्ष की साधना है।

अतएव, यदि हम मन में विचार करें कि भारतवर्ष की इस साधना

में ही दीक्षित करना भारतवासियों की शिक्षा का प्रधान लक्ष्य होना उचित है, तो यह धारणा दृढ़ करनी होगी कि वह केवल इन्द्रियों की शिक्षा नहीं, केवल ज्ञान की शिक्षा नहीं, बोध की शिक्षा को अपने विद्यालयों में प्रधान स्थान देना होगा। अर्थात् केवल कारखानों की दक्षता में शिक्षा नहीं, स्कूल-कालेजों की परीक्षा पास करना ही नहीं, हमारी यथार्थ शिक्षा तो तपोवन में है—प्रकृति के साथ मिलित होकर, तपस्या द्वारा पवित्र होकर।

हमारे स्कूल-कालेजों में भी तपस्या होती है, किन्तु वह मन की तपस्या है, बोध की तपस्या नहीं।

ज्ञान की तपस्या में मन को बाधा-मुक्त करना पड़ता है। जो सकल संस्कार हमारे मन की धारणा को एक ओर झुकाकर रखते हैं, उन्हें क्रम-क्रम से परिष्कार कर देना पड़ता है। जो निकट है इसलिए बड़ा और दूर है इसलिए छोटा, जो बाहर है इसीलिए प्रत्यक्ष एवं भीतर है इसलिए प्रच्छन्न, जो विच्छिन्न करके देखने से निरर्थक और संयुक्त करके देखने से ही सार्थक—उसकी सामर्थ्य की रक्षा करके देखने की शिक्षा आवश्यक है।

बोध की तपस्या की बाधा रिपु की बाधा के समान है। प्रवृत्ति असंयत हो जाने से चित्त में साम्य नहीं रह जाता, सुतरां बोध में विकृति उत्पन्न हो जाती है। कामना की वस्तु में हमें श्रेय दिखाई देता है—उसमें सचमुच श्रेय नहीं है—उसमें हमारी कामना जो है इसलिए। लोभ की वस्तु को हम बड़ा मानते हैं—वह भी सचमुच में बड़ी नहीं, किन्तु हमारा लोभ उसमें है इसलिए है।

इसलिए ब्रह्मचर्य संयम द्वारा बोध-शक्ति को बाधा-मुक्त करने की शिक्षा देना आवश्यक है। भोग-विलास के आकर्षण से अपने अभ्यास को मुक्ति दिलानी होगी, जो समस्त सामयिक उत्तेजना लोक-चित्त को क्षुब्ध एवं विचार-बुद्धि को सामञ्जस्य-भ्रष्ट कर देती है, उसके धक्के से बचाकर, बुद्धि को सरल बनाकर बढ़ने दें।

जहाँ साधना चलती है, जहाँ जीवन-यात्रा सरल व निर्मल है, जहाँ सामाजिक संस्कार की संकीर्णता नहीं है, जहाँ व्यक्तिगत, जातिगत, विरोध-बुद्धि को दमन करने की चेष्टा है, वहाँ ही भारतवर्ष जिसे विशेष भाव से विद्या कहता है उसे प्राप्त करने का स्थान है।

मैं जानता हूँ, अनेक लोग कह उठेंगे कि यह एक भावुकता का उच्छ्वास है, काण्ड-ज्ञान-विहीन की एक दुराशा-मात्र है। किन्तु मैं इसे कभी स्वीकार नहीं कर सकता। जो सत्य असाध्य हो वह तो सत्य हो ही नहीं सकता। अवश्य जो सकल वस्तुओं से श्रेष्ठ है वह सकल से सुलभ अवश्य नहीं है, इसीलिए उसके लिए साधना करनी पड़ती है। वास्तव में प्रथम तो सत्य के प्रति श्रद्धा करना ही कठिन है। पैसा कमाना है, यह विश्वास जब ठीक तरह मन में जम जाय तो फिर यह हम आपत्ति नहीं करते कि पैसा कमाना कठिन है। उसी प्रकार से भारतवर्ष ने विद्या के लिए निश्चय रूप से जब श्रद्धा की थी तब विद्या-लाभ करने की साधना को असाध्य कहकर हँसी में नहीं उड़ा दिया था।

अतएव, प्रथमतः देश के इस सत्य के प्रति देश के लोगों में श्रद्धा यदि जन्म ले तो दुर्गम बाधा में होकर उसका पथ अपने-आप प्रशस्त हो जायगा।

वर्तमान काल में भी इस देश में तपस्या का वही स्थान है—इस प्रकार के विद्यालय अनेक हो सकेंगे ऐसी आशा मुझे नहीं है, किन्तु हम जब विशेष भाव से जातीय विद्यालय की प्रतिष्ठा करने के लिए सम्प्रति जाग्रत हो उठे हैं, तो भारतवर्ष के विद्यालय जैसे होने उचित हैं अन्ततः उसके एकमात्र आदर्श को देश के नाना चांचल्य, नाना विरुद्ध भावों के आन्दोलन के ऊर्ध्व जाग्रत हो जाने की आवश्यकता है।

नेशनल विद्या की शिक्षा का अर्थ जो यूरोप समझता है हम भी यदि वही समझें तो ऐसा समझना हमारी नितान्त भूल है। हमारे देश के कितने ही संस्कार हैं, कितने ही लोकाचार हैं, इनके द्वारा सीमाबद्ध करके अपने स्वजाति-अभिमान को अति उग्र बनाकर दिखाने के उपाय को मैं

किमी प्रकार नेशनल शिक्षा की गणना में नहीं रख सकता। जातीयता की पूजा हम परम पदार्थ की पूजा नहीं मानते—यही है हमारी जातीयता है—"भूमैव सुखं, नान्येमुखमस्ति, भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः" यह हमारी जातीयता का मन्त्र है।

प्राचीन भारत के तपोवन में जो महासाधना की वनस्पति एक दिन मस्तक ऊँचा किये थी एवं सर्वत्र अपनी शाखा प्रशाखा विस्तार करके समाज के नाना अंगों पर अधिकार जमा हुए थी हमारी नेशनल साधना। वही थी योग साधना। योगसाधना कोई उत्कट शारीरिक या मानसिक व्यायाम चर्चा नहीं है। योग साधना के माने हैं समस्त जीवन को इस भाव में चलाना जिसमें स्वातन्त्र्य द्वारा विक्रमशाली हो उठना ही हमारा लक्ष्य न हो, मिलन के द्वारा परिपूर्ण हो जाने को ही हम चरम परिणाम अनुभव करें—ऐश्वर्य को संचित करना ही नहीं, आत्मा को सत्य में उपलब्ध करना ही सफलता मानें।

बहु प्राचीन काल में एक दिन अरण्य-संकुल भारतवर्ष में हमारे आर्य पितामह ने प्रवेश किया था। आधुनिक इतिहास में भी यूरोपीय दल ने ठीक उसी तरह नूतन-आविष्कृत महाद्वीप के अरण्य में पथ-उद्घाटन किया है। उनमें साहसिक लोगों ने अग्रगामी होकर अपरिचित सकल भूखण्ड को अनुवर्ती दल के लिए अनुकूल बना दिया। हमारे देश में भी अगस्त्य आदि ऋषि अग्रगामी थे। उन्होंने अपरिचित दुर्गमता की बाधा अतिक्रम करके गहन अरण्य को वासोपयोगी बनाया था। पूर्वतन अधिवासियों के साथ जिस प्रकार प्राणपण युद्ध उस समय हुआ था, अब भी वैसा ही हुआ। इन दोनों घटनाओं की धारा यद्यपि ठीक एक ही अवस्था में होकर प्रवाहित हुई, फिर भी एक समुद्र में आकर दोनों नहीं मिलीं।

अमेरिका के अरण्य में जो तपस्या हुई, उसके प्रभाव से वन के बीच बड़े-बड़े शहर इन्द्रजाल के समान उठ खड़े हुए। यह नहीं कि भारतवर्ष में वैसे शहरों की सृष्टि नहीं हुई, किन्तु भारतवर्ष में साथ-ही-

साथ अरण्य को भी अंगीकार कर लिया था। अरण्य भारतवर्ष में विलुप्त नहीं हुआ, भारतवर्ष में वह सार्थक हुआ। जो पहले बर्बरों का आवास था वह बाद में तपोवन बन गया। अमेरिका में जो अरण्य अब अवशिष्ट है वह आज अमेरिका के प्रयोजन की सामग्री; वह उनके भोग की वस्तु अवश्य है किन्तु योग के आश्रम नहीं। भूमा की उपलब्धि द्वारा यह अरण्य पुण्य स्थान नही बन सके। मनुष्य की श्रेष्ठतर अन्तरतर प्रकृति के साथ इस अरण्य की प्रकृति का पुण्य-मिलन स्थापित नहीं हुआ। अरण्य को नव्य अमेरिका ने अपनी कोई बड़ी वस्तु नहीं दी, अरण्य ने भी उसे अपने बड़े परिचय से वंचित रखा। नूतन अमेरिका ने जिस प्रकार पुरातन अधिवासियों को लुप्तप्राय ही कर दिया, अपने साथ युक्त नहीं किया, उसी प्रकार अरण्यों को भी अपनी सभ्यता के बाहर फेंक दिया, अपने साथ सम्मिलित नहीं किया। अमेरिका की सभ्यता का नगर नगरी ही प्रकृष्ट निदर्शन है, नगर-स्थापना द्वारा ही मनुष्य ने अपनी स्वतन्त्रता के प्रताप को अभ्र-भेदी बनाकर प्रचार किया है। किन्तु तपोवन भारतवर्ष की सभ्यता के चरम निदर्शन रहे हैं, इस वन में ही मनुष्य ने निखिल प्रकृति के साथ आत्मा के मिलन को शान्त-समाहित भाव में उपलब्ध किया है।

कोई यह न समझे कि भारतवर्ष की इस साधना को मैं एकमात्र साधना समझकर प्रचार करने की इच्छा करता हूँ। वरंच मैं यही बात जताना चाहता हूँ कि मनुष्य के वैचित्र्य की सीमा नहीं। वह ताड़ वृक्ष के समान एकमात्र ऋजुरेखा (सीधा) आकाश की ओर नहीं उठाता, वह बट वृक्ष के समान असंख्य डाल पत्तियों द्वारा अपने को चारों ओर विस्तीर्ण कर देता है। उसकी जो शाखा जिधर भी सहज से फैल सकती है उसे वह सम्पूर्ण भाव में जाने देता है और समग्र वृक्ष परिपूर्णता लाभ करता है, सुतरां सकल शाखाओं का उसमें मंगल है।

मनुष्य का इतिहास जीव धर्मी है। वह निगूढ़ प्राण-शक्ति से ऊपर उठ गया है। वह लोहा-पीतल की तरह ढालने की वस्तु नहीं है।

बाजार में किसी विशेष काल में, किसी विशेष सभ्यता का मूल्य अत्यन्त बढ़ गया है। इसलिए समस्त मानव-समाज को एक ही कारखाने में ढालकर फैशन के वशवर्ती मूढ़ खरीदार को खुश करने की दुराशा एकदम वृथा है।

छोटा पैर सौन्दर्य वा आभिजात्य का लक्षण मानकर चीन की स्त्रियों को, कृत्रिम उपाय से संकुचित करके, छोटा पैर नहीं मिला, विकृत पैर मिला। भारतवर्ष भी जबरदस्ती अपने को यूरोप के आदर्श के अनुगत करके प्रकृत यूरोप नहीं बन जायगा, विकृत भारत-मात्र रह जायगा।

यह बात दृढ़ रूप से मन में रखनी होगी कि एक जाति के साथ दूसरी जाति का अनुकरण-अनुसरण सम्बन्ध नहीं है, आदान-प्रदान का सम्बन्ध है। मुझे जिस वस्तु का अभाव नहीं, तुम्हारे पास भी यदि ठीक वही वस्तु हो तो तुम्हारा और मेरा अदल-बदल व्यवहार नहीं चल सकता, यदि ऐसा हो तो मेरा तुम्हें समकक्षभाव में रखने का कोई प्रयोजन नहीं। भारतवर्ष यदि सच्चा भारतवर्ष नहीं बन सके तो दूसरों के बाजार में उसे मजदूरी करने को छोड़ पृथिवी पर और क्या प्रयोजन रह जायगा। ऐसा होने से उसको अपने प्रति जो सम्मान-बोध होता है वह चला जायगा एवं जो निजी आनन्द है वह भी जाता रहेगा।

इसीलिए आज हमें अवहित (सावधान) होकर विचार करना होगा कि वह सत्य जिसको भारतवर्ष निश्चय-रूप से अपने-आप लाभ कर सकता है, वह सत्य क्या है। वह सत्य वणिग्वृत्ति नहीं है, स्वराज्य भी नहीं, स्वादेशिक भी नहीं, वह सत्य है विश्व जागतिकता। यह सत्य भारतवष के तपोवन में साधित हुआ, उपनिषद् में उच्चारित हुआ, गीत में व्याख्यात हुआ। बुद्ध देव ने उस सत्य को पृथिवी पर सर्व-मानव के नित्य व्यवहार में सफल करके दिखाने के लिए तपस्या की थी। एवं कालक्रम में नानाविध की दुर्गति और विकृति में भी कबीर तथा नानक प्रभृति भारतवर्ष के परवर्ती महापुरुष उस सत्य

का प्रचार कर गए। भारतवर्ष का सत्य है ज्ञान में अद्वैततत्त्व, भाव में विश्व-मैत्री, कर्म में योग-साधना। भारतवर्ष के अन्तर में जो उदार तपस्या गम्भीर भाव में संचित है, वही तपस्या आज हिन्दू-मुसलमान, बौद्ध एवं अंग्रेज को अपने में एक करके समा लेने की प्रतीक्षा में है— दास-भाव में नहीं, जड़-भाव में नहीं, सात्विक भाव में, साधना भाव में। जितने दिन तक यह न कर सकेंगे उतने दिन हमें दुःख उठाना ही पड़ेगा, अपमान सहना ही पड़ेगा। उतने दिन अनेक दिशाओं का हमारा प्रयास व्यर्थ होता रहेगा—ब्रह्मचर्य, ब्रह्मज्ञान, सर्व जीव दया, सर्व भूते आत्मोपलब्धि। एक दिन इस भारत की केवल काव्य-कथा, केवल मतवाद ही नहीं था, प्रत्येक के जीवन में इसको सत्य कर देने के लिए अनुशासन था। उस अनुशासन को आज हम यदि विस्मृत न कर दें, अपनी समस्त शिक्षा-दीक्षा को उस अनुशासन के अनुगत यदि करें, तब ही हमारी आत्मा विराट् में अपनी स्वाधीनता लाभ करेगी एवं कोई सामयिक बाह्य अवस्था हमारी उस स्वाधीनता को विलुप्त नहीं कर सकेगी।

प्रबलता में सम्पूर्णता का आदर्श नहीं मिलता। समग्र का सामञ्जस्य नष्ट करके प्रबलता अपने को स्वतन्त्र करके दिखाती है, इसलिए अपने को बड़ा मानती है, किन्तु असल में होती है क्षुद्र। भारतवर्ष ने इस प्रबलता को नहीं माँगा, उसने चाही थी परिपूर्णता। यह परिपूर्णता चाही थी निखिल के साथ योग में, और यह योग अहंकार को दूर करके, विनम्र होकर। यह विनम्रता एक आध्यात्मिक शक्ति है, जो दुर्बल स्वभाव के लिए अधिगम्य नहीं है। वायु का प्रवाह नित्य शान्ति द्वारा ही आँधी से अधिक शक्तिशाली है। इसीलिए आँधी चिरकाल नहीं ठहर सकती, इसीलिए आँधी केवल संकीर्ण स्थान को ही कुछ काल के लिए क्षुब्ध कर देती है और शान्त वायु का प्रवाह समस्त पृथिवी को नित्यकाल वेष्टन करता है। यथार्थ नम्रता, जो सात्विकता के तेज से उज्ज्वल, जो त्याग व संयम की कठोर शक्ति से दृढ़ प्रतिष्ठित है, वह नम्रता समस्त के संग अबाधयुक्त होकर सत्य-भाव में, नित्य-भाव में समस्त को लाभ

करती है। वह किसी को दूर नहीं करती, विच्छिन्न नहीं करती, आत्मा त्याग द्वारा सकल को अपनाती है। इसीलिए भगवान् ईसा ने कहा था —"जो विनम्र हैं वही पृथिवी पर विजयी होंगे, श्रेष्ठ धन पर अधिकार एकमात्र उनका होगा।"

छुट्टियों के उपरान्त

छुट्टियों के उपरान्त आज फिर हम यहाँ एकत्र हुए हैं। काम करने से जो हम बीच-बीच में अवकाश ले लेते हैं वह कर्म से विच्छिन्न होने के लिए नहीं—कर्म के साथ योग को नवीन रखने का यह उपाय है।

बीच-बीच में कर्म-क्षेत्र से यदि इस प्रकार दूर न चले जायँ तो कर्म का यथार्थ तात्पर्य हमारी समझ में नहीं आता। कर्म में अविश्राम निविष्ट रहकर कर्म अतिशय एकान्त प्रतीत होता है। कर्म फिर मकड़ी के जाले के समान हमें चारों ओर से इस प्रकार आच्छन्न कर लेता है कि उसका प्रकृत उद्देश्य समझने की हमारी सामर्थ्य ही जाती रहती है। इसलिए अभ्यस्त-कर्म को पुनराय (दुबारा) नूतन करके देखने का सुयोग लाभ कर सकेंगे, इसीलिए कभी-कभी कर्म से हम दूर हो जाते हैं। क्लान्त शक्ति को विश्राम देना ही केवल-मात्र उसका उद्देश्य नहीं है।

हमें केवल कर्म ही नहीं देखना है, कर्ता को भी देखना है। केवल अग्नि के प्रखर ताप व इञ्जिन के कठोर शब्द में ही हम संसार रूपी कारखाने के मज़दूर के समान सर्वांग में कालौस लगाये दिन नहीं काट देंगे। एक बार दिनान्त होने पर स्नान करके, कपड़े बदलकर, कारखाने के मालिक से यदि मिल सकें तो उनके साथ अपने कार्य का योग-निर्णय करके कल (मशीन) के एकाधिपत्य के हाथ से बच सकते हैं, तभी कार्य करने में हमारा आनन्द जन्मता है, नहीं तो कल का पहिया चलाते-चलाते हम भी कल में ही शामिल हो जाते हैं।

आज छुट्टी शेष होने पर हम फिर अपने कर्म-क्षेत्र में आकर पहुँच गए हैं। इस बार क्या हम एक दूसरी नई दृष्टि से कर्म को नहीं देख रहे

हैं ? इस कर्म का मर्मगत सत्य अभ्यासवश हमारे लिए म्लान हो चला था, उसे पुनः उज्ज्वल रूप में देखकर क्या आनन्द का बोध नहीं हो रहा है ?

यह आनन्द किस लिए ? क्या इसे सफलता की मूर्ति प्रत्यक्ष दीख रही है ? क्या यह सोचता है कि जो चाहते थे वह प्राप्त हो गया ? यह आनन्द क्या हमारी आत्म-कीर्ति के गर्वानुभव का आनन्द है ?

नहीं। कर्म को चरम जानकर, उसमें डूबे रहकर, मनुष्य कर्म को लेकर आत्म-शक्ति का गर्व प्राप्त करता है। किन्तु कर्म के भीतरी सत्य को जब हम देखते हैं तब कर्म से कई गुनी बड़ी वस्तु दिखाई देती है। उस समय जिस प्रकार हमारा सब अहंकार दूर हो जाता है, सम्भ्रमवश हमारा माथा नत हो जाता है, उसी प्रकार दूसरी ओर हमारा वक्ष विस्फारित हो उठता है। उस समय फिर हम अपने आनन्दमय प्रभु को देख सकते हैं, केवल लोहमय कल के आस्फालन (आत्म-श्लाघा या गौरव) को नहीं।

यहाँ इस विद्यालय में एक मंगल-चेष्टा है। किन्तु क्या वह केवल मंगल कल-मात्र है ? केवल नियम-रचना एवं नियम में चलना, केवल भाषा-शिक्षा, अंक-गणना, कट मरना और मारना ? केवल एक बड़ा-सा स्कूल बनाकर सोचना—खूब एक फल मिला ? यह सब नहीं।

इस चेष्टा को बड़ा मानना, इस चेष्टा के फल को ही बड़ा फल मानकर गर्व करना नितान्त धोखा है। मंगल के अनुष्ठान में मंगल-फल का लाभ होता है इसमें सन्देह नहीं, किन्तु यह फल गौण-मात्र है। असली बात यह है कि मंगल-कर्म में मंगलमय का आविर्भाव हमें प्रत्यक्ष हो जाता है। यदि ठीक जगह दृष्टि उठाकर देखें तो मंगल कर्म के उपरान्त विश्व-मंगल दिखाई देगा। मंगल-अनुष्ठान की चरम सार्थकता यही है। मंगल-कर्म, उसी विश्व-कर्मा को, सत्यरूप में देखने की एक साधना है। आलसी को वह नहीं दिखाई देता। जो निरुद्यमी हैं, उनके चित्त से उनका प्रकाश छिपा हुआ है। इसीलिए कर्म, केवल कर्म में कर्म का

गौरव नहीं रह सकता।

यदि हमें यह विश्वास हो कि कर्म उन कल्याणमय विश्वकर्मा को प्राप्त करने की एक साधना है, तो कर्म में जो-कुछ अभाव, विघ्न, प्रतिकूलता हों, वे हमें हताश नहीं कर सकते, क्योंकि विघ्न को अतिक्रमण करना ही हमारी साधना का एक अंग है। विघ्न न रहने से तो हमारी साधना असम्पूर्ण रह जाती है। फिर प्रतिकूलता को देखकर हम व्याकुल नहीं हो उठते हैं, क्योंकि कर्म-फल से भी बड़ा एक फल है। 'प्रतिकूलता के संग संग्राम करके हम कृतार्थ हो जायँगे' मानकर कमर कसने से खाली काम नहीं बनेगा, वस्तुतः कृतकार्य होंगे कि नहीं इसका पता नहीं—किन्तु प्रतिकूलता के संग संग्राम करके हमारे अन्तर की बाधा क्षय होती है, उसके द्वारा हमारा तेज भस्मयुक्त होकर, क्रमशः दीप्यमान होकर एवं उस दीप्ति में ही जो विश्व-प्रकाश है हमारे चित्त पर उनका प्रकाश उन्मुक्त होता रहता है। जिस कर्म में बाधा है, आनन्दित होओ। जिस कर्म को आरम्भ करने में तुम्हें नाना दिशाओं मे आघात सहने पड़ें एवं जिसकी तुम कल्पना करते हो उसको बारम्बार पराभूत होना पड़े, उससे आनन्दित होओ। यदि लोग तुम्हें गलत समझें और अपमानित करें, आनन्दित होओ। जिस वेतन को पाने के लिए तुम लोभ में बैठे प्रतीक्षा कर रहे थे, उससे यदि बारम्बार वंचित होओ तो आनन्दित होओ। क्योंकि वही तो साधना है। जो व्यक्ति अग्नि जलाना चाहे उस व्यक्ति का काठ जल रहा है, समझकर दुःख करने से काम क्या चलेगा? जो कृपण केवल शुष्क काठ स्तूपाकार करके रखना चाहे उसकी बात ही छोड़ो। इसलिए छुट्टियों के उपरान्त कर्म के समस्त बाधा-विघ्न, समस्त अभाव, असम्पूर्णता में आज आनन्द के साथ प्रवेश करते हैं। किसको देखकर? जो कर्म के ऊपर हो चुके हैं उन्हें देखकर।

उनकी ओर देखने से कर्म का बल बढ़ जाता है अथच उग्रता जाती रहती है। चेष्टा का चेष्टा-रूप जाता रहता है। उसकी शान्त-मूर्ति व्यक्त हो जाती है। कर्म करते-करते शुद्धता आती रहती है। भरे ज्वार के

जल की भाँति समस्त थम्-थम् शब्द होता रहता है। चिल्ल-पुकार, शोर-गुल, घोषणा एकदम समाप्त हो जाते हैं। चिन्ता में, वाक्य में, कर्म में, कुछ भी असामञ्जस्य नहीं रह जाता। शक्ति फिर अपने-आपको छिपाकर सुन्दर हो जाती है, जैसी सुन्दर आज सन्ध्याकाश की नक्षत्र-मण्डली है। उसका प्रचण्ड तेज, उसकी तीव्र गति, उसका भयंकर उद्यम, कैसी परिपूर्ण शान्ति की छवि विस्तृत करके कैसी कमनीय हँसी हँस रहे हैं! हम भी अपने कर्म के आसन से परम शक्ति के उस शान्तिमय महा-सुन्दर रूप को देखकर अपनी उद्धत चेष्टा को प्रशान्त कर देंगे। कर्म के उदग्र (उद्धत) आक्षेप को सौन्दर्य में मण्डित करके आच्छन्न कर देंगे। हमारा कर्म मधु द्यौः, मधुनक्तम्, मधुमत् पार्थिवं रजः, इन समस्त के साथ मिलकर मधुमय हो जायगा।

वर्तमान युग

मैंने पहले भी यह आप लोगों से कहा था—आपका इस काल में जन्म हुआ, यह आपके पक्ष में परम सौभाग्य का विषय है। आपको मालूम नहीं कि यह काल कितना बड़ा काल है, इसके अभ्यन्तर में क्या प्रच्छन्न है। हजार-हजार शताब्दियों से पृथ्वी पर ऐसी शताब्दी बहुत अल्प ही आई है। केवल हमारे देश में ही नहीं, पृथ्वी-भर में एक उत्ताल तरंग उठ रही है। विश्व-मानव-प्रकृति में एक चांचल्य का प्रकाश हो रहा है। आज सब जाग्रत हैं—पुरातन-जीर्ण संस्कार त्यागने के लिए, सकल प्रकार के अन्याय चूर्ण करने के लिए। मानव-मात्र उठने लगा है—नूतन भाव में जीवन की, देश की रचना करने लिए। वसन्त आने पर वृक्ष जिस प्रकार अपनी देह से शुष्क पत्र गिराकर नव-पल्लव से सज उठता है, मानव-प्रकृति की कोई एक प्राणपूर्ण हवा ठीक उसी प्रकार सज उठने को व्याकुल है। मानव-प्रकृति को पूर्णता का आस्वाद प्राप्त हुआ है, इससे अब किसी प्रकार भी बाह्य शक्ति द्वारा दबाकर छोटा करके रखने से काम नहीं चलेगा।

असल वस्तु सहसा हमारे सामने दिखाई नहीं पड़ती। अनेक समय तो हम उसका अस्तित्व तक अस्वीकार करते हैं। आज हम चारों ओर देखते हैं कि एक तुमुल आन्दोलन उपस्थित है, उसे हम पॉलिटिक्स कहते हैं। उसे हम कितना भी महान् क्यों न समझें, यह है नितान्त बाहर की वस्तु। हमारी आत्मा को जागरित करना किसी प्रकार भी यदि सत्य है, तो वह धर्म छोड़ और किसी से नहीं हो सकता। धर्म की मूल-शक्ति प्रच्छन्न काम करती है, इसलिए इन आँखों को वह नहीं दिखाई देती। पॉलिटिक्स का चाञ्चल्य ही हमारे चित्त को आकर्षित करता है। हम ऊपरी तरंग को ही देखते रहते हैं, भीतरी स्रोत को नहीं देखते। किन्तु वस्तुत: भगवान् ने जिस मानव-समाज को धर्म में होकर एक महान् जाग्रति दी है, यह तो विंश शताब्दी की बात है। विश्वास करो, अनुभव करो, उत्तर-दक्षिण-पूर्व-पश्चिम समस्त विश्व में होकर इस धर्म की विद्युत्-शक्ति संचारित हो रही है। पृथ्वी पर जो कोई भी आज तापस-साधना में प्रवृत्त हैं, उनके लिए इससे और अधिक अनुकूल समय नहीं आएगा। क्या तुम्हारे लिए आज निश्चेष्ट बैठने का दिन है? क्या तन्द्रा दूर नहीं होगी? आकाश से जब वर्षा होती है, छोटे-बड़े जितने भी गढ़े हैं सब जलपूर्ण हो जाते हैं। पृथ्वी पर जहाँ भी कोई मंगल का आधार पूर्व से प्रस्तुत है वह कल्याण से परिपूर्ण हो जायगा। सार्थकता आज सहज हो गई है, ऐसे सुयोग को व्यर्थ न जाने देना। आप आश्रमवासी लोग इस शुभयोग में आश्रम को सार्थक बना दो। प्रस्तर के ऊपर से जल-स्रोत जिस प्रकार बह जाता है, वहाँ ठहरने का कोई स्थान नहीं पाता, हमारे हृदय के ऊपर से यह प्रवाह कहीं वैसे ही निकल न जाय। ईश्वर का प्रसाद-स्रोत आज पृथ्वी के ऊपर होकर विशेष भाव में प्रवाहित होने के समय वहाँ आकर जैसे भँवर खाकर खड़ा हो गया है। समस्त आश्रम उससे परिपूर्ण हो गया है। केवल हमारा यह क्षुद्र आश्रम ही क्यों, पृथ्वी पर जो भी छोटे-बड़े साधना के क्षेत्र हैं, इस मंगल-वारि से पूर्ण हो जायँ। आश्रम में वास

करते हुए आज जीवन को व्यर्थ मत होने देना। यहाँ क्या केवल तुच्छ बातों में पड़ने, हिंसा-द्वेष में होकर क्षुद्र-क्षुद्र स्वार्थ लिये दिन काटने आये हो ? केवल पढ़ाई याद करके, परीक्षा पास करके, फुटबाल खेलकर ही इतना बड़ा एक जीवन क्या निःशेष कर दोगे ? कभी नहीं—ऐसा नहीं हो सकता। यह युग-धर्म तुम्हारे प्राण को स्पर्श करे। तपस्या से तुम्हारा सौन्दर्य फूट निकले। तुम्हारा आश्रमवास सार्थक हो जाय। यदि तुम मनुष्यत्व की साधना प्राणपण से सँभालकर न रखो, केवल खेल-कूद, पढ़ाई-लिखाई में ही जीवन व्यतीत कर दो, यह जो अपराध तुम करोगे इसकी फिर मार्जना (प्रायश्चित्त) नहीं, क्योंकि तुम आश्रम-वासी हो।

फिर कहता हूँ, तुम किस युग में पृथ्वी पर आये हो, अच्छी तरह उसको मन में विचार कर लो। वर्तमान काल की एक सुविधा यह है कि विश्व में जो चांचल्य उठा है वह एक ही समय में सकल देश के लोग अनुभव कर रहे हैं। पहले एक स्थान में तरंग उठती थी, अन्य स्थान के लोगों को उसकी कोई खबर नहीं मिलती थी। प्रत्येक देश स्वतन्त्र था। एक देश की खबर दूसरे देश में पहुंचने का उपाय नहीं था। आज वह बात नहीं। देश के किसी स्थान पर आघात होकर जो तरंग उठती है, वह केवल देश में नहीं समस्त पृथ्वी पर तीर की तरह चल पड़ती है। आज हम सब एक होकर खड़े हैं। कितनी दिशाओं से हमें बल प्राप्त होता है, सत्य को ग्रहण करने के लिए जो महानिर्यातन आवश्यक है उसे अनायास सह लेते हैं, नाना दिक् से आये हुए दृष्टान्त और समवेदना योग देते हैं—यह क्या कम बात है ? अपने को असहाय होने का बोध नहीं होता, यही तो महा सुयोग है। ऐसे समय आश्रम-वास के सुयोग को मत खो देना। यदि तुम्हारा जीवन व्यर्थ हो जाय तो आश्रम का कुछ आता-जाता नहीं—क्षति तुम्हारी ही होती है।

वृक्ष पर बौर आता है। सकल बौर पर फल आ जाते हों ऐसा नहीं होता। कितने ही झर जाते हैं, फिर भी फल का अभाव नहीं होता।

डाल भरकर फल लगते हैं। फल हो न हो, वृक्ष को दुःख नहीं, दुःख हुआ बौर को, वह फल में परिणत जो नहीं हो सके।

यह आश्रम जब प्रस्तुत हो रहा था, वृक्ष जब धीरे-धीरे आलोक की ओर शिखा उठा रहे थे, उस समय भी इस नूतन युग का कोई संवाद आकर नहीं पहुंचा था। अज्ञातसार ही इस आश्रम के ऋषि, इस युग के लिए आश्रम के रचना-कार्य में नियुक्त थे, उस समय विश्व-मन्दिर का द्वार उद्घाटित नहीं हुआ था। विंश शताब्दी के लिए विश्व-देवता ने कैसा गोपन-गोपन (चुपके) एक विपुल आयोजन किया था, उसका लेश-मात्र भी हमें पता नहीं था। सहसा आज मन्दिर का द्वार उद्घाटित हो गया—हमारा कैसा परम सौभाग्य है, आज विश्व-देवता का दर्शन करना ही होगा, अंधे होकर लौट जाने से काम नहीं चलेगा। आज प्रकाण्ड उत्सव है, यह उत्सव एक दिन का नहीं, दो दिन का नहीं, शताब्दी-व्यापी है। यह उत्सव किसी विशेष स्थान का नहीं, किसी विशेष जाति का भी नहीं। यह उत्सव समस्त, समग्र मानव-जाति का जगद्व्यापी उत्सव है। आओ, हम सब एकाग्र हो जायँ, और बाहर निकल पड़ें। देश में किसी राजा का आगमन होता है, उन्हें देखने के लिए जब पथ पर बाहर आ जाते हैं, उस समय मलीन व जीर्ण वस्त्र को त्याग देते हैं, तब नवीन वस्त्र से देह को सजाते हैं। आज देश का राजा नहीं, समग्र जगत् का राजा आकर सम्मुख खड़ा हुआ है। उद्धत मस्तक को नत कर दो। समस्त वर्ष की संचित आवर्जना दूर कर दो। मन को शुभ्र कर दो। शान्त हो जाओ, पवित्र हो जाओ। उनके चरणों में प्रणाम करके घर जाओ। वह तुम्हारे सिर पर आशीर्वाद उँडेल दें—तुम्हारा मंगल हो, मंगल हो, मंगल हो।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ-संख्या	सतर	अशुद्ध	शुद्ध
१७	१५	जागृत	जाग्रत
२१	७	दे-ओ	देओ
२३	१०	मण्डार	भण्डार
२७	१६	पर	और
३६	८	पूर्वरूपेण	पूर्णरूपेण
६४	४	के	का
६५	२२	ज्योतिमय	ज्योतिष्क
६६	८	हृदय जैसे अव्यवहित	हृदय अव्यवहित
६६	१	वियम	नियम
७५	११	'अ	अर्थ
७६	२२	बराभय	वराभय
७६	१०	रई	गई
,,	१२	मुहूर्तसे	मुहूर्त
८२	२	जो असामञ्जस्य, जो	असामञ्जस्य को
,,	३	उसका	जिसका
६१	२३	बही	वही
६६	११	नाल्ये	नाल्पे
११६	५	पाए	पाते
१२८	१६	षरिमाण	परिमाण
१३४	७	तुमा	तुम
,,	१२	भाँति	भाति

पृष्ठ-संख्या	सतर	अशुद्ध	शुद्ध
१३६	६	पढ़े	पड़े
१४०	१०	ब्रह्माणि	ब्रह्माणि
,,	१३	अशान्त	अश्रान्त
१४३	'१	आत्मक्रीडा	आत्मक्रीड
१५१	१७	अधीर	अधीन
१६०	२५	तथ्योअर्थान्	तथ्योऽर्थान्
१६३	११	में	से
१६७	१७	दे	कर
१७०	१	स	उस
,,	६	यामिनी	गामिनी
१८७	१७	तब	तव
१८८	८	संकार्ग	संकीर्ण
,,	१०	प्रम	प्रेम
१९०	१४	अपने	अपने
१९१	१२	हुआ	होता है
१९३	५	निवात	निर्वात
१९४	४	अथनाय	अयनाय
१९५	३	तुम्हरी	तुम्हारी ही
१९९	१६	व्यवधान परस्पर रार	व्यवधान-परस्परार
२०६	१३	होता है	होती है
२१२	१,	सुखमत्तता	सुख, मत्तता
२१५	११	हो प्रसन्न ?	हे प्रसन्न रूप !
२२६	१६	हमे	हममे
२३०	२२	कलिकी	कलिका
२३१	११	हुआ	हुआ
२४३	८.	अनन्त	अन्तत

पृष्ठ-संख्या	सतर	अशुद्ध	शुद्ध
२५०	१३	कंगाल चीज	कंगाल सब चीज
२६७	१६	भट्टानि	मट्टानि
२७१	२०	अनमिमानी	अनभिमानी
,,	२५	मरण	भरण
२७२	१५	मञ्जेथ	मज्जेथ
,,	१६	द्रुक्ख	दुक्ख
२८६	१७	ज्ञेय	ज्ञेयं
२६६	१४	है, मनुष्य…नही। साज्ञन	है। मनुष्य नही, सज्ञान
,,	२०	नाल्ये	नाल्पे
३००	१४	के	को
३०७	५	ने	मे
,,	१७	को	का
३०८	४	के अनन्त	के वह अनन्त
३०६	१२	धिपो	धियो
३१४	१६	उनविश्राम	अविश्राम
३१५	७	विस्मण	विस्मरण
३१६	२७	भयस्कराय	मयस्कराय
३१८	२४	वस्तु होगी	वस्तु न होगी
,,	२४	भीतर	भीतरी
३१६	२४	से मिलन	से अभी मिलन
३२१	१	की	को
३२८	२	आरोग	अरोग
३३६	२४	रूपमृमृतं	रूपममृतं
३४५	८	एक अनेक	अनेक
३४७	२०	ईषाणां	ईशानं
३४८	११	आर	ओर

पृष्ठ-संख्या	सतर	अशुद्ध	शुद्ध
३४९	६	द्वारा उनके	द्वारा उसने उनके
,,	१०	सप्तवर्ण	सप्तपर्ण
,,	१२	हागी	होगी
३५०	१०	लगे	लेंगे
,,	२४	इषाणां	ईशानं
,,	१९	कुहेलिका	कूहेलिका
३५४	४	जब कि शक्ति	जब शक्ति
,,	१०	प्रस्रावन	प्रस्रवण
३५६	२	सम्पदापूर्ण	सम्पदपूर्ण
,,	२	प्रस्रव	प्रस्रवण
३५७	३	हिंस्र हिंसक	हिंसक
३५८	२१	चित्र	चित्त
३६०	२६	कुवकुट	कुक्कुट
३७२	१८	सुतीर्थी	सुतीर्था
३७४	९/१०	of worn	or worm
,,	१५	जगत	जगत्
,,	१६	जाना	जानो
३७८	१४	मे एसी नहीं	मे नहीं
३८२	३	नान्ये	नाल्पे
,,	७	थी हमार	थी वह थी हमारी
३८३	२१	आार	ओर
३८५	९	आत्मोपलब्धि । एकदिन	आत्मोपलब्धि, एक दिन